॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

९०

॥ श्रीः ॥

विविधार्थ

लेखक

'भारतरत्न' डा० भगवान्दास

एम० ए०, डि० लिट्

(संशोधित परिष्कृत द्वितीय संस्करण)

401.3954
Bha

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

१९६५

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

भूमिका

(लेखक : "भारतरत्न" डॉ० भगवान्दास, काशी)

तिथि २०-४-१९५२ का छपा तथा हस्तलिखित विस्तृत पत्र, श्री गजानन शर्माजी के हस्ताक्षर से, मुझे तिथि २४-४-१९५२ को मिला। उससे विदित हुआ कि भारत में विख्यात, वैद्यरत्न, भिषगग्रणी श्री यादवजी त्रिकमजी (त्रिविक्रम) जी आचार्य के ७० वर्ष पूरे होकर ७१ वें मे प्रवेश करने पर, भारत के अन्य प्रमुख आयुर्वेदाचार्यों, डाक्टरों, अध्यापकों तथा अन्य सज्जनों ने एक बृहद् अभिनन्दन ग्रन्थ उनको समर्पण करने का निश्चय किया है। यह तो नितान्त उचित ही है; पर इसके साथ श्री गजानन जी ने यह अभिलाषा भी प्रकट की कि मैं (भगवानदास) इस ग्रन्थ की भूमिका लिखूं। मुझे आश्चर्य हुआ; मैंने आयुर्वेद का यथाविधि अध्ययन नहीं किया, "अधीति-बोध-ऽाचरण-प्रचारणैः" के क्रम से, रोगियों की चिकित्सा नहीं की; फिर मुझे ऐसे ग्रन्थ की भूमिका लिखने का क्या अधिकार ? इस शंका का समाधान मैंने अपने मन मे यों किया कि, यद्यपि अन्य रोगियों की चिकित्सा नहीं की, परन्तु स्वयं ८४ (अब सन् १९५७ ई० में ८९) वर्ष के जीवन में बहुवार अस्वस्थ रहा हूँ, और अपनी चिकित्सा वैद्यों से, भारतीय आयुर्वेद के प्रकार से, तथा अपर पाश्चात्य प्रकारों से भी कराई है; एवं अपने पारिवारिकों की भी; इससे मुझे भैषज्य के कई प्रकारों का अनुभव हो गया है, अतः मेरा भी, उस अनुभव के वर्णन के रूप में, भूमिका लिखना अनुचित न होगा !

श्री यादवजी के दर्शन का सौभाग्य, मुझे जहाँ तक स्मरण होता है, प्रायः एक ही बार प्राप्त हुआ है। काशी-विश्वविद्यालय में निखिल भारतीय

वैद्यसम्मेलन हुआ था; सन् १९२३ (वा १९२५ ?) था; श्री यादवजी, और आपके साथ सम्मेलन के कुछ अन्य सदस्य भी काशी-विद्यापीठ मे आये। इस संस्था को दिवंगत श्री शिवप्रसाद गुप्तजी ने स्थापित किया और महात्मा गांधीजी ने इसका आरम्भ, सौर माघ २८, संवत् १९७८ वि० (सन् १९२१ ई०) के दिन, छात्रों को, जनता के बड़े समागम मे, उपदेश देकर, किया था। श्री शिवप्रसादजी के निर्बंध से मैंने अध्यक्ष तथा प्रधानाध्यापक का कार्य करना स्वीकार किया। अतः जिस समय श्री यादवजी काशी विद्यापीठ मे पधारे, मै कुछ छात्रों को, प्राच्य-पाश्चात्य दर्शन का विषय समझाने का यत्न कर रहा था। श्री यादवजी का और मेरा परस्पर परिचय कराया गया, और आयुर्वेदीय दर्शन की कुछ चर्चा भी हुई। मुझे युवावस्था से ही विविध विषयों के ग्रन्थों के पढ़ने का व्यसन था; इसलिये अंग्रेजी के सरल-सरल ग्रन्थ, 'एनाटोमी' (शरीर-रचना का वर्णन) और फ़िज़ियालोजी (काय-व्यूह के अवयवों की क्रियाओं का वर्णन) पढ़ गया था, और जो नये निकलते थे, उनको भी यथावकाश देख लेता था। अपने समय मे काशी के वैद्यों मे अग्रगण्य श्री गोपालदत्तजी तथा श्री अर्जुन मिश्रजी मुझ पर दया करते थे; उनसे आयुर्वेद के विषयों की बात बीच-बीच मे हुआ करती; कुतूहल-शान्ति के लिये, कलकत्ते की छपी, बिना टीका की, मूल सुश्रुत संहिता मै पढ़ गया; बहुतेरे अंश समझ मे नहीं आये; पर सूत्रस्थान और शारीरस्थान के जो अंश समझ मे आये, रोचक हुए। सन् १९३५ ई० मे छपे, श्री यादवजी द्वारा सम्पादित, चक्रपाणि की टीका सहित चरक-संहिता के द्वितीय संस्करण की प्रति, एवं सन् १९३८ में छपे श्री यादवजी द्वारा सम्पादित, डल्हण की टीका सहित सुश्रुत-संहिता के तृतीय संस्करण की प्रति, जब मुझे मिली, तब मैंने दोनों को यथावकाश पढ़ना आरम्भ किया।

श्री यादवजी के लिखे उपोद्घातों से, तथा टिप्पणियों से मुझे विदित

हुआ कि कितना निस्सीम परिश्रम आपने इनके यथोचित सम्पादन के लिये किया है। एवं जितना ही इन प्राचीन संहिताओं को पढ़ता गया, उतना ही उनके रचयिता ऋषियों के गंभीर सर्व-संग्राहक अद्भुत ज्ञान के लिये भूरि-भूरि आश्चर्य और आदर-सम्मान बढ़ता गया।

प्राचीन ऋषियों के, शास्त्रों के निर्माण मे, प्रेरक हेतु कैसे उदार होते थे, यह भी सुश्रुत चरक के प्रारम्भिक श्लोकों से ही जान पड़ता है। ऋषियों ने मनुष्यों को आधिव्याधियों से पीड़ित देखा; "भूतेषु अनुक्रोशः", करुणा उमड़ी; देवलोक मे जाकर ब्रह्मोपदिष्ट ज्ञान लाये, शिष्यों को सिखा कर प्रचार किया। शिक्षा के समय—

अथऽग्निवेश-प्रमुखान् विविशुः ज्ञान-देवताः,
बुद्धिः सिद्धिः स्मृतिर्मेधा धृतिः कीर्तिः क्षमा दया।

ऐसे ही, आदि कवि वाल्मीकिजी ने रामायण इस हेतु लिखा कि—

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्,
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्,
वैश्यो जनः पण्यफलत्वमीयात्,
जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्।

महाभारत की रचना का हेतु भागवत मे कहा है—

स्त्री-शूद्र-द्विज-बन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा,
कर्म-श्रेयसि मूढानां श्रेयः एवं भवेद् इह,
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतं,
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।

अन्यत्र कहा—

प्रायशो मुनयो लोके केवलात्महिते रताः,
द्वैपायनस्तु भगवान् सर्वभूतहिते रतः;

सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
इत्युक्ताः सर्व-वेदार्थाः भारते तेन दर्शिताः।
भारतं भानुमान् इन्दुः यदि न स्युरमी त्रयः,
ततोऽज्ञानतमोन्धस्य काऽवस्था जगतो भवेत्।

ऐसे ही शुक जी ने—

संसारिणां करुणयाऽह पुराणगुह्यम्।

परीक्षित् के व्याज से, समस्त संसारी जीवों पर करुणा करके, पुराण गुह्य रहस्य को, आत्मज्ञान को, भागवत मे कहा।

वैद्यों के लिये भी ऐसे ही उदात्त कारुणिक भाव का उपदेश है—

मातरं, पितरं, पुत्रान्, बान्धवान् अपि चातुरः
एतानपि अभिशंकेत, वैद्ये विश्वासमेति च,
विसृजति आत्मनाऽत्मानं, न चैनं परिशंकते,
तस्मात् पुत्रवद् एवैनं पालयेद् आतुरं भिषक्।

अन्यत्र, वैद्य को, आमयावी से दक्षिणा (फ़ीस) मांगने का निषेध किया है; जो वह स्वयं दे दे उसके ग्रहण की अनुमति दी है; पर—

देश-काल-निमित्तानां भेदैर्धर्मो विभिद्यते,
नात्यन्तिकस्तु धर्मोऽस्ति, धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः।

(महाभारत, शान्ति पर्व)

पूर्व काल मे राजा का परम धर्म, विद्वानों का, विशेष कर वैद्यों का, पालन-पोषण था; क्योंकि,

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा,
तस्यापि तत् क्षुधा राष्ट्रं अचिरेणैव सीदति। (मनुः)

जिस राष्ट्र मे विविध प्रकार की सद्विद्याओं के प्रचारक विद्वान् न बस सकेंगे, वह निश्चयेन बर्बर हो जायगा; और

धर्म-अर्थ-काम-मोक्षाणां आरोग्यं मूलं उत्तमम्,

अतः उस आरोग्य के साधक आयुर्वेद के आचार्यों अनुष्ठाताओं को सम्पन्न रखना, राजा का विशेष कर्त्तव्य है।

वास्तु-शास्त्र और नगर-निर्माण-शास्त्र के ग्रन्थों मे उपदेश है कि राज-प्रासाद से मिला हुआ ही राजवैद्य का गृह, भैषज्य की सब बातों से पूर्ण, होना चाहिये। काष्ठ-औषधियों के अविच्छिन्न उत्पादन के लिये उद्यानादि की भी व्यवस्था की है। जो औषधि उस राज्य की भूमि मे न मिले, उसे तो दूसरे देशों से मगाना ही होगा।

रामायण के युद्धकाण्ड की कथा प्रसिद्ध है; जब इन्द्रजित् की घोर अस्त्र-शस्त्र-वर्षा से राम, लक्ष्मण, सब बड़े-बड़े सेनापति और असंख्य वानर मृतप्राय हो गये, तब जाम्बवान् के परामर्श से हनुमान् आकाश-मार्ग से हिमालय गये, ओषधि-पर्वत ऋषभ को देख कर ओषधियों को पहिचान न सके; समस्त गिरिश्रृङ्ग को ही उखाड़ लाये; उसके उत्कृष्ट महासौरभ से ही सब निश्शल्य निर्व्रण हो गए। तब हनुमान्‌जी ने, कपि ही तो थे, भूल यह की कि, 'निदर्शयन् स्वां प्रकृतीं कपीनाम्', उस शैल को जहाँ का तहाँ रख आये। फल यह हुआ कि जब पुनः रावण-क्षिप्त-शक्ति के घात से लक्ष्मण मुमूर्षु हुए, तब प्लवग-राज सुग्रीव के राजवैद्य श्री सुषेण जी की आज्ञा से हनुमान् जी पुनः दौड़े और ओषधि-शैल को लाये। वैद्यराज सुषेण के सम्बन्ध मे कहा है—

सुषेणो वानरश्रेष्ठो जग्राह उत्पाट्य चौषधीन्,
ततः संक्षोदयित्वा तां···लक्ष्मणस्य ददौ नस्तः।

लक्ष्मण जी सहसा नितरां द्रढिष्ठ बलिष्ठ सर्वथा स्वस्थ हो गये। इस बार हनुमान्‌जी ने भूल नहीं की। जनश्रुति है कि कन्या-कुमारी अन्तरीप से थोड़ी दूर पर एक छोटा शैल है, जिस पर विविध प्रकार के उत्तम-सुगन्ध-युक्त फूल-पत्ते होते हैं, जो आस-पास बहुत दूर तक नहीं मिलते। भारत मे प्रसिद्ध है कि तिब्बत प्रान्त जड़ी-बूटियों की खान है।

यह प्राचीन उदाहरण हुआ, दूर देश से भैषज्य द्रव्य मगाने का। दक्षिण के सम्बन्ध मे यह विचार्य है कि वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के सभी अंगों मे भूयिष्ठ परिवर्तन हो गया है। अंग्रेजी राज मे, शासकों की ओर से, आयुर्वेद की और वैद्यों की प्रायः उपेक्षा ही रही। ऐसी दशा मे यदि वैद्य दक्षिणा (फ़ीस) न लेते तो उनका जीवन असम्भव हो जाता। एक कार्य अंग्रेजों ने अच्छा किया; बड़े नगरों मे चिकित्साशाला (अस्पताल) बनवाये, जिनकी उन्नति और संख्या-वृद्धि का यत्न स्वराज्य सरकार कर रही है। ऐसी चिकित्साशाला (हौस्पिटल, अस्पताल) मनुष्यों के लिये और पशुओं के लिये भी, सम्राट् अशोक के अप्रतिम शासन मे, प्रचुर संख्या मे, सारे भारत मे बनाई गईं। उनके पीछे सब प्रबन्ध बिगड़ गया। अंग्रेज़ों ने उद्धार किया; पर, एक गुण तो एक दोष; दोष यह हुआ कि इन अस्पतालों के अध्यक्ष अंग्रेज़ डाक्टर ही हुआ करते थे, जिन्हों ने पश्चिम के विख्यात चिकित्सा-विद्यापीठों मे शिक्षा पाई थी, और वहीं की दवाओं और शल्यशालाक्य के प्रकारों में विश्वास करते थे और उन्हीं का प्रयोग करते थे। इससे आयुर्वेद का क्षेत्र और भी संकुचित हुआ; कुछ थोड़ा, अधिक नहीं; क्योंकि अस्पतालों की संख्या थोड़ी, और गदग्रस्तों की बहुत बड़ी; अतः वैद्यों और हकीमों का भी कार्य चलता रहा, और रेल, तार, डाक के आगमन से इसको भी बहुत सहायता मिली। पाश्चात्य चिकित्सा की शिक्षा पाये और उसका प्रयोग करनेवाले भारतीय डाक्टरों की भी संख्या बढ़ी।

अब पुनरपि एक दोष तो एक गुण। यह निर्विवाद है कि शस्त्र-कर्म, पश्चिम का बहुत बढ़ा हुआ है, श्री यादवजी ने सुश्रुत की टिप्पणियों मे, जो पाश्चात्य शस्त्रों के चित्र दिये हैं उन्हीं से यह प्रमाणित होता है। तथा वेदना-स्तम्भक द्रव्य, क्लोरोफार्म और ऐनीस्थेटिक्स (जिनके स्थान पर धान्वन्तरीय भिषक् भाँग और मदिरा आदि का प्रयोग किया करते थे),

तथा सूचीकर्म (इन्जेक्शन्स, हाइपोडर्मिक सिरिंज द्वारा) जिन से आतुर कई-कई घण्टे तक घोर संज्ञाशून्यता मे पड़ा रहता है और उग्रतर उग्रतम शस्त्र कर्म (यथा विकृत फुफ्फुस को, वा विकृत वृक्क को, 'हार्निया' अंत्रवृद्धि, वा 'ऐपेंडिक्स' उण्डुक को, वा मूत्रावरोधक अतिवृद्ध आष्ठीला पौरुष ग्रन्थि 'प्रोस्टेट' को, वा टूटे पिसे हाथ पैर को काट कर अलग कर देना) सर्जन के हाथों से किये जाते हुए को सह लेता है, यह सब अद्भुत आविष्कार और उपज्ञ, भारत को यूरोप से मिले। एवं 'ऐंटिसेप्टिक' पूय-निरोधक पहिले 'आयोडाइन', 'आयोडोफार्म', अब 'पेनिसिलिन', 'सल्फाड्रग्ज़' आदि, तथा यान्त्रिक साधन, जैसे 'एनीमा', रबर की नलियाँ, 'ट्यूब्ज', तथा धातु-निर्मित नलियाँ आदि। इन सब का स्वागत आयुर्वेदानुयाइयों को हृदय से करना चाहिये।

भगवान् मनु की आज्ञा है—

श्रद्धधानः शुभां विद्यां आददीतऽवराद् अपि,
अन्त्याद् अपि परं धर्मं, स्त्रीरत्नं दुष्कुलाद् अपि,
शत्रोरपि तु सद्वृत्तं, अमेध्याद् अपि काञ्चनम् ,
स्त्रियो, रत्नानि, अथो विद्याः, धर्माः, शौचं, सुभाषितम् ,
विविधानि च शिल्पानि, समादेयानि सर्वतः।

इन श्लोकों की पूर्ति योगवासिष्ठ मे, विधि-निषेध-उभयात्मक श्लोक से की है—

युक्ति-युक्तमुपादेयं वचनं बालकाद् अपि,
अन्यत् तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना।

सीधी बात है, यदि प्रत्येक मनुष्य कहे कि मै अपने ही हाथ से उत्पन्न किये अन्न-वस्त्र खाऊं पहिनूंगा, अपने ही अनुभवों से उत्पन्न ज्ञान से काम लूंगा तब तो उसका जीवन पशुओं से भी निकृष्ट हो जायगा, क्योंकि पशु भी एक दूसरे से नये-नये ज्ञान सीखते हैं और सहायता लेते हैं।

हर्ष का विषय है कि भारतीय वैद्यों मे यह धारणा उदित हो गई है

कि पाश्चात्य शास्त्रों का भी उपयोगी अंश सीखना उचित है और पशुओं के तथा मनुष्यों के शवों की चीरफाड़ कर के अवयवों का साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। काशी-विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग मे यह कार्य बहुत वर्षों से हो रहा है और श्री अर्जुन मिश्र जी के हाथों से स्थापित आयुर्वेद-विद्यालय मे भी कुछ वर्षों से इस का अभ्यास हो रहा है। "तस्मात् योग्यां कारयेत्", यह सुश्रुत की आज्ञा ही है।

वाग्भट ने 'भेड़ाद्याः किन्न पठ्यन्ते' ऐसे शब्दों से उन का तिरस्कार किया है, सो उचित नहीं किया। इन सब प्राचीन लुप्त ग्रन्थों को खोज निकालना और प्रकाश करना चाहिये। प्रत्येक मे कोई न कोई विशेष बात रहती है, जो दूसरों मे नहीं मिलती। स्वयं श्री यादवजी ने नेपाल से मिली, ताल-पत्रों पर लिखी, काश्यप संहिता की खण्डित प्रति का, बड़े परिश्रम से संशोधन-सम्पादन किया है।

पालकाप्य-मुनि-रचित 'हस्त्यायुर्वेदः', नकुलकृत 'अश्वविज्ञानम्,' शालिहोत्र-कृत, 'अश्व-चिकित्सा', कलकत्ते मे 'रौलय एशियाटिक सोसायटी' की ग्रन्थ-माला मे छप कर भी लुप्तप्राय हो गये हैं। दिन-रात्रि-ऋतुचर्या पर सरल सुलभ ग्रन्थों का अभाव-सा ही है, स्कूलों और पाठशालाओं मे 'हाइजीन' (स्वास्थ्य-रक्षा) की जो शिक्षा अंग्रेजी राज मे दी जाती रही है, वह ब्रिटेन के ही रहन-सहन, आहार-बिहार, जलवायु के अधिकतर अनुकूल रही है और अब भी, जहाँ तक मै जानता हूँ, उस मे यथोचित सुधार नहीं हुआ है। सहदेव-रचित 'गोपालन' नाम का ग्रन्थ भी सुना मात्र जाता है। महाभारत मे कहा है कि युधिष्ठिर के वैमात्र भाई नकुल और सहदेव क्रमशः अश्व-जाति और गो-जाति के विशेषज्ञ थे; विराट के यहाँ अज्ञातवास मे नकुल को अश्वशाला और सहदेव को गोशाला सौंपी गयी थी। शालिहोत्र का नाम अब 'सलोत्री' में परिवर्तित हो गया है, और

उत्तर प्रदेश मे अश्व-चिकित्सा की विद्या प्रायः मुसल्मानों के ही हाथ मे रह गई है। इसका मुझे निजी अनुभव है; पचास वर्ष से ऊपर हुए, मेरे एक अरबी घोड़े के अगले दोनों पैरों मे 'हड्डा' (अंग्रेजी 'स्प्लिंट') हो गया था, पाश्चात्य 'वेट्रिनरी' (पशु-चिकित्सक) डाक्टरों ने गोली से मार देना ही एक-मात्र उपाय बताया, किन्तु एक मुसल्मान सलोत्री ने औषध से, जिस का मुख्य अवयव हाथी-दाँत का चूर्ण था, अच्छा किया। यह सब विद्या भी आयुर्वेद का ही अंश है, लुप्त हो रही है, जिस का उद्धार करना चाहिये।

कई वर्ष हुए उत्तर प्रदेश के जौनपुर जिला के एक ग्रामवासी वृद्ध सज्जन से मैं ने सुना कि उन्हों ने एक मित्र के पास 'अग्निसंहिता' की पुस्तक देखी थी, उस में नाड़ियों के ही विषय पर अधिक लिखा था। नाड़ी शब्द लिख कर मन संदेह मे पड़ जाता है। आजकाल जिसको 'नाड़ी' देखना कहते हैं उस को पाश्चात्य विज्ञान के अनुसार 'धमनी' (आर्टेरी) देखना, 'पल्स काउन्टिङ्ग' (धमक की गिनती) कहना चाहिये। पाश्चात्य वैज्ञानिक तो 'पल्स' और ताप-मापक 'थर्मामोटर' से रुधिर की गति और ज्वर की मात्रा ही जानते हैं, पर कुशल वैद्य नाड़ी की परीक्षा करके रोग-विषयक बहुत-सी बातें जान लेते हैं, जिन को सुन कर पाश्चात्य डाक्टर चकित होते हैं, क्योंकि रोगी से पूछने पर उन को विदित होता है कि जो अनुमान वैद्य ने किया, वह ठीक है। ऐसी ही दशा 'स्रोतस्', 'सिरा', 'स्नायु' आदि शब्दों की है। आयुर्वेदीय 'शारीर' और पाश्चात्य 'ऐनाटोमी-फिजियोलजी' का समन्वय करना, बहुत आवश्यक कार्य है; बिना इस के, वैद्य और डाक्टर एक दूसरे की बात समझ नहीं सकते। अंग्रेजी मे, ज्ञानवाहक और क्रियावाहक, दो प्रकार के अति सूक्ष्म तन्तुओं को 'नर्व' कहते हैं। बाह्य पदार्थों का ऐन्द्रिय ज्ञान इन सूक्ष्म ज्ञानवाही 'नर्वों' द्वारा (जिनको 'डेंड्राइट' कहते हैं) मस्तिष्क में स्थित विशेष-विशेष 'कन्दों' मे, पहुँच कर

'बौद्ध' रूप ग्रहण करता है; एवं जीव जब कोई क्रिया, हस्त, पाद, पलक, ओंठ आदि से करना चाहता है, तो उस की शक्ति क्रियावाही 'नर्वों' द्वारा (जिन को 'ऐक्सोन' कहते हैं) उन-उन अङ्गों को चलाती है।

ऐसा जान पड़ता है कि उपनिषदों मे 'नाड़ी' शब्द 'नर्व' के अर्थ मे प्रयोग किया गया है, यथा—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः, तासां मूर्धानं अभिनिःसृता एका, तया ऊर्ध्वं आयन् अमृतत्वं एति, विष्वङ् अन्याः अभिनिष्क्रमणे भवंति (छान्दोग्य)।

हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि; हिता नाम नाड्यो अन्तर्हृदये, (बृहदारण्यक)।

इस के अतिरिक्त पृष्ठवंश वा मेरुदण्ड की तीन नाड़ियाँ, इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना, योगाभ्यासियों मे बहुत कही-सुनी जाती हैं; यद्यपि उपलब्ध पतञ्जलिकृत 'योग-सूत्र' और व्यासकृत 'भाष्य' में इन का नाम नहीं मिलता। योग-सूत्र 'नाभिचक्रे (संयमात्) कायव्यूह-ज्ञानं' (३-२९) का भाष्य अति स्वल्प, सुश्रुत की प्रक्रिया के अनुसार है।

आर्ष ग्रन्थों मे प्रायः काष्ठौषधियों का प्रयोग है, ऐसा वैद्य मित्रों से सुना है। रसौषधि का आविष्कार बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने किया, ऐसी ख्याति है। महायान मार्ग के प्रतिष्ठापक धर्माचार्य वेदान्त-तत्त्व-निरूपक 'माध्यमिक-कारिका' नामक ग्रन्थ के रचयिता दर्शनाचार्य, रसौषधाविष्कारक रसायनाचार्य, इन महापुरुष का जन्म, मद्रास प्रान्त के आंध्र देश के अन्तर्गत गुन्तूर जनपद (ज़िला) मे, दूसरी शती ईसवी मे, हुआ। जिस ग्राम मे जन्म हुआ, उसे इन्हीं के नाम से 'नागार्जुनकुंड' आजतक कहते हैं। जनश्रुति है कि जैसे सम्राट् अशोक ने पर्वतशिलाओं पर सदुपदेश के वाक्यों का उत्किरण कराया, वैसे नागार्जुन ने भी जनता के

उपकार के लिये, स्वास्थ्य-सूत्रों को, प्रस्तर स्तम्भों पर खुदवा कर, बस्तियों में खड़े कराये। बुद्धदेव की आज्ञा है, 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, कल्याणाय देवमनुष्याणाम्' उत्तम ज्ञान का प्रचार करना चाहिये। नागार्जुन के पीछे गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ ने रस-चिकित्सा का पुनः जीर्णोद्धार किया, ऐसी किम्वदन्ती है। अब तो रसौषधों का बहुत प्रयोग होता है। क्यों न हो? "अतिवीर्यवतीव भेषजे, बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः"।

पाश्चात्यों के पास, चालीस-पचास साल पहिले, प्रायः एक ही 'टॉनिक' अर्थात् पौष्टिक था, 'फेरम्', कार्ष्णायस लौह से बना। पर अब भारत से उन्होंने स्वर्ण (औरम्) रजत (आर्जेंटम्) ताम्र (क्यूप्रम्) वंग (लीडम्) आदि, मुक्ता शुक्ता प्रबालादि जांतव कर्कर (एनिमल कैल्सियम), और सर्वोपरि औषधराज पारद (मर्क्युरी) के भस्म आदि का उपयोग सीख लिया है। मैंने सुना है कि जर्मनी में स्वर्ण-गन्धक-पारद का मकर-ध्वज भी बनाने लगे हैं। वाजीकरणार्थ पहिले 'योहिम्बिन' नामक किसी औषध का प्रयोग करते थे। आयुर्वेद के वाजीकरण प्रयोगों की बहुत बड़ी ख्याति है, जिन से पुनर्यौवन प्राप्त हो सकता है।

निष्कर्ष यह है कि—

परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ। (गीता)

मेरा अनुभव है, अपने कुटुम्बियों के रोगों में, कि जिन को पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रकार के चिकित्सकों ने असाध्य बताया, वे होमियोपैथी वा वैद्यक से अच्छे हुए, एवं कई कुटुम्बी, अन्य प्रकारों से नहीं अच्छे हुए, तब तबीब हकीम ने, यूनानी तिब्ब के प्रकार से अच्छा किया।

इस समय भारतवर्ष में जो प्रकार चिकित्सा के चल रहे हैं, उन में चार मुख्य हैं, आयुर्वेदिक, पाश्चात्य वैज्ञानिक, होमियोपैथिक (जो भी

पाश्चात्य ही है), और हकीमी (जिस का प्रचार स्वभावतः मुसल्मानों मे अधिक है)। इनके अवान्तर भेद भी कई कई हैं, जैसे होमियोपैथी मे 'बायोकेमिस्ट्री', जिसका प्रवाद (अभियोग, दावा, क्लेम) है कि केवल बारह औषधियों से सब रोगों को अच्छा कर सकती है। (शस्त्रों ही से साध्यों को छोड़ कर) यह रसौषधों की सी हैं, पर उनकी अपेक्षा से अत्यल्प मूल्य मे मिलती हैं। आयुर्वेदीय बहुमूल्य रसौषधों के अनुकल्प रूप से, स्वल्प मूल्य के द्रव्य भी हैं, यथा स्वर्ण के स्थान मे स्वर्ण-माक्षिकं, रजत के लिये रजत-माक्षिकं, मुक्ता के लिये शुक्तिका। 'नेचरोपैथी' तो शुद्ध वायु जल अन्न का सेवन, उचित व्यायाम, 'अर्धप्राणेन व्यायच्छेत', वीर्य-रक्षा, 'आश्रयेन् मध्यमां वृत्तिम्, अति सर्वत्र वर्जयेत्', 'त्रिस्थूणं शरीरम्, आहारो, निद्रा, ब्रह्मचर्य', 'नेचरोपैथी', जिस पर पश्चिम मे विश्वास बढ़ता जाता है, यही है। लूई कूने के बताये स्नान के प्रकार भी, उष्ण-जल-क्रिया, शीत-जल-क्रिया, आदि के रूप मे, आयुर्वेद मे विद्यमान हैं। बहुत विशेष-विशेष शास्त्रों की मुख्य-मुख्य बातों का संग्रह आयुर्वेद मे किया है।

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ८५ मे राजा की धर्माम्नातृ परिषद् मे कौन-कौन होने चाहियें, यह कहा है। सबसे पहिले 'ब्राह्मणांश्चतुरो वैद्यान्', फिर 'क्षत्रियान् दश चाष्टौ च' फिर 'वैश्यान् एकविंशति संख्यया', फिर 'त्रींश्च शूद्रान्', अन्त मे 'सूतं पौराणिकं चैव'! तथा उनके गुण क्या-क्या हों, यह भी बताया है, केवल नामधारी ब्राह्मण क्षत्रियादि नहीं।

प्रजानां विनयऽाधानाद् रक्षणाद् भरणाद् अपि
स पिता, पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः। (रघुवंश)

राजा का कर्तव्य इतना ही है कि सद्-ब्राह्मणों द्वारा सत् ज्ञान दिला कर प्रजा मे विनय का आधान करै, सत्क्षत्रियों के द्वारा उन की रक्षा करै, सद्वैश्यों द्वारा उनका भरण-पोषण करै। सत् शूद्रों द्वारा सब की सेवा-सहायता करै। सद् ब्राह्मणों मे भी सद् वैद्यों का स्थान सब से ऊँचा है।

क्योंकि मनुष्य की शारीरिक अवस्था और मानसप्रकृति कैसी है और किस प्रकार से वह स्वस्थ अविकृत रक्खी जा सकती है, यह वैद्य ही जानता है। अतः वही बता सकता है कि प्रजा के द्विविध स्वास्थ्य के उपकारक कौन से विधि-विधान होंगे और कौन नहीं ? जिसको ऐसा ज्ञान नहीं है, वह जनता के कल्याणकारक विधि-विधान कैसे बना सकेगा ? जब प्रजा का स्वास्थ्य ठीक है, तो अन्य सब कार्य, शिक्षा, रक्षा, पालन, पोषण, सेवन-धारण आदि आप से आप ठीक हो जायेंगे। पश्चिम में, वैज्ञानिक चिकित्सा में, नये-नये आविष्कारों के आधार पर, अति त्वरा से, विधि-विधान बना देने से बहुत-बहुत हानि जनता की हुई है; पुराने जाने हुए रोग तो कम नहीं हुए, नये-नये प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये हैं; यह विविध प्रकार के इन्जेक्शन्स का दुष्फल है। स्वार्थी और मूर्ख लेजिस्लेटर (विधान-कर्ता), मिनिस्टर (मन्त्री), प्रभृति, निकृष्ट विधि-विधान बना कर जनता की सर्वथा दुर्दशा ही करते हैं। सद्वैद्य बहुश्रुत कह सकता है कि ऐसे विधान के परिकल्पन से लोक का उपकार होगा, ऐसे से अपकार होगा। पौराणिक सूत का भी प्रयोजन यह है कि वह बता सके—

'अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरातनम्'।

"पूर्वकाल में जब ऐसी अवस्था सामने आयी, तब ऐसा करने से सत्फल हुआ, आपत्ति टली; इसके विरुद्ध आचरण करने से कुफल हुआ, विपत्ति सिर पर आई। क्षत्रिय सदस्य परामर्श दे सकेंगे कि देश की रक्षा के लिये यह-यह उपाय करने चाहियें। एवं वैश्य सभासत् कह सकेंगे कि सब प्रकार के व्यापार, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, विविध शिल्प के बढ़ाने के लिये ऐसे-ऐसे नियम बनने चाहियें। तथा शूद्र बतावेंगे कि कर्मकर वर्गों का भरण-पोषण कैसा होना चाहिये, जिस से वे प्रसन्न रहें, और प्रसन्न चित्त से सब की सेवा-सहायता परिश्रम से करें।

विद्वान् वैद्य सर्वज्ञ-प्राय होगा, यह सुश्रुत चरकादि आर्ष संहिताओं के देखने से ही विदित हो जाता है।

नामंत्रमक्षरं किञ्चित्, न च द्रव्यमनौषधम्,
नायोग्यः पुरुषः कश्चित्, प्रयोक्तैव तु दुर्लभः । (पुराण)

जब कोई द्रव्य नहीं, जिस में औषध की शक्ति नहीं, तब जगत् की सभी वस्तु आयुर्वेद की विषय हो गई। फ़ारसी मे लिखा तिब्ब का ग्रन्थ, बहुत वर्ष हुए, मैं ने देखा, 'इलाजुल् अब्दान' उसका नाम था, विविध रोगों का मानव शरीर के अवयवों और निस्स्यन्दों से ही अच्छा करने के प्रकार उस मे लिखे थे। सुना है कि कलकत्ता के पास, उत्तरपाड़ा नामक छोटे नगर मे, दिवंगत राजा प्यारी मोहन मुखर्जी के बड़े पुस्तकागार में वह पहुँच गया था, इस समय वह कहाँ है, किस दशा में है, यह नहीं जानता। पाश्चात्यों ने इस का नया रूप यह बनाया है कि भेष-ग्रस्त के थूक या रुधिर की सूई, उसी को लगती है, कभी गुण होता है, कभी दोष ही बढ़ता है।

सुश्रुत ने कहा है—

अन्यशास्त्रोपपन्नानां चार्थानाम्, इह उपनिपतितानाम् अर्थवशात्, तद्विद्येभ्यः एव व्याख्यानम् अनुश्रोतव्यं; कस्मात् ?, नहि एकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणाम् अनुरोधः कर्तुम्

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्यात् शास्त्र-निश्चयम्,
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सकः ।

यह कहते हुए भी कि एक शास्त्र मे सब शास्त्रों का अनुरोध नहीं हो सकता, सुश्रुताचार्य ने अपनी बहुश्रुतता सिद्ध कर दी है। सब वृक्ष-वनस्पति-शास्त्र, सब जीव-जन्तु-शास्त्र, की सार और उपयोगी बातें ग्रन्थ मे रख दी हैं। उन्मत्तता के उपचार मे गीत वाद्य भी काम मे आते हैं। आधिदैविक व्याधियों मे, वैदिक तांत्रिक मंत्रों से भी काम लिया जाता है,

देव-देवियों के जप-पूजा-पाठ भी कराये जाते हैं। अन्ततो गत्वा, काम-क्रोधादि मानस व्याधियों, एवं संसार-नामक-महाव्याधि, का एक-मात्र परम महौषध वेदान्त-ज्ञान भी इस का सहायक है। चरक में 'कतिधा पुरुषीयम्' प्रकरण मे सांख्य प्रक्रिया का वर्णन है और प्रचलित सांख्य और आयुर्वेद का जो सूक्ष्म भेद है, वह भी दिखाया है। तथा इस सब तर्क और विचार के सहायक रूप से न्याय के षोडश पदार्थों का भी प्रतिपादन कर दिया है।

सब से बड़ के बात यह है कि परमात्म-ब्रह्म-स्वरूप निरूपक महावाक्य, जो मुझे प्रचलित वेदान्त के ग्रन्थों मे, शांकर रामानुजीय आदि भाष्यों में नहीं मिला, जो उपनिषदों मे भी गूढ़ छिपा हुआ ही है, वह मुझे चरक मे प्रत्यक्ष विस्पष्ट मिला,

(यावन् न उदेति) सा सत्या बुद्धिः 'न एतद् अहम्' यया, 'न एतन्-मम' इति विज्ञाय, ज्ञःसर्वम् अधितिष्ठते। यह महावाक्य मुझे अन्य प्रकार से मिला था; बहुत वर्षों से इस खोज मे था कि किसी प्राचीन और उपलब्ध संस्कृत ग्रन्थ मे लिखा जाय; जब अकस्मात्, चरक के पृष्ठ उलटते-पलटते, यह मुझे देख पड़ा तो बड़ा आनन्द और सन्तोष हुआ।

इस महावाक्य का इतना महत्त्व क्यों, इस के प्रतिपादन का प्रयत्न मैंने 'समन्वय' नामक हिन्दी ग्रन्थ के अंतिमाध्याय मे, तथा अन्य संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी पुस्तकों मे विस्तार से किया है। पुनरपि गीता के सर्व-कल्याण-साधक सत्य-प्रिय-हित उपदेश से इस लेख को समाप्त करता हूँ—

परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

और साथ ही परमात्मा जगदात्मा से हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि भारत की आगामी पीढ़ियों मे, श्री यादव जी त्रिविक्रम जी आचार्य के ऐसे

आयुर्वेद में निष्णात, विद्याव्यसनी, महापरिश्रमी, निस्वार्थ, लोकहितेच्छु, उत्तरोत्तर अधिकाधिक संख्या में उत्पन्न हों जिस से भारत जनता का शरीर और मानस अधिकाधिक प्रकर्ष-उत्कर्ष हो।

ओम्। सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु। ओम्

वाराणसी, १ जुलाई, १९५२ ई० तथा
वाराणसी, अक्षय तृतीया, २ मई, १९५७ ई०

डा० भगवान्‌दास

विविधार्थ

आत्म-कथा

धर्म दृष्टि से परम पवित्रतम, परन्तु चर्म दृष्टि से नितान्त मलिन, दुर्गंध-पूर्ण, काशी नगरी में, तिथि १२ जनवरी, सन् १८६९ ई. को, प्रातःकाल छः बज कर पाँच मिनट पर, किसी सूक्ष्म-लोक परलोक से, मैं इस स्थूल-लोक भूलोक में आया, और नयी आँखों से नयी दुनिया को देखने लगा। तब से ८८ वर्ष की समाप्ति तक वहीं अंग्रेज़ी, संस्कृत, कुछ थोड़ी फ़ारसी का भी, संग्रह किया, स्कूल कॉलेज मे पढ़ा, और वास करता रहा हूँ। केवल दो बार काशी के बाहर रहा; सन् १८९० से १८९८ ई. तक उत्तर प्रदेश में मैजिस्ट्रेट के रूप मे अंग्रेज़ी सरकार का नौकर रहा। पुनः सन् १९२६ से १९३६ ई० तक चुनार मे, गङ्गा के किनारे, काशी से बीस मील ऊपर, रहा। फ़रवरी १९३१ ई० मे काशी मे हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव हुआ, जिस मे प्रायः पचास हिन्दू और मुस्लिम मार डाले गये, और प्रायः पाँच सौ घायल हुये; उसी के बाद, मार्च मास मे कानपुर मे बहुत अधिक भीषण उपद्रव हुआ जिस मे कम से कम पाँच सौ हिन्दू और मुसलमान मारे गये और प्रायः पन्द्रह सौ घायल हुए। कराची मे उन्हीं दिनों काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था; उस ने तीन हिन्दू तीन मुसलमानों की कमेटी बना दी, और मुझे चेयरमैन बनाया, कि इन उपद्रवों के कारणों का अन्वेषण करूँ और रोकने का उपाय सुझाऊँ। मई, जून, जुलाई, तीन महीने हम लोग कानपुर की गलियों मे फिरे, साक्षियों के बयान लिखे, फिर काशी मे तीन महीने मे बहुत परिश्रम से रिपोर्ट लिख कर काँग्रेस की कार्यकारिणी समिति के पास भेज दी। पुनः मित्रों के अनुरोध से सन् १९३५ के आरम्भ मे दिल्ली की केन्द्रीय विधान सभा मे मुझे जाना पड़ा; पर १९३८ मे उसे त्याग कर बनारस मे पुनः आ बसा।

सरकारी नौकरी का कार्य मै ने पिता जी की आज्ञा से किया था। उस समय मे सरकारी नौकरी बड़े गौरव और सम्मान की वस्तु समझी जाती थी। पर मेरा मन उस कार्य मे नहीं लगता था। पिता जी का देहावसान १८९७ ई० में हो गया था; अतः नौकरी त्याग कर मै काशी मे सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना के कार्य मे लग गया। काशी के कुछ सज्जन, सन् १८९३–९४ से ही एक स्वतन्त्र विद्यालय स्थापित करने के विचार मे थे, किन्तु पर्याप्त धन के संग्रह का उपाय सूझ नहीं पड़ता था। सन् १८९३ मे श्रीमती एनी बेसन्ट का शुभागमन काशी मे हुआ, उन से चर्चा चली, उन को परमेश्वर ने अद्भुत वाग्मिता शक्ति दी थी; उन्हों ने धन-संग्रह के लिए भारत मे यात्रा करना स्वीकार किया; समय (अर्थात् शर्त) यह था कि विद्यालय और उस से सम्बद्ध बालकों और बालिकाओं की पाठशालाओं मे सत्य सनातन धर्म की भी शिक्षा दी जाय। अंग्रेजी सरकार ऐसी शिक्षा अपनी बनाई शिक्षा-संस्थाओं मे नहीं दिलवा सकती थी; कारण स्पष्ट था, उसे विविध-धर्मावलम्बियों पर शासन करना था, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि; किस धर्म की शिक्षा दिलवाती ? परन्तु अंग्रेज़ों तथा भारतीय ईसाइयों के लिए वह धर्म मे तटस्थ, "सेक्युलरिस्ट", नहीं थी; सब बड़े नगरों मे, तथा शिमला, नैनीताल, रानीखेत, दार्जिलिंग, ऊटकमंड आदि पर्वतों पर, पचासों कोटि रुपये के व्यय से विशाल चर्च बनाये, और पाँच-छः कोटि रुपये, प्रतिवर्ष, कलकत्ते मे बड़े आर्चविषप से ले कर, जिस-जिस नगर मे ब्रिटिश सेना रहती थी, चैप्लेन के वेतनों पर, व्यय करती थी; तथा ईसाई लड़के लड़कियों और युवा युवतियों के लिये स्कूल कॉलेज भी बनवाये, और उन का मासिक वार्षिक व्यय भी स्वयं करती थीं। एवं जो शिक्षा संस्थाएँ, विशेषतः लौकिक शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा भी देने के लिये स्थापित की गई थीं, यथा अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी और, पीछे, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, को पर्याप्त धन से सहायता देती रही। सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज ने विशेष कारणों से अंग्रेज़ सरकार से कभी एक पैसे की भी सहायता नहीं ली थी।

श्रीमती एनी बेसेन्ट के नेतृत्व मे, कुछ हिन्दू और कुछ अंग्रेज स्त्री और पुरुष, सेन्ट्रल हिन्दू कौलेज के निर्माण और पालन-पोषण के कार्य मे लग गये । थियासोफ़िकल सोसाइटी की शाखाओं से इस कार्य में प्रचुर सहायता मिली । सब ने अपने-अपने नगरों मे धन का संग्रह किया । पूर्व मे, बंगाल मे, (स्वर्गीय) श्री उपेन्द्रनाथ वसु, दक्षिण मे मेरे (दिवंगत) ज्येष्ठ भ्राता श्री गोविन्ददास, उत्तर प्रदेश, बम्बई, राजस्थान, पञ्जाब, कश्मीर आदि मे मै, उन के साथ घूमते थे; एक व्याख्यान थियोसाफ़िकल सोसाइटी के उद्देश्यों पर, एक सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के लक्ष्यों पर, वे देतीं, और स्थानीय मित्र, सोसाइटी के लिये नये सदस्यों के नाम लिखते, तथा जो धन मिलता उसे संग्रह कर के काशी भेजते ।

राजा महाराजाओं ने प्रायः वार्षिक सहायता देना स्वीकार कर लिया । किसी ने तीन, किसी ने पाँच, किसी ने दस सहस्र रुपयों तक की वार्षिक सहायता देनी स्वीकार कर ली । विद्यार्थियों से मासिक फ़ीस के भी रुपये आते थे । एवं १८९८ से आरम्भ करके १९१४ तक मे, जब सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, श्री मदन मोहन मालवीय, सर सुन्दरलाल, आदि की बनायी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी कमेटी को सौंप दिया गया, प्रायः पाँच लाख रुपये के गृह, प्रायः इतने ही मूल्य के सरकारी प्रामिसरी नोट, प्रायः इतने ही मूल्य का, पुस्तकों का तथा कुर्सी बेंच आदि का, विशाल संग्रह, तथा सायंस की योग्याशालाओं की सामग्री, उन की कमेटी को सौंप दी गयी । धर्म की शिक्षा देने के लिये हिन्दू कालेज के पुराने बोर्ड ऑफ़ ट्रस्टीज़ ने एक श्रेणी, पुस्तकों की, बनवायी थी । छोटी प्रश्नोत्तरी, बालक बालिकाओं के लिये, एक एलिमेंटरी, स्कूलों के ऊँचे वर्गों के लिये, एक ऐड्वांस्ड, विद्यालय विभाग के विद्यार्थियों के लिये । इन पुस्तकों का वहुत प्रचार हुआ । छोटी प्रश्नोत्तरी का भारत की ग्यारह-बारह प्रान्तीय भाषाओं मे अनुवाद हुआ, और एक लाख से अधिक उस की प्रतियाँ बिकीं ।

यहाँ तक धर्म-शिक्षा विषयक चर्चा हुई । अब निजी अनुभवों की

चर्चा करूँगा । ८८ वर्ष के अपने जीवन मे मै ने अद्भुत परिवर्तन देखा, न केवल काशी मे, अपि तु समग्र भारत मे । गार्हस्थ्य-जीवन के, शिक्षा के, आचार-विचार के, छूत-छात के, रेल-यात्रा के, समुद्र-यात्रा, व्यापार, व्यवहार, अर्थात्, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के सभी अंगों के सम्बन्ध में । ८३-८४ वर्ष पहिले, जब मै ने और छोटे-बड़े भाइयों ने अक्षरारम्भ किया था, तब रात मे, पीतल की दीवट पर, सर्षप तैल से भरी, पीतल की, छिछली कटोरी मे, रूई की तीन-चार बत्तियाँ बाल कर, उन के प्रकाश मे पढ़ते-लिखते थे । नरकट वा किल्क की लेखनी से नागरी लिखना सीखा; फिर जब अंग्रेज़ी आरम्भ किया तो बत्तक के परों से; फिर लोहे तांबे पीतल के निबों की बारी आई; अब फ़ाउंटेन-पेन और टाइप-राइटर काम मे आते हैं । पहिले, देश का बना कागज़, मोटा, चिकना, बहियों के काम मे आता था; अब महाजनी कोठियों मे भी, साधारण कार्यों के लिये, ब्रिटेन का कागज़ काम मे आने लगा । पहिले, संस्कृत पुस्तकें ताल-पत्र पर, अथवा उसी जैसे पुष्ट कागज़ पर, लिखी जाती थीं । क्रमशः छापेखाने चले; पहिले लीथो, फिर टाइप; आरम्भ मे संस्कृत ग्रंथ अलग-अलग पत्रों पर छपते थे, अब वह प्रकार उठ गया है । संस्कृत हिन्दी आदि भाषाओं की पुस्तकें, अंग्रेज़ी पुस्तकों की सी छपती हैं; इस से पढ़ने-लिखने के काम मे बहुत प्रसार हुआ है । नये प्रकार की पाठशालायें सहस्रों, विद्यालय सैकड़ों, विश्वविद्यालय बीसियों बन गये हैं, जिन मे से कई कई लाख बी.ए , बी-एस्.सी., एम्.ए., एम-एस्.सी, डाक्टर, एंजिनियर, वकील, आदि प्रतिवर्ष निकलते हैं, और जीविका के साधन न मिलने से बहुत दुःख भोगते हैं, तथा इन में से कितने ही चोरी, डकैती, हत्या आदि भीषण कर्मों से जीविका करने लगे हैं ।

६०, ७०, वर्ष पहिले, ग़ैर-सरकारी बैंक प्रायः नहीं थे, केवल सरकारी इम्पीरियल बैंक था । "प्रामिसरी नोट" भी सन् १८५७ के सिपाही युद्ध के बाद चले; अब तो भारत के सभी बड़े शहरों में ग़ैर-

सरकारी बंक बन गये हैं। "करेंसी नोट" कब भारत में चले, इस का ठीक पता नहीं चलता; सरकारी "रिज़र्व बंक" के भूतपूर्व गवर्नर श्री रामराव जी से मै ने पत्र द्वारा पूछा, उन को भी ठीक पता नहीं चला। ८०-९० वर्ष पहिले, एक भी मिल नहीं थी, अब सैकड़ों सूती, ऊनी, रेशमी, कपड़ों के बनाने की, हो गयी हैं ! एवं भारी-भारी रेलवे एंजिन, रेल की गाड़ियाँ, वायुयान, समुद्रयायी वहित्र, युद्धक भी और व्यापारी भी, बनने लगे हैं। करेंसी नोटों का काम, पहिले महाजनी कोठियों की हुंडियों से चलता था। इस लेखक के पूर्वज साह गोपालदास और उन के पुत्र साह मनोहरदास की ५२ (बावन) कोठियाँ भारत के अधिकांश बड़े नगरों में फैली थीं, और ईस्ट-इंडिया कम्पनी को, एक बड़े नगर से दूर के दूसरे बड़े नगर तक, लाखों रुपये पहुँचाने में सहायता देती थीं, और समय-समय पर ऋण भी देती थीं।

७०–८० वर्ष पहिले, १२ माशे का तोला होता था, और एक तोला सोने का दाम सोलह तोले चाँदी बँधा हुआ था; अब दस माशे का ही तोला (भरी) मानते हैं, और सोने चाँदी का भाव प्रतिदिन घटता बढ़ता रहता है। साढ़े नौ रुपये का 'सावरेन' और ४५ रुपये की एक सेर, अर्थात् अस्सी रुपय भर, चाँदी, पहिले विश्व-युद्ध के दिनों तक में बिकी; अब आज-काल (सन् १९५७) प्राय: ७०) का सावरेन, और प्राय १८०) रुपये की एक सेर चाँदी हो रही है।

संपन्न घरों की स्त्रियों मे पर्दा अत्यन्त था, उत्तर प्रदेश और बिहार मे, हिन्दुओं में; और मुसलमानों मे तो उस से भी अधिक। पंजाब, बंगाल, दक्षिण भारत की स्त्रियों मे न पहिले था, न अब है; अब तो लाखों लड़कियाँ, समग्र भारत मे, स्कूल कौलिजों मे पढ़ती हैं, लड़कों से अधिक बुद्धि और विद्या का परिचय देती हैं; ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, आदि देशों मे अच्छी-अच्छी डिग्री प्राप्त करती हैं। पर्दा तो एकदम उठ गया है, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में भी; यह महात्मा गाँधी के सत्याग्रह आन्दोलन का प्रभाव है। काशी की 'असूर्यंपश्या' गलियों मे, पाँच-

पाँच छः-छः सहस्र 'असूर्यंपश्या' स्त्रियाँ, एक दिन मे पर्दा छोड़ कर, टौनहाल के मैदान मे जा कर एकत्र हुईं, और जवाहिरलाल जी की माता श्रीमती सरूप रानी, तथा मालवीय जी, तथा इस लेखक, के व्याख्यानों को उन्हों ने ध्यान से सुना। अब मुसलमानों मे भी कम होता जा रहा है। अकबर इलाहाबादी का प्रसिद्ध पद्य है :—

स्टेशन पै नज़र आईं जो चंद बीबियाँ
अदब से मैं ने पूछा कि पर्दा क्या हुआ ?
मुस्किरा के बोलीं, मालूम नहीं है आप को ?
थरसा हुआ वो मर्दों की अक्ल पै पड़ गया !

समुद्र-यात्रा की दशा यह है कि जहाँ पचास साठ वर्ष पहिले तक, जिस ने समुद्र-यायी वहित्र पर पैर रक्खा उसे तत्काल "जात बाहर" किया। अब तो महामहोपाध्यायों के, और बिरादरियों के चौधरियों के, पुत्र दूर-दूर देश जाते हैं और विद्या और शिल्प-कला सीख कर आते हैं, और बिरादरी मे आदर सत्कार पाते हैं। छूत-छात के विषय मे, 'हिंदू-दास' की ढाई सहस्र जात्युपजात्युपोपजातियों में, जिस अनन्त परस्पर भेद के कारण, एक सहस्र वर्ष तक, अर्थात् महाराज हर्षवर्धन गुप्त के निधन से ले कर सन् १९४७ तक, विदेशियों विधर्मियों की जूतियाँ खाते रहे हैं, अब पढ़े लिखे वर्ग मे, यह छूत-छात प्रायः मिट गयी है; सह-भोजन का पूछना क्या, सहस्रों "असवर्ण" कहलाने वाले विवाह, पर जो ही सच्चे सवर्ण हैं, 'समान-शील-व्यसनेषु सख्यं' न्याय से, हो गये हैं, और होते जाते हैं। "हरिजनों" के विषय मे बहुत लिख बोल चुका हूँ, अब उस को यहाँ पुनः दुहराना नहीं चाहता, केवल इतना ही कह कर संतोष करूँगा कि हमारे नये शासक, नेक-नीयत होते हुए भी, कई अच्छे कार्य देश-हित के लिये आरंभ करते हुए भी, कई भारी भूलें भी कर चुके हैं, और करते जाते हैं; उन मे एक यह है कि 'हरिजनों' को मंदिरों मे बलात् प्रवेश कराने के लिये कहीं-कहीं मैजिस्ट्रेट, पुलिस, आदि की सहायता लेते हैं; जिस का फल यह है कि "हरिजन" कहलाने वाले

वर्ग मे, जिन मे ही प्राय: दो सहस्र से ही अधिक जात्युपजातियाँ हैं, और जो परस्पर विवाह संबंध नहीं ही करते, न सहभोजन, उद्दंडता बढ़ती जाती है, और स्थान-स्थान पर मारपीट हो जाने की शंका उत्पन्न हो गयी है। वेष-भूषा मे भी प्रचुर परिवर्तन हुआ है; कश्मीर तथा अन्य हिम-प्रधान पर्वतीय बस्तियों को छोड़ कर, प्राय: समग्र भारत मे, हिन्दुओं मे भी और मुस्लिमों मे भी, स्त्रियाँ शाटी, साड़ी, पहिनने लगी हैं, आभरण भी बहुत हल्के सूफ़ियाने और थोड़े हो गये हैं, यथा कानों मे भारी तर्की के स्थान मे "इयरिंग" विविध प्रकार की, कलाई मे मोटे-मोटे सोने के कड़ों के स्थान मे पतली स्वर्ण की जड़ाऊँ चूड़ियाँ, एवं कलाई घड़ी आदि; पैर के मोटे-मोटे चाँदी के कड़े, छड़े, पाज़ेब आदि प्राय: सर्वथा उठ गये हैं। पाश्चात्य शिक्षा पाये पुरुष प्राय: अंग्रेज़ी काट के वस्त्र, कोट, पतलून, नेक-टाइ, आदि पहिनते हैं; घर के बाहर; भीतर, चाहे अपनी पुरानी चाल की धोती पहिनें। साठ सत्तर वर्ष के पहिले जाड़ों मे रुई भरे कपड़े पहिने जाते थे, अब ऊनी कपड़ों का युग है। एक गुण तो एक दोष; रुई भरे कपड़ों मे कीड़े नहीं लगते थे, पर दो तीन वर्ष मे उन की गर्मी निकल जाती थी; ऊनी कपड़ों मे कीड़े बहुत लगते हैं, किन्तु यदि इनसे रक्षा हो सके तो बीस-बीस तीस-तीस वर्षों तक अच्छा काम देते हैं। ऐसे परिवर्तनों का तो वर्णन कई-कई घंटों और दिनो मे भी समाप्त न हो, अत: अब समाप्त करना ही उचित है।

यह रूप-रेखा मात्र लिख दिया है। छोटी-छोटी विशेष बातें, अपने अनुभव की लिखी जायँ, तो उन्ही से कई सौ पृष्ठ भर जायँ। किंतु उन से कोई विशेष अर्थ-लाभ नहीं; और पाठकों को भी रुचिकर न होंगी; तौ भी, आगे आने वाले निबंधों मे अपने अन्य अनुभवों और इति-वृत्तों की चर्चा की जायगी।

हिंदू प्रभुता के विनाश के कारण

("आज", सौर २५ भाद्रपद, संवत् १९८४ वि०, से उद्‌धृत)

श्री चिंतामणि विनायक वैद्य ने भारतवर्ष का इतिहास, ईसाई सन् ६०० से १२०० तक का, तीन बड़ी जिल्दों में, अंग्रेज़ी भाषा मे लिखा है। बड़ी विद्वत्ता और खोज का ग्रन्थ है। उस के अन्त मे उन्हों ने विस्तार से विचार किया है कि भारतवर्ष मे हिंदू प्रभुता का विनाश किन कारणो से हुआ।

दो कारण मुख्य कहे हैं—(१) क्षत्रिय राजाओं मे परस्पर द्रोह संघर्ष स्पर्द्धा और युद्ध की वृद्धि, और बल का क्षय। (२) चार मुख्य वर्णो मे अनन्त जात्युपजातियों की उत्पत्ति और परस्पर भेद-भाव और दुराव-बराव की वृद्धि, तथा परस्पर स्नेह और संघभाव और सामाजिक अंगांगिता और अन्योन्य-सहायकता की हानि। उपकारणो में वैद्य जी ने ये गिने हैं। (३) राष्ट्रीयबुद्धि, "फ़ीलिङ् आफ़ नैशनालिटी", का अभाव। अर्थात् केवल क्षत्रियजाति-नाम-वाले ही युद्ध करें, और जीतें तो राज्य करें, नहीं तो जो उन को जीतें वे ही खुशी से मनमाना राज्य करें, शेष हिंदू दासों के लिये तो

कोउ नृप होउ, हमहिं का हानी,
चेरी छाँड़ि न होउब रानी,

—इस बुद्धि का भाव; तथा यह समस्त हिन्दुओं का, आर्यों का, राष्ट्र है, देश है, समाज है, हिन्दू सभ्यता का वास-स्थान है—इस बुद्धि का अभाव; राष्ट्रीय संघ-बुद्धि के लोप से, और इस बुद्धि के उदय से, कि

देश तो राजा की निजी जायदाद है, देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति और समाजभक्ति के स्थान मे अतिशय राजभक्ति की वृद्धि, तथा राजा तो परमेश्वर ही है, प्रजा का मालिक है, कर्ता, धर्ता, संहर्ता है—इस विपरीत बुद्धि की वृद्धि; तथा, यह कि प्रजा के ज्ञानी निःस्वार्थी वृद्धों द्वारा नियुक्त किया हुआ, राजा तो केवल वेतन पानेवाला, तनख़ाहदार, अधिकारी, पहरुवा, चौकीदार, नौकर, रक्षक है, यथा,

प्रजानां पालनात् राजा विष्णोः अंशः प्रकीर्त्तितः ;
स्व-भाग-भृत्या दासत्वे प्रजाभिः तु नृपः कृतः। (शुक्रनीति)
ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुः हि द्वारपालः नियोजितः। (भागवत)

—इस सत्य बुद्धि की हानि। और इसी कारण से विश्वासघात, वैयक्तिक राजद्रोह, दग़ाबाज़ी, बन्धुओं का दुश्मन से मिल जाना, किसी क्रोध से, अथवा इस लोभ से, कि वर्तमान देश के मालिक से मिल्कीयत छीनकर मुझ को मिल जाय, इस दुर्भाव और दुष्कर्म का अधिकाधिक सम्भव। (४) विदेशियों और विधर्मियों को, बिना किसी रोक-टोक के, बिना किसी नियमन नियन्त्रण के, यथेष्ट आ कर इस देश में बस जाने देना, और अपने न्यायालय भी बना लेने देना। (५) इस अन्ध विश्वास का प्रसार, कि यह समय कलियुग है, और कलियुग में धर्म का नाश होगा ही, और सब प्रकार का ह्रास भी अवश्य होगा ही, इस लिये रक्षा और उत्कर्ष का प्रयत्न करना व्यर्थ है। (६) बौद्ध-जैन-संस्कार-कृत अहिंसा-भाव की अति वृद्धि, और आत्म-रक्षा मे भी कायरता, जिस के विरुद्ध मनु की स्पष्ट आज्ञा है,

गुरुं वा, बालवृद्धौ वा, ब्राह्मणं वा बहुश्रुतं,
आततायिनं आयान्तं हन्यात् एवाऽविचारयन्।

अर्थात् हत्या करने की नीयत से जो दौड़े उस को विना विचारे मार देना चाहिये, चाहे गुरु हो, चाहे बालक हो, चाहे वृद्ध हो, चाहे बहुत पढ़ा-लिखा भी ब्राह्मण हो ("पीनल कोड" आजकाल का भी यही इजाज़त, अनुज्ञा, देता है)। और (७) वैष्णव-शैव-जैन आदि मतों के परस्पर

विरोध की, तथा परस्पर विरोध-कृत भोजन और विवाह मे दुराव-बराव की वृद्धि। तथा (८) मठों, विहारों, और भिक्षाजीवियों की, आलसी मुफ़्तख़ोरों की, अति वृद्धि। (९) राजाओं का गहिरी विद्याओं की ओर से विमुख होना, और एक मात्र शृङ्गार और नायिका-भेद आदि की थोथी कविता मे लीन होना। इत्यादि।

यह तो हुआ एक विद्वान् वृद्ध हिन्दू, जात्या तथा कर्मणा ब्राह्मण, का मत।

एक अँग्रेज ईसाई वृद्ध अनुभवी विद्वान्, सर विन्सेन्ट स्मिथ, का भी मत, मुख्य कारण के विषय मे, यही है। गवर्मेण्ट की नौकरी से इस देश में, संयुक्त प्रान्त (अब उत्तरप्रदेश) मे, प्रायः तीस वर्ष तक रहे। इस सम्बन्ध से देश की अवस्था का इन को साक्षात् अनुभव भी हुआ, और भारतीय प्राचीन इतिहास के भी बड़े व्यसनी थे। "प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास", "भारतीय ललित कला का इतिहास", "अकबर का इतिहास", इत्यादि कई ग्रन्थ लिखे। परिपक्व ज्ञान से पूर्ण, प्राचीन-नवीन-इतिहास का संग्राहक, "भारतवर्ष का इतिहास" नामक, इन का प्रायः अन्तिम ग्रन्थ सन् १९१९ में छपा। इस विषय के ग्रन्थों मे ऐसे सर्वाङ्गीण और प्रामाणिक ग्रंथ दूसरे अब तक प्रायः नहीं उपलभ्य हैं। स्मिथ महाशय ने इस ग्रंथ मे पुनः पुनः लिखा है कि भारतीय योधा, शूरता मे किसी से कम न हो कर, सिकन्दर के, महमूद ग़ज़नवी के, महमूद ग़ोरी के, बाबर के, अहमदशाह दुर्रानी के, मुक़ाबिले, जो हार गये, उस का मुख्य कारण यही था कि जात पाँत के भेदों के कारण उन का संग्रन्थन, व्यूहन, ठीक ठीक नहीं हो सकता था। और, एक व्यक्ति पर अत्यंत भक्ति और भरोसा होने से, सेनापति के मारे जाने के साथ ही सब सेना भाग चलती थी। स्मिथ महाशय ने पश्चिम के अन्य विद्वानो के मत का भी उद्धरण किया है, कि जात्युपजातियों के भेदभाव से इस देश की भारी दुर्दशा हुई है। श्री स्मिथ ने यह भी एक बड़े पते की बात कही है, कि हिन्दू सेनापति लोग, "शास्त्रों" की लकीर के फ़क़ीर होते

थे, पोथियों में लिखे क़ायदों, क्या शब्दों, की पाबन्दी आँख बन्द कर के करना चाहते थे, (अर्थात् "चतुरंग" सेना, और क्रौंचव्यूह, शकटव्यूह, चक्रव्यूह आदि की ही लकीर पीटते थे), जिन की पाबन्दी विदेशी विध्वंसक कुछ भी नहीं करते थे, अत्यन्त नयी नयी तर्कीबों से, प्रकारों से, लड़ते थे, और उन नये उपायों और प्रकारों को रद्द करने के लिये भारतीय सेनापति, अपनी बुद्धि पर भरोसा न कर के, नये उपाय नहीं निकाल सकते थे। जब अपनी बुद्धि दुर्बल होती है तभी "शास्त्रों" पर, दूसरों की बुद्धि पर, अति श्रद्धा और अंध श्रद्धा बढ़ती है, और, साथ ही साथ, वह दुर्बल बुद्धि प्राचीनो के शब्दों का अर्थ भी ठीक नहीं समझती, और उन के उत्तम सिद्धान्तों का बेमौक़े, अस्थाने और अनवसरे, और अनुचित, प्रयोग करती है।

श्री वैद्य महाशय ने यह बात दिखाने का यत्न किया है कि चार मुख्य वर्णो (अर्थात् पेशों या रोज़गारों) में सन् १००० ईसवी के आस पास तक इतना बराव-दुराव नहीं था। मानव वंश के आदि काल मे क्षत्रिय राजाओं मे और ब्राह्मण ऋषियों मे परस्पर कन्या लेना देना दोनो ओर से होता ही था—

कर्दमस्यात्मजां कन्यामुपयेमे प्रियव्रतः। (विष्णुपुराण)

पौराणिक काल मे और महाभारत के समय मे भी ऐसा था। क़ीचक-वंश की उत्पत्ति मे विराट पर्व मे इस का सविस्तर वर्णन है। तथा बहुधा वर्ण-परिवर्तन के भी उदाहरण पुराणो और इतिहासों मे दिये हैं। और, जैसा वैद्य महाशय ने दिखाया है, विक्रम संवत् की छठी सातवीं शताब्दी तक भी क्षत्रिय कुलों के और वैश्य कुलों के विवाह संबंध होते रहे। यथा चीनी यात्री ह्यअन्त्साँग के सत्कारक, 'कादम्बरी'-रचयिता बाणभट्ट के आश्रयदाता, तत्कृत 'हर्षचरित' के नायक, स्थाने(ण्वी)श्वर के महाराज सम्राट् हर्षवर्धन (वैश्य) और मगध-उज्जयिनी आदि के गुप्त-वंशीय महाराज (वैश्य) और कान्यकुब्ज (कन्नौज) के महाराज (मौखरि-वंशीय क्षत्रिय) के परस्पर विवाह-संबंध हुए। पर इस समय के पीछे,

अर्थात् १००० ई० के बाद, दो सौ वर्ष के भीतर, अर्थात् १२०० ई० तक, जात्युपजातियों की शाखा प्रशाखा, विशेष -कारणों से बहुत बढ़ीं, जैसे बरसात मे जंगली घासें और पौधे, और उन मे परस्पर अस्पृश्यता का भाव भी बहुत दृढ़ हो गया। सिंध प्रांत को छोड़ कर, जो पहिले ही ध्वस्त हो चुका था, अर्थात् सन् ७०० ईसवी के आस-पास, शेष भारत-वर्ष की हिन्दू प्रभुता का अधःपात और विदेशियों और विधर्मियों की प्रभुता का आरम्भ भी प्रायः सन् १२०० ईसवी के पीछे ही हुआ। महमूद ग़ज़नी के थोड़ा पहिले तो काबुल मे भी हिन्दू राज था। वह सारा देश जो अब अफ़ग़ानिस्तान के नाम से प्रसिद्ध है, पहिले गांधार आदि नामो से प्रसिद्ध था, राजधानियाँ पुरुषपुर (= पेशौर), उदभांड (= वाहिंद), आदि थीं, और वहाँ के निवासी सब हिन्दू थे, जो आज-काल के अफ़ग़ानी मुसलमानो के पूर्वपुरुष थे। महमूद ग़ज़नी के कुछ पहिले, इस गांधार आदि देश मे (ब्राह्मण वर्ण के) पाल-वंश और (क्षत्रिय वर्ण के) शाहीवंश के राजा थे। अभी, संवत् १९८४ मे, पश्चिम के वैज्ञानिकों को मेक्सिको में कुछ पुरानी बुद्धमूर्त्तियाँ तथा अन्य वस्तु मिली हैं, तथा चीन देश मे पुराने ग्रंथ मिले हैं, जिन से सिद्ध होता है कि ईसा की चौथी-पाँचवीं सदी मे काबुल प्रांत के कई बौद्ध भिक्षु, जिन मे से एक मुख्य का चीनी नाम ह्यूशिन था, समुद्र पार कर के अमेरिका गये और वहाँ उन्हों ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। आधुनिक गवेषक वैज्ञानिक ने तो यहाँ तक उद्भावना की है कि "ग्वाटेमाला" नाम, जो इस समय अमेरिका के एक प्रांत का है, वह "गौतमालय" का अपभ्रंश है, जो नामकरण उस देश का "ह्यूशिन" ने किया था। तथा और भी कई नाम उस ने ऐसे ही "शाक्य" आदि से संबंध रखने वाले बताये हैं, यथा "योगस्थान" बदल कर "युकातान" हो गया है।

इन सब बातों का निचोड़ यह है कि ईसवी सन् १००० के आसपास से हिन्दू समाज पर अंतरात्मा का कोप हुआ, और उस की बुद्धि अधिकाधिक दुर्बल और भ्रष्ट होती गयी, और उस मे "मत–छू" भाव

का प्रेत अधिकाधिक आविष्ट प्रविष्ट होता गया। पहिले ही महा-संघ-बुद्धि, महा-समाज-बुद्धि, महा-राष्ट्र-बुद्धि, कम हो रही थी, अब तो सर्वथा ही तितर बितर हो गयी। बुद्ध देव ने यही सबक़, शिक्षा, सिखाया था, देश को यही पाठ पढ़ाया था, कि, "बुद्धं (= बुद्धिमंतं = सद्बुद्धि) शरणं गच्छामि, धर्मं (= सद्बुद्ध्या निश्चितं समाज-धारकं बुद्धिसंमतं, वैज्ञानिकं, ज्ञानं, आचारं, नियमं) शरणं गच्छामि, संघं (= महाजन-बुद्धि-संग्रंथितं महासमाजं) शरणं गच्छामि।" वह सब पाठ भूल गया। कृष्ण ने भी यही सिखाया था, "बुद्धौ शरणं अन्विच्छ।" वह सब सिखवन भूल गयी। गंदगी से बचो, मैली वस्तु को मत छूओ, यह तो भूल गया। जात के नाम से परहेज़ करो, दूसरी जाति का नाम रखने वाले को मत छूओ, यही सीख लिया।

यं तु हिंसितुं इच्छंति, न देवाः पशुमारवत्,
दण्डं आदाय हिंसंति; दुर्बुद्ध्या योजयंति तम्।

देवता जिस का नाश करना चाहते हैं उस को शस्त्र लेकर नहीं मारते, किन्तु उस की बुद्धि बिगाड़ देते हैं, जिस से वह आप अपना नाश कर लेता है।

"बुद्धिनाशात् प्रणश्यति", "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः"।
वैद्य महाशय के लिखे हुए सब कारणो और उपकारणो का मूल रूप इतना ही है।

अधर्मं धर्मं इति या मन्यते तमसाऽऽवृता,
सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा, पार्थ !, तामसी। (गीता)

अधर्म को धर्म, धर्म को अधर्म, सब बातों को उलटा, जो समझे वह बुद्धि तामसी। हिन्दू धर्म के नेता, और उन की नक़ल, अनुसृति, कर के उन के अनुयायी, कार्य को कारण और कारण को कार्य समझने लग गये। वर्ण का अस्ल मतलब, तात्विक आशय, "व्रियते, स्वीक्रियते, जीविकार्थं, वृत्त्युपायः, वर्णः, वरणात्", रोजगार, पेशा, तो भूल गया। "जन्मना एव वर्णः" पैदाइशी जाति, यही दुराग्रह उस के स्थान मे रह गया। दूसरी

जाति का छूआ स्वच्छ पदार्थ भी न खाना, अपनी जात का छूआ मलिन पदार्थ भी खाना, यही परम धर्म हो गया। शत्रु की फ़ौज सिर पर दौड़ी आती है, यहाँ सात कनौजिये नौ चूल्हों पर अलग अलग रोटियाँ सेंक रहे हैं। ऊपर से लाठियाँ पड़ीं, सिर भी फूटे, रोटियाँ भी छिन गयीं, और उन रोटियों को दुश्मनों ने खुश हो कर खाया, पकाने के तरद्दुद से बचे, और रोटी बनाने वालों को गुलाम बनाने के लिये अधिक पुष्ट हुए।

जो बात वैद्य महाशय ने और स्मिथ महाशय ने बड़ी पोथियों मे विस्तार से लिखा है, उस का सत्तसार, लुब्बोलुबाब, बलूचिस्तान के देहाती गँवारों ने एक छोटी सी कहावत मे निचोड़ कर रख दिया है। बलूचिस्तान मे कहावत प्रसिद्ध है कि "मुसलमान अपने दुश्मन को मारता है, हिन्दू अपने दोस्त को"।

मूल कारण, इस सब का, तामसी बुद्धि, तामसी अहंकार—'मेरे ऐसा पवित्र कोई दूसरा नहीं', यद्यपि उसी पंचतत्त्व से, उसी हाड़ माँस लोहू से, उसी मलमूत्र से, मेरा भी शरीर बना है, और तेरा भी, और भेद इतना ही है कि सफ़ाई करने से ऊपर से साफ़ स्वच्छ जान पड़ता है, और न करने से ऊपर से भी गंदा हो जाता है, भीतर से तो सदा है ही।

स्थानाद्, बीजाद्, उपष्टम्भात्, निस्स्यन्दात्, निधनात् अपि,
कायं आधेय-शौचत्वात्, पंडिताः हि अशुचिं विदुः। (योग-भाष्य)

ब्याह शादी मे तो और भी दुराव-बराव देख पड़ता है। केवल जाति-नाम देखा जाता है। शरीर की शुचिता, स्वस्थता, रंग, रूप, बल, शोभा, सौंदर्य, वंश की दीर्घायुता, नीरोगता, और वर-वधू की प्रकृति की, स्वभाव की, समता और सौम्यता, जिन्हीं का देखना विचारना आवश्यक है, वह सब प्रायः नहीं देखा जाता है।

फल यह कि आहार-सम्बन्ध और यौन-सम्बन्ध, रोटी और बेटी, जो ही दो मुख्य प्राण-संबन्ध हैं, जिन्हीं से संहनन, संघात, संघत्व, संग्रंथन, संगठन, संघटन बढ़ता है, वे ही लुप्त हो गये।

जाति उपजाति की अनंत वृद्धि के साथ साथ देवी देवताओं की भी अनंत वृद्धि हुई। प्रत्येक पुरुष, प्रत्येक स्त्री, के 'ठाकुर जी' अलग। वह अपने देवता की बड़ाई, नाज़ व नखरे व जोश व गुस्से से, कर रहे हैं, वह अपने की। और कोई हेतु लड़ने का नहीं तो यही सही। और इतना ही नहीं। अलग अलग भी एक एक देवता नहीं। एक एक आदमी बहुत बहुत देवताओं के आगे सिर झुकाने को, पूजा चढ़ाने को, मन्नत मानने को तैयार। साथ साथ छोटी छोटी व्यर्थ रीति-रस्मो की, देवपूजा और ब्याह-शादी आदि मे कर्मकाण्ड की, तंत्र-मंत्र की, बहुतायत हुई। मूर्ति को सामने रखने का असल मतलब भूल गया, कि चित्त को एकाग्र करने में सहायता मिले,

तत् श्रूयतां अनाधारा धारणा न उपपद्यते।

धारणा के आधार के लिए कोई भी एक वस्तु काम दे सकती है। हाँ, यदि सुन्दर हो, चित्ताकर्षक हो, तो और भी एकाग्रता मे सहायता मिलती है।

यथाऽभिमतध्यानाद् वा। (योगसूत्र)

—यह सब तो भूल गया, पूजा होने लगी। ईंट, पत्थर, लकड़ी, लोहा, पेड़, पानी, बंदर, बिल्ली, गाय, बैल, चूहा, साँप की पूजा होने लगी। और पूजा का भी 'स्वरूप' क्या? उन पर रोली, माला, अक्षत, चन्दन, फूल, फल, पान चढ़ाया जाने लगा। 'हिन्दू दास' की बुद्धि ऐसी कुण्ठित की गई, ऐसी मूर्ख बनायी गयी, उस पर सचमुच ऐसा पत्थर पड़ा, कि सड़क पर मील के पत्थरों की (माइल-स्टोन् की) भी पूजा करने लगे। मैं ने, अपनी आँखों, राह-चलते गँवारों को मील के पत्थरों पर फूल माला रोली चावल पानी चढ़ाते देखा है। इतने देवी देवता से पूरा न पड़ा तो औलिया की तकिया, शहीद बाबा की क़ब्र, और फ़क़ीर के झंडे भी पूजने लगे। "बीर के थान" और "पीर की क़बर" और "गाज़ी मियां के मेला" आदि मे 'हिन्दू दासों' की हज़ारों स्त्रियाँ हबुआने और पूजा चढ़ाने और मनौती मानने और उतारने को जाने लगीं, यद्यपि मुसलमानो

की स्त्रियाँ पीर की क़बर पर और ग़ाज़ी मियां के मेले से नहीं जातीं। हिन्दू लोग शिकायत करते हैं कि आग़ाख़ानी लोग और निज़ामियानी दूत हिन्दुओं को धोखा दे कर, बहँका कर, मुसल्मान बनाते हैं। हे हिन्दू भाई! जितना धोखा, जान-बूझकर, या स्वयं मूर्ख होने के कारण, आप के पण्डित, पाधा, पुरोहित, पुजारी, पण्डा, आप को देते हैं, क्या उस से अधिक धोखा ये दूसरे लोग देते हैं? काँइये आदमी, अपनी होशियारी की शेखी मे, कहा करते हैं कि मेरा उल्लू कहीं नहीं गया। तो देखिये कि आग़ाख़ानियों और निज़ामियानियों और क़ादियानियों और वहाबियानियों और पादरियों के यहाँ आप का शिकार गया, और रोज़ रोज़ जा रहा है। और ठीक गया और जा रहा है। आपकी ग़ुलामी से उन की ग़ुलामी मे शायद उस को कुछ कम ही तकलीफ़ होगी।

निश्चय से ऐतिहासिक अनुगम कर लेना तो कठिन है, पर प्रायः देखा जाता है कि बहुत से देवी-देवताओं के आगे सिर झुकाने की प्रकृति जिस 'मनुष्य-झुण्ड' की (उस को समाज का आदरणीय नाम देना तो अनुचित-सा जान पड़ता है) होती है, वह भीरु, डरपोक, कायर होता है, और मनुष्यों मे भी जिस किसी को कुछ भी अधिक बलवान् देखता है उस के आगे सिर झुकाने को, उस की ख़ुशामद करने को, तैयार हो जाता है। जिस देश मे ऐसा झुण्ड रहता है, उस मे छोटे छोटे राजा बहुत से हो जाते हैं, प्रत्येक राजा की प्रजा के सब ही वर्ग राजाश्रित हो कर ही रहते हैं, अपने पैर पर खड़े होने की स्वतन्त्र सत्ता ही उन मे नहीं होती, और कवि तो प्रायः राजा का मुँह देखते, और भाट का काम करते हैं, राजस तामस काम क्रोध अहंकार आदि दुर्भाव-वर्धक कविता मे राजाओं को मग्न करते हैं, बजाय इस के कि राजा को अच्छी सलाह, परामर्श, दें, और देश-नाशक उद्दंडता और निष्कारण युद्धों और ऐयाशियों से रोकें। ये छोटे छोटे राजा इन ख़ुशामदों से उत्तेजित हो कर, गर्व और ईर्ष्या के वश, नित्य आपस मे लड़ा करते हैं। अथवा भोग-विलास मे मग्न हो जाते हैं, प्रजा को पनपने नहीं देते, उलटे तरह तरह

की पीड़ा देते रहते हैं। ऐसे ही मनुष्य-झुण्डों मे बहुविवाह की भी प्रथा प्रायः देख पड़ती है, जैसी पशुओं मे। और अन्धविश्वास भी ऐसे झुंडों मे बहुत देख पड़ते हैं। अर्थात् भेद-बुद्धि, नानात्व-बुद्धि, अपनी-अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाने की बुद्धि, स्वार्थांधता, कापुरुषता, भीरुता, बहुदेवपूजा, बहुस्त्रीविवाह, बहुराजकता, परराजकता, बहु-अन्धविश्वासिता, बहुतन्त्रमन्त्रता, बहुजात्युपजातिता, बहुदलादलिता, बहुवर्ग-प्रशंसिता इत्यादि अनेकता-बुद्धि सब साथ ही साथ चलती हैं।

इस के विरुद्ध, "एको देव: केशवो वा, शिवो वा" भी नहीं, एक ही अन्तरात्मा, परमात्मा, सर्वव्यापी के ऊपर विश्वास, और उसी की सहजावस्था से पूजा, जिस मनुष्य-व्यूह मे है, उस मे एकसमाजता, एकसंघता, एकधर्मता, महाजनबुद्धि-नियन्त्रित एकराजता, स्वराजता, एकविवाह, वीरता, निस्स्वार्थता, व्यापारभेद से वर्गभेद श्रेणीभेद पौरजानपदादिभेद होते हुए भी मनुष्यत्वेन एकता, अभेदबुद्धि, परस्पर-सहायताबुद्धि, एकताबुद्धि, यह सब भी प्रायः साथ ही चलती हैं।

भारतवर्ष के इतिहास मे बुद्धदेवकृत धर्मोद्धार और संस्कार के पहिले की और पीछे की अवस्था देखिये। तथा रोम साम्राज्य के इतिहास मे ईसाई धर्म के प्रवेश के पहिले की और पीछे की अवस्था। तथा अरबिस्तान के इतिहास मे इस्लाम धर्म के उदय के पहिले की और पीछे की अवस्था। तथा यूरोप के अर्वाचीन इतिहास मे मार्टिन-लूथर-कृत धर्मसंस्करण के पहिले की और पीछे की अवस्था।

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद सन् ५७० ई० मे पैदा हुए; उस वक़्त मक्का मे बहुत से मंदिर, ऐसे ही देवी देवों के, थे। और खास काबा के मन्दिर मे, जो वहाँ सब से प्राचीन गिना जाता है, तीन सौ से ऊपर मूर्तियाँ रखी थीं। और अरबों की भी वही हालत हो रही थी जो आजकाल हिन्दू-दासों की है। छोटे छोटे सैंकड़ों "क़बीले" अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाते, अपनी अपनी शेखी अलग बघारते, आपस मे लड़ते भिड़ते। मुहम्मद ने चालीस वर्ष की उम्र तक यह देखा, फिर निश्चय

किया कि यों देश का और क़ौम का भला नहीं। आखिर लड़ झगड़ कर सब मंदिर और मूरतें तुड़वायीं, एक मंदिर, काबा का, "अल्लाहो अकबर" का (अकबर = सब से बड़ा, अल्ला = देव), महा-देव का, परम ईश्वर का, बचा रखा, और बन्दोबस्त किया कि उसी को सब मुसल्मान पूजें। अर्थात् उस मन्दिर के अहाते के अन्दर जमज़म् कुण्ड के पानी से हाथ पैर मुह धो कर, सब कपड़े उतार कर, धोती उपर्ना पहिन कर, काबा की कोठरी की परिक्रमा कर के, उस कोठरी के भीतर रखे हुए, महादेव के पिण्ड के समान, अनगढ़ काले पत्थर, हज्रुल्-अस्वद्, को, हाजी यात्री चूमें, और उस के पास बैठकर नमाज़ पढ़ें। तब अरब जाति मे इतना एका और इतना बल पैदा हुआ कि, एक बार, पूरब मे चीन और पश्चिम मे स्पेन तक उस का राज छा गया। पर अतिहिंसा, अतिक्रूरता, अतिलोभ, अतिलूट, अतिधर्माग्रह, और अन्त मे अतिक़ब्र-परस्ती और अति इन्द्रियलोलुपता आदि की तामसी दुर्बुद्धि उस मे भी बढ़ी, और उस का भी अधःपात हुआ और होता ही जाता है, जैसे हिन्दुओं का अतिदम्भ, अतिभीरुता, और अतिभेदबुद्धि से।[१]

[नोट–१–किंतु, प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात्, अवस्था बहुत बदल गई है, तुर्की का स्वतन्त्र जन-तन्त्र (रिपब्लिक) राष्ट्र हो गया है; ईरान का राजवंश बदल गया है; इब्नसऊद और अब उन के पुत्र, जो भी सऊद ही कहलाते हैं, बड़े प्रतापी और नीतिकुशल राजा हैं, जिन्हों ने इस्लाम की क़ब्र-पूजा मिटाने का यत्न किया है, 'वहाबी' नाम से, इस्लाम-धर्म का परिष्कार (रिफ़ार्म) करने का यत्न किया है, जैसा बुद्धदेव ने भ्रष्ट सनातन-धर्म का जीर्णोद्धार किया; ये 'सऊदी अरब' के राजा हैं; एवं एराक, जार्डन, यमन मे शाह अर्थात् राजा, तथा ईजिप्ट मे 'रिपब्लिक', हो गये हैं। इन सब का एक गुट्ट वा दल बनाने के यत्न हो रहे हैं, किन्तु अभी तक सब एक-मत नहीं हो सके हैं। तथा ब्रिटेन की सर्कार ने, (शाम, फ़िलिस्तीन, आदि मे) 'इस्राइल' नाम से एक यहूदी रिपब्लिक बनवा दी है, जिस की राजधानी वा शासन केन्द्र

"तेल अवीव' नाम का नगर है, और यहूदियों और अरबों से आये दिन मुठभेड़ और मार काट होती रहती है। सुदूर पूर्व में, कोरिया में भी युद्ध चलता ही रहता है। तृतीय विश्व-युद्ध की तयारी अलग हो रही है, ऐसे यन्त्रों से जिन में "हाइड्रोजेन-बाम्ब" से भी शतगुण अधिक विनाश-कारक शक्ति कही जाती है। इन प्रतिद्वन्दियों में मुख्य, इस समय, एक ओर यु. स्टे. अमेरिका और ब्रिटेन, तथा दूसरी ओर रूस हैं। दोनों पक्ष भली भाँति जानते हैं कि यदि तृतीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ, तो पृथ्वी-तल पर किसी भी प्राणी का जीवित बचना कठिन होगा। इसी से युद्ध रुका है। "परस्पर-भयात् केचित् पापाः पापं न कुर्वते"। किन्तु प्रतिदिन वर्धमान सेनाओं का भार पृथ्वी कै दिन सह सकेगी ? ऐसे ही कारणों से, आज (संवत् २०१४ वि०, सन् १९५७ ई०) से प्रायः पाँच सहस्र और चौअन (५०५४) वर्ष पहले 'महाभारत' युद्ध हुआ, जिस का आँख देखा वर्णन कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास ने, उसी नाम के लक्ष-श्लोक-आत्मक ग्रन्थ में लिखा और लिखवाया। प्रकृति देवता ने सब सामग्री, सुख से जीवन का निर्वाह करने की, दी है, यदि परस्पर स्नेह हो। किंतु, नहीं, 'अविद्या' देवी, 'मूर्खता' देवी, बहुत प्रबल हैं; उन की पुत्री 'अस्मिता', अहंकार, पंचतत्त्वों से बने नश्वर शरीर में 'अहं'—भाव, तज्जनित काम, काम के व्याघात से उत्पन्न क्रोध, और परस्पर मार-काट! यही 'इतिहास', पुनः पुनः होता रहता है, और 'महा-माया' देवी का कार्य कभी समाप्त नहीं होता।—नोट समाप्त]

निष्कर्ष यह कि प्रचलित हिंदू धर्म भी, और इस्लाम धर्म भी, और ईसा धर्म भी (पर औरों से कम) और हिन्दू धर्म की शाखा प्रशाखा, बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त, सिख आदि भी, और अनन्त पन्थ दर पंथ भी, सब काल के प्रवाह से सड़ गये हैं, जीर्ण शीर्ण हो गये हैं। इन सबके जीर्णोद्धार की परम आवश्यकता है। नये अवतार तो जब आवेंगे, तब आवेंगे, पर तब तक हम लोगों को हाथ पर हाथ दे कर, उसकी प्रतीक्षा करते हुए, बैठे रहने की कोई विवशता नहीं। अपनी *आत्मा* पर,

अपनी बुद्धि पर, भरोसा करना चाहिये । बहुतेरे अवतारों के गुरु, गुरुओं के गुरु, मनु और कृष्ण, कह गये हैं ।

आत्मैव देवताः सर्वाः, सर्वम् आत्मनि अवस्थितम् ।
उद्धरेत् आत्मनाऽत्मानं, नऽात्मानं अवसादयेत् ।
आत्मा एव हि आत्मनः बन्धुः, आत्मा एव रिपुः आत्मनः ।
बुद्धौ शरणं अन्विच्छ, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याकार्ये भयाभये,
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः, सा, पार्थ !, सात्विकी ।

"मै", आत्मा, ही सब देवता है, आत्मा मे, "मै" मे, सब कुछ है । आत्मा ही आत्मा का शत्रु है, आत्मा ही आत्मा का बन्धु है । अपने से अपना उद्धार करो । अपने को ढील मत दो, नीचे मत गिरा दो, सात्विक बुद्धि की शरण लो, उसी का भरोसा करो, अन्ध-विश्वास मत करो, हेतु समझ कर काम करो । सात्विक बुद्धि वह है जो संसार के स्वरूप को जानती है, प्रवृत्ति को भी, निवृत्ति को भी, बन्ध को भी, मोक्ष को भी, कार्य को भी, अकार्य को भी, भय को भी, अभय को भी । और इस सब को ठीक ठीक जान कर उस रास्ते पर चलती चलाती है जिस से बन्धन करने वाले अकार्य छूटें, और सब दुःखों से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष मिले, और मनुष्य अभय हो जाय ।

हिन्दू जाति के अधःपात का एक मुख्य कारण यह भी है कि हिन्दू-दास, पैदा होते ही, यह सिखाये जाते हैं कि प्रतिक्षण डरते ही रहो । छींक हो जाय तो डर जाव, बिल्ली रास्ता काट जाय तो डर जाव, उल्लू बोले तो डर जाव, छिपकिली छू जाय तो डर जाव, सियार दाहिने बायें निकल जाय तो डर जाव, गिद्ध मकान पर बैठ जाय तो डर जाव, दिशा-शूल हो तो डर जाव, ज्योतिषी जी की बतायी 'साइत' न हो तो डर जाव, भूत से डर जाव, प्रेत से डर जाव, चुड़ैल से डर जाव, देवी देवता से डर जाव, फ़क़ीर भिखमंगे के कोसने से डर जाव, "बाम्हन बिसुन के सरापने से", पुलिस वाले से, सिपाही से, सरकारी नौकर

से, सब से, डर जाव—संक्षेपेण यह कि सदा थर थर काँपते रहो। भला इस तरह से जो जनता,माँ के दूध के साथ, डर ही डर पीयेगी, वह परायों की जूतियाँ खाने के सिवा और क्या कर सकेगी। यह भीरुता भी चित्त की उस तामसता का ही दूसरा स्वरूप है, जिस के कारण अनंत देवी देवता, पशुपक्षी, ईंट पत्थर, के आगे सिर झुकाया जाता है। मिथ्या लोभ, मिथ्या आशा, मिथ्या भय, यह सब साथ ही साथ चलते हैं।

यजंते सात्त्विकाः देवान्, यक्षरक्षांसि राजसाः,
प्रेतान् भूतगणान् चऽन्ये यजंते तामसा जनाः।
अंतवत् तु फलं तेषां तद् भवति अल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यांति, यांति मद्याजिनः अपि माम्। (गीता)

सात्त्विक प्रकृति के मनुष्य सात्त्विक देवों की उपासना करते हैं, राजस लोग यक्ष-राक्षसों की, तामस लोग भूत-प्रेतों की। इन पूजाओं का फल थोथा अस्थायी होता है। आत्मा की उपासना करने वाले अजर अमर परमात्मा को, सच्चे "मैं" को पाते हैं।

रोग की चिकित्सा

इस लिये, गीता में, अभय साधने को और अपनी आत्मा, अपनी बुद्धि, पर भरोसा करने को, फिर फिर बल, जोर, दे कर कहा है।

मुसल्मानों में भी जो सच्चे सूफ़ी हो गये हैं, उन का भी मत यही है।

जाँ कि उस्ता रा शिनासा हम् तु ई,
जुम्लः उस्ता रा खुद उस्ता हम् तु ई।
चूं हक़ीक़त रा मुहक्किक हम् तु ई,
ऐन हक़ ईनस्त ऐनुल्हक़ तु ई।
हस्तिये रब रा मुजव्विज चूं तु ई,
बिल् यक़ीन् अल्लाह-अकबर खुद तु ई।

यह आदमी उस्ताद है या नहीं, गुरु बनाने योग्य है या नहीं, यह

पैग़म्बर या मसीहा या अवतार है या नहीं, मानने योग्य है या नहीं, वेद मानने योग्य है, या इञ्जील मानने योग्य है, या क़ुरान मानने योग्य है, या नहीं—जब इस सब के निर्णय करने वाले जानकार अन्त मे तुम ही हो, तो तुम ही सब उस्तादों के उस्ताद, सब गुरुओं के गुरु, ठहरे। यह बात, यह वस्तु, सत्य है, या मिथ्या है, इस का निर्णय करने वाले तुम्ही हो, इस लिये तत्व-स्वरूप, सत्ता-स्वरूप, तुम्ही हो, जिस को चाहो सत्ता दे दो, जिस से चाहो छीन लो। अल्ला, ख़ुदा, ईश्वर है या नहीं, इस का निर्णय करने वाले तुम्ही हो, इस लिये सत्ता की सत्ता, ईश्वर के ईश्वर, सबसे बड़े ईश्वर, अल्लाहो-अकबर, महा-देव, परम-ईश्वर, परम-आत्मा, स्वयं तुम ही हो।

अतः तुम्हें अपने ऊपर भरोसा करना चाहिये और हृदय मे सदा अभय बनाये रहना चाहिये। दैवी संपत् का पहिला लक्षण अभय है।

अभयं, सत्त्वसंशुद्धिः, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। (गीता)

इस लिये, प्रिय पाठक-जन!, यदि आप अपना भला चाहते हो, अपने कुल कुटुम्ब सन्तान भाई बन्धुओं का, हिन्दुओं का, भारतवासियों का, और समस्त मानव जाति का भला चाहते हो, तो सर्व-धर्म-संशोधन मे, आत्मा और बुद्धि के बल से, ज्ञान और विज्ञान के बल से, लग जाओ। जैसा गीता मे कहा है, "ज्ञान-विज्ञान-नाशन" काम और क्रोध को दबा कर, "ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा" "ज्ञान-निर्धूत-कल्मषः" "ज्ञान-ऽवस्थित-चेताः" हो कर, ज्ञान-प्रज्ञान अर्थात् दर्शन-शास्त्र और आत्म-ज्ञान, "फ़िलासोफ़ी", तथा विज्ञान अर्थात् अधिभूत-शास्त्र, "सायन्स", के द्वारा, हेतु-विचार-पूर्वक, धर्म को शोधिये।

वर्ण का अर्थ समझिये। रोज़गार, वृत्ति, जीविका, पेशा। 'कर्मणा वरणाद् वर्णः'। जैसा आप के अवतार माने हुए बुद्धदेव का साक्षात् उपदेश है,

न जात्या वृषलो भवति, न जात्या भवति ब्राह्मणः,
कर्मणा वृषलो भवति, कर्मणा भवति ब्राह्मणः।

(सुत्त-निपात)।

जन्मना नहीं। और तब सब देश के सब मनुष्यों को इस सच्चे वर्ण-धर्म के भीतर सहज मे लाइये। जैसे हिन्दू या हिन्दी या हिन्दुस्तानी, कश्मीरी, पंजाबी, राजस्थानी, उत्तर-प्रदेशी, महाराष्ट्री, गुजराती आदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वैसे ही अरबी, ईरानी, चीनी, जापानी, अंग्रेज, फ़रासीसी, रूसी, आदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अर्थात् ज्ञानजीवी, रक्षाजीवी, व्यापारजीवी, और श्रमजीवी। अनंत जात-पाँत के ढकोसले छोड़िये। "समान-शील-व्यसनेषु सख्यं", समान शील और व्यसन, रहन सहन, आहार विहार वालों के साथ खान-पान व्याह-दान—इस व्यवहार को चलाइये। आप के माने हुए वेद ही की आज्ञा है। "कृणुध्वं विश्वमार्यं।" और

समानी प्रपा, सह वो अन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।

साथ पीयो, साथ खाओ, तुम सब को प्रेम के बंधन मे मैं (आत्मा) बाँधता हूँ, और सब को साथ समाजोत्कर्ष के कार्य मे लगाता हूँ, जोड़ता हूँ, नियुक्त करता हूँ।

समाज को फैलाइये, बढ़ाइये, संकुचित मत कीजिये। गंदगी से परहेज, दुराव, कीजिये। नाम की जाति उपजाति से नहीं। दंभ और अहंकार को छोड़िये, प्रेम-भाव अपने मन में लाइये, भय छोड़िये, अभय साधिये।

ईश्वरोऽस्ति, आत्मरूपोऽसौ, सोऽहम्, तत्त्वमसीति च,
बोधात्मा ऽात्मप्रभा साक्षाद् बुद्धिरेवात्र साक्षिणी।

आत्मा का ज्योतिस्वरूप, बोधमय, बुद्धि से ही पहिचानिये, और सदा इस भाव को चित्त मे धारण कीजिये, कि ईश्वर है, आत्मस्वरूप है, मुझ मे है, "मैं" है, और तुम मे भी है, "तुम" भी है, "तत् त्वम् असि" (उप०)। जब यह भाव देश मे फैलेगा, तब समाज का अभ्युदय होगा, क्योंकि उस के कारण सच्चे आत्म-गौरव की, आत्म-सम्मान की, और साथ ही साथ, अभेद-बुद्धि, विश्व-जनीनता, परस्पर-सहायता, और संघ-शक्ति की, वृद्धि होगी, जो ही सब अभ्युदय के साधक भाव हैं।

ॐ

हिंदू धर्म और हिंदू समाज के उद्धार के उपाय।

शुद्धि के मूल सिद्धांत और प्रकार।

("आज", सौर ३० चैत्र, संवत् १९८३, से उद्धृत)

"शुद्धि-समाचार" के संपादक महाशय का छपा पत्र, तिथि २५-१०-१९२६ ई० का, मेरे पास, इस आशय का आया, कि पत्र के विशेषांक के लिये, जो अगले मास मे निकलेगा, अपने विचार, शुद्धि के विषय मे, लिख भेजो।

उस छपे पत्र की पीठ पर स्वामी श्रद्धानन्द जी के लिखे ये अक्षर थे, जिन को आज फिर फिर हृदय मे दुःख भर कर पढ़ता हूँ—

"मेरे प्यारे पण्डित जी, नमस्ते। आप के जो भी शुद्धि के विषय मे विचार हों, उन को अवश्य लिख कर भेजिये। मैं चाहता हूँ कि अनुभवी महोदयों के विचारों से लाभ उठा कर बाद कार्य-क्रम को बदलने की आवश्यकता हो तो बदला जाय।

आप का मंगलाभिलाषी, श्रद्धानन्द"

आज मेरे मंगलाभिलाषी, और हिंदू समाज के प्राण-पण से भी परम मंगलाभिलाषी, स्वामी जी इस लोक मे नहीं हैं। एक "धर्मांध" मुसल्मान के पिस्तौल के द्वारा, ति० ३० दिसंबर १९२६ ई० के दिन, दूसरे और उत्तम लोक को चले गये। सूर्य-मण्डल के भीतर वास करते हैं।

द्वौ इमौ पुरुषौ, राजन्, सूर्य-मण्डल-भेदिनौ,
योगी योग-समारूढ़:, शूरश्च समरे हतः।
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाऽऽहुतयो ह्याददायन्,
तन्नयंत्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः।
एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहंति,
प्रियां वाचमभिवदंत्योऽर्चयन्त्यः
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः।

"योग पर आरूढ़ योगी, और सत् पक्ष के लिये समर मे शरीर छोड़ने वाला शूर—ये दोनो सूर्यमण्डल के भीतर पहुँचते हैं। सूर्य की देवतामयी किरणें उन को मार्ग दिखाती हुई, मधुरध्वनि से उन को बुलाती हुई, परम लोक को पहुँचाती हैं।"

आज स्वामी श्रद्धानन्द जी उस ऊँचे लोक से हम सब का मंगलाभिलषण और भी अधिक प्रभाव से कर रहे हैं।

उन का अन्तिम पत्र मेरे लिये शिरसा धारणीय आज्ञा-रूप हो रहा है। उस आज्ञा का पालन करता हूँ।

शुद्धि के विषय मे, सिद्धांत मे तो नहीं, पर प्रकार मे, कुछ थोड़ा सा अन्तर स्वामी जी के और मेरे विचार मे रहा। परस्पर परामर्श करने का यदि अधिक संयोग पड़ता तो प्रायः यह अन्तर मिट जाता। स्यात् इसी को ध्यान मे रख कर, वृद्धोचित गौरव और स्नेह के मिश्रित भाव से उन्हों ने अपने पत्र मे ऐसे शब्दों का प्रयोग किया, यथा "आप के जो भी विचार हों", "यदि कार्य-क्रम बदलने की आवश्यकता हो तो बदला जाय।"

(१) शुद्धि का नियामक मूल सिद्धांत।

जब से, सन् १८९८ ई० मे, सेन्ट्रल हिंदू कालिज की काशी में

स्थापना हुई, अथवा यह कहना चाहिये कि उस के कुछ वर्ष पहिले से, जब से उस की स्थापना का विचार उठा तब से, हिंदू समाज के उद्धार के उपायों पर ध्यान दे रहा हूँ। और ज्यों ज्यों मेरा वयस् अधिक होता आया है, त्यों त्यों, और इधर चार पाँच वर्ष के हिंदू-मुसलिम झगड़ों को देखकर और भी विशेष रूप से, यह विचार मेरे मन मे अधिकाधिक दृढ़ होता रहा है, कि बिना सनातन-वैदिक-आर्य-मानव-बौद्ध-वर्णाश्रम-धर्म को सचमुच बौद्ध, बुद्धियुक्त, युक्तियुक्त, अन्धश्रद्धा-रहित, मानव, सर्वमानवोपयोगी, अनार्य-भाव से रहित, आर्य, वैदिक, वेदान्त-अध्यात्म-शास्त्र-ऽनुकूल, अत एव सनातन, सर्व-काल मे गुणकारी, बनाये; बिना "कर्मणा वर्णः" "विशेष-जीविकोपाय-वरणाद् वर्णः" के सिद्धान्त को माने और बर्ते; अब, इस समय, वर्तमान अवस्था मे, किसी भी दूसरे उपाय से हिंदू समाज का कल्याण नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, नहीं हो सकता।

"कर्मणा वर्णः", "अन्ततो गत्वा कर्मणैव वर्णः", "जन्म अपि कर्मणा एव"—यह सिद्धान्त अध्यात्म-शास्त्र-संमत है, अधिदेव-शास्त्र-संमत है, अधिभूत-शास्त्र-संमत है, वेद-संमत है, वैद्यक-संमत है, पुराण-संमत है, इतिहास-संमत है, स्मृति-संमत है, धर्मशास्त्र-सम्मत है, तर्क-सम्मत है, पौरस्त्य-पाश्चात्य-बुद्धि-सम्मत है। बिना इस को माने, बिना इस को काम मे लाये, विना इस का प्रयोग किये, "शुद्धि" का कार्य, निर्दोष रूप से, स्थिर रूप से, नहीं चल सकता, नहीं चल सकता, नहीं चल सकता।

तथा इस सिद्धांत को मानने से और उचित प्रकार से काम मे लाने से महा अद्भुत, अति असम्भाव्य सी बात, सच्ची, वास्तविक, हो जायगी, अर्थात् यह कि अन्य धर्मो का जो इस समय विरोध हिंदू धर्म से है, वह सब विरोध, वह सब द्वेष और द्रोह का भाव, एक दिन मे, एक क्षण मे, अवश्य मिट जायगा, अवश्य मिट जायगा, अवश्य मिट जायगा। फिर, क्रमशः, इस युक्ति-युक्त वर्णाश्रम धर्म की ओर सब मानव-संसार-भर की

दृष्टि प्रीति-युक्त हो जायगी, और अन्य धर्मों के लोग, चाहे अपना वर्त्तमान धर्म-सम्बन्धी नाम, यथा ईसाई, मुसल्मान, यहूदी आदि, न भी बदलें, तौ भी वस्तुत: हिंदू हो जायंगे और अपने को अर्थत: हिंदू कहने कहलाने मे अंकुश न समझेंगे। जैसे जैन, बौद्ध, सिख आदि अपने को हिंदू कहने कहलाने मे विशेष संकोच नहीं करते, क्योंकि साधारण हिंदू लोग उन से विशेष बचाव-बराव नहीं करते।

यह बात गहिरी है, और गहिरा विचार करने की है। थोथे छिछोरेपन से, अति त्वरा से, मुह फेर लेने की, और एक कान से सुनी दूसरे कान से गंवा देने की नहीं है। गहिरा विचार कर के पहिचानो कि जिससे दुराव-बराव करोगे वही तुम्हारा शत्रु हो जायगा। बिना बड़े भारी कारण के दुराव मत करो। हिंदू आपस मे भी और दूसरों से भी, अति मिथ्या हेतुओं से बड़ा बड़ा दुराव करते हैं, इस लिये आपस मे भी अपने आप परस्पर शत्रुतामय हैं, और दूसरे सब को भी अपना शत्रु बनाये हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द जी इस "कर्मणा वर्ण:" के सिद्धांत के नितांत पक्षपाती थे। उन का इसपर पूरा विश्वास था। पर हिंदू समाज की बुद्धि की तमो-ग्रस्तता से उन के हाथ पैर बंध रहे थे। तौ भी उन्हों ने अपनी शूरता से उन बन्धनो को तोड़ने का भारी यत्न किया, और उस यत्न मे अपने प्राण भी अपने समाज के उद्धार के लिये दे ही दिये। जैसे गुरु गोविन्द सिंह ने दे दिये, जैसे महर्षि दयानन्द ने दे दिये, जैसे ईसा ने दे दिये, जैसे खलीफ़ा उमर, उस्मान, अली, तथा अन्य मानव-भक्तों ने दे दिये।

लिखने को तो बहुत है पर कहाँ तक लिखा जायगा, इस लिये थोड़े ही मे मूल मूल बातों को लिख देने का यत्न करूंगा। यदि पाठकों को रुचा, और इस पर विचार और तर्क तथा शास्त्रार्थ उठा, तो अहोभाग्य, अधिक समझने समझाने का, शंका समाधान करने का, यत्न हो सकेगा।

(२) शुद्धि करने का प्रयोजक-हेतु ।

सिद्धांत, "कर्मणा वर्णः," तो कह दिया । पर यदि कोई प्रश्न करे कि दूसरों की "शुद्धि" करना ही क्यों ? इस का उत्तर क्या है ?

जो वेद और पुराण के शब्द से ही संतुष्ट हो जायँ, उन के लिये यह पर्याप्त है कि ऐसी वेद की आज्ञा है, "कृणुध्वं विश्वमार्यम्" (ऋग्वेद ९-६५-५) 'सब विश्व को आर्य बनाओ ।' तथा भागवत मे कहा है ।

किरात-हूण-आंध्र-पुलिन्द-पुक्कसाः,
आभीर-कंकाः, यवनाः, खसादयः,
येऽन्ये च पापाः यद्-उपाश्रय-ऽाश्रयात्
शुद्ध्यंति, तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।

किरात, हूण, आंध्र, पुलिंद, पुक्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस आदि गण, तथा अन्य मलिन लोग भी, जिस भगवान् के आश्रितों का आश्रय पकड़ने से शुद्ध हो जाते हैं, अनायास आर्य हो जाते हैं, उस परम प्रभाववान् भगवान् को नमस्कार है । भागवत-धर्म का अवतार ही ऐसों की शुद्धि के लिये, और पवित्रम्मन्यों की दाम्भिक बुद्धि की शुद्धि के लिये, हुआ ।

पर कुछ लोग शब्द ही नहीं, अर्थ भी, और युक्तियुक्त अर्थ, चाहते हैं । योगवासिष्ठ का वचन है—

युक्ति-युक्तं उपादेयं वचनं बालकाद् अपि;
अन्यत् तृणं इव त्याज्यं अपि उक्तं पद्मजन्मना ।

युक्तियुक्त बात हो तो बालक की भी मानना । नहीं तो (मुझ वसिष्ठ के पिता, पद्मजन्मा ब्रह्मा) की भी बात तृण के समान गिनना और फेंक देना । तो ऐसे युक्ति-प्रिय जनो के लिये उक्त ऋग्वेद और भागवत के शब्दों का अर्थ ही युक्ति-युक्त सिद्ध हो जायगा । अपने कुल मे जीव का जन्म लेना, 'वृद्धि' कहलाता है । अपने वंश की वृद्धि अपनी वृद्धि है । "एकः अहं बहु स्याम् ।" उस का क्षय अपना क्षय है । हिन्दू समाज जिस चाल से क्षीण हो रहा है, उसकी रोक-थाम करना प्रत्येक

दूरदर्शी, आत्म-सम्मानी, सात्विक-तात्विक-धर्म के भक्त, मानव-वंशहितैषी, स्वार्थ-परार्थ-श्रयःसाधक, बुद्धिमान् का परम कर्तव्य है। यह काम "शुद्धि"-रूपिणी "बुद्धि" से हो सकता है।

लोक-संग्रहं एवऽपि संपश्यन् कर्तुं अर्हसि। (गीता)

लोक-संग्राहक, लोक-हितैषी, परोपकारी, दयालु हृदय वाले मनुष्य का अवश्य यह कर्तव्य है कि अनार्य को आर्य बनावे, दुर्जन को सज्जन बनावे, कुचाल को सुचाल बनावे; जैसे अपने अनपढ़ बच्चों को पढ़ाता लिखाता, पालता, पोसता है। यह परार्थ भी है, और यही परम-स्वार्थ और आत्म-रक्षण भी है। यदि चारो ओर अनार्य ही अनार्य की वृद्धि होगी, तो आर्यता और आर्य कितने दिन रक्षित और जीवित रह सकेंगे? आप के घर से सटे हुए पड़ोसी के घर मे आग लगे, तो क्या आप चुप बैठ सकते हो? यदि आप के महल्ले मे गंदगी जमा हो और बीमारी फैले, या चोर डाकू छापा मारें, तो आप चुप बैठ सकते हो? कल को आप की पारी आवेगी। इस लिये अवश्यमेव—

'कृणुध्वं विश्वं आर्यम्।'

(३) शुद्धि का प्रकार।

अब तीसरी बात। यदि, जैसा ऊपर कह आये, यह आर्यीकरण-रूपी शुद्धिकार्य "कर्मणा वर्णः" के सिद्धांत पर होना चाहिये, तो इस सिद्धांत के प्रयोग के क्या प्रकार? यह बहुत ध्यान से विचारने की बात है।

क्या नहीं करना चाहिये यह पहिले लिखता हूँ।

(क) 'शुद्धि के नाम से आह्वान, ललकार, "चैलेञ्ज", और डिंडिम नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से क्रोध और विरोध बढ़ता है, और हिंदू समाज को ही क्षति पहुँचती है। क्योंकि अपने भीतर की "अशुद्धियों" और द्वेष-द्रोहों के कारण यह समाज नितांत दुर्बल हो रहा है। दुर्बल मनुष्य यदि सबल को ललकारे, तो 'सिवा इसके कि मार खाय

और क्या होगा ? समाचार-पत्रों, अखबारों, मे चाहे जो कुछ छपता हो, आपस मे बात करने मे हिंदू लोग प्रायः यही कहते सुन पड़ते हैं कि शुद्धि का काम तो चलता नहीं, "तबलीग़" ही अधिक ज़ोर पकड़ रही है।

और भी। सच्चे शूर बहुत विकत्थन नहीं करते। उन के 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः'। पादरी और मुल्ला लोग डिंडिम और विकत्थन नहीं करते, काम करते हैं। उस काम का यह फल है कि आज प्रायः एक करोड़ ईसाई और सात करोड़ मुसलमान भारतवर्ष में हैं, जहां पहले एक भी न था।

और भी। ललकार का प्रेरक भाव ही अशुद्ध है। "शुद्धि" का अर्थ तो मलिन को, अशुद्ध को, शुद्ध करना। इस का प्रयोजक भाव तो दया करुणा वत्सलता स्नेह होता है न ! अथवा क्रोध और रौद्रता और युद्ध-बुद्धि और अहङ्कार ? ललकार के तो ये ही क्रोधादिक प्रेरक होते हैं। सच पूछिये तो "शुद्धि" शब्द ही कुछ कम उपयुक्त है, यद्यपि अनुचित नहीं है। अनार्य को आर्य करना, यह निश्चयेन अशुद्ध को शुद्ध करना है। पर 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्'। सच भी कहे और यथाशक्ति मीठे प्रकार से कहे। "तुम अशुद्ध हो, आओ तुम को शुद्ध कर डालें" —ऐसा कहने ने दूसरे को कदाचित् असमंजस ही जान पड़ेगा। 'आओ भाई ! तुम भी हमारे समाज से मिल जाओ, हमारा तुम्हारा रहन सहन एक सा हो जाय, तो तुम को भी अधिक सुविधा होगी और हम को भी", ऐसा कहने से स्यात् दूसरे को कुछ अधिक अच्छा लगे। इस प्रकार की शुद्धि का नाम 'संस्कार' है।

सम्यक् करणं संस्कारः।
जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद् द्विज उच्यते।

"संस्कार" शब्द ही अच्छा होता, पर "शुद्धि" शब्द चल पड़ा है, तो कुछ ऐसा दोष भी उस में नहीं है, चलता रहे। पर हाँ, शुद्धि करने वाले लोग, अपने हृदय के भाव की शुद्धि पहिले कर के, तब यदि दूसरों

की शुद्धि करेंगे, तो वह शुद्धि पक्की और उत्तम-फल-दायक होगी।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यंति, मनः सत्येन शुध्यति,
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। (मनु)

जल से गात्र, सत्य बोलने से मन, विद्या और तपस्या के अभ्यास से जीवात्मा, और ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

(ख) दूसरी बात, नहीं करने की, यह है। जब तक निश्चय न हो जाय कि शुद्ध किये हुए मनुष्यों को हिंदू समाज मे कहाँ स्थान दिया जायगा, तब तक शुद्धि नहीं करना चाहिये। अन्यथा बड़ा भयंकर परिणाम होगा। "सहसा विदधीत न क्रियाम्"। अर्ध-शूर से सम्पूर्ण कायर भला। पैर बढ़ा कर पीछे हटने से न बढ़ाना ही अच्छा। नहीं तो आपत्ति और दूने बल से सिर पर आ पड़ेगी। मै ने बिश्वासपात्र मित्रों से सुना है कि कहीं कहीं ढिंढोरा पीट कर लोग शुद्ध तो कर लिये गये, पर उन के साथ आहार-विहार के और विवाह-सम्बन्ध के व्यवहार करने मे हिंदुओं ने आनाकानी की, और फल यह हुआ कि वे लोग दिल मे दसगुनी जलन ले कर फिर वापस गये और हिंदू समाज के जानी दुश्मन हो गये हैं। शुद्ध करने वाले लोग यदि ऐसी क्षुद्रहृदयता और दुर्बुद्धि दिखायेंगे तो "वृद्धि-मिच्छतो मूलमपि नष्टम्।" चले सूद सिझाने, मूल धन भी खो दिया। चौबे जी छब्बे होने चले, पुकारे गये दूबे जी। हिन्दूसमाज की वृद्धि के स्थान मे ह्रास करावेंगे।

इसी स्थान पर एक और अपना अनुभव कह देना चाहता हूँ। सन् १९२५ ई० के अप्रैल मास में कलकत्ता मे हिन्दू महासभा का अधिवेशन, लाला लाजपतराय-जी के सभापतित्व मे, हुआ। मै भी उस मे उपस्थित था। स्वामी श्रद्धानन्द-जी मञ्च पर बैठे थे। एक विख्यात व्याख्याता ब्राह्मणम्मन्य पंडित जी ने, हँसी मे, अपने भाषण मे कहा कि "श्रद्धानन्द-जी तो हमारे 'जर्नैल' हैं, इन का काम लड़ना और लड़ाई मे आगे रहना है, राज तो हम लोग करते रहे हैं और करेंगे।" व्याख्याता ने यह बात

निश्चयेन हँसी में कही। वह हँसी भी समयोचित और प्रसङ्गालंकारक थी। श्रोता लोग हँसे, स्वामी श्रद्धानन्द-जी भी हँसे, और वे तो अब अपनी जर्नैली का काम ठीक-ठीक करके हँसते-हँसते परलोक को चले गये। पर कुछ लोग ऐसे हैं जिनके हृदय मे ये शब्द हँसी का अर्थ नहीं रखते, किंतु अपना साधारण अर्थ ही सचमुच रखते हैं। लोग इस शुद्धि कार्य को भी अपना स्वार्थ-साधक रोज़गार ही बनाना चाहते हैं। श्रद्धानन्द-जी ऐसे महानुभावों से जर्नैली करा के और प्राण दिलवा के स्वयं राज करना चाहते हैं। "हम तो पवित्र के पवित्र, अलग के अलग, निर्लेप के निर्लेप, बने रहेंगे ही, आजकाल 'शुद्धि' 'शुद्धि' का मूर्खों ने कोलाहल उठा रखा है, अभी इन का मुँह तो बन्द होता नहीं, और बहुत दिनों तक यह काम चलेगा नहीं, तो चलो इनकी राग मे राग थोड़ी सी मिला कर अपना मतलब साध लें, और 'लीडर', नेता, नायक, बने रहें, अपनी दूकान जगाये रहें, अपनी आमदनी बढ़ाये रहें, यही विद्वान् बुद्धिमान् का काम है"—ऐसा भाव रखने वाले भी लोग हैं। इस तामस बुद्धि से जो काम किया जायगा वह हिन्दू समाज को और भी नीचे गिरावेगा।

केन्द्रीय और स्थानीय हिन्दू सभाओं का काम कच्चा और पोला है, पक्का नहीं है, ठोस नहीं है। इस मे कारण यही है कि उन के कार्य-कर्त्ताओं का हृदय अभी पर्याप्त मात्रा से दृढ़, उदार, और शुद्ध नहीं है, और बुद्धि पर्याप्त मात्रा से दूरदर्शिनी, तत्वावगाहिनी, और सुनिश्चित-एक-व्यवसायवती नहीं है। पर काल की गति से कहिये, भारतवर्ष का सूत्रात्मा की प्रेरणा से कहिये, होती जा रही है। ईश्वरे करे कि शीघ्र हो जाय।

यह तो हुई 'जो न करना चाहिये' उस की चर्चा। अब क्या करना चाहिये वह सुनिये। पर उस के पहिले एक और चर्चा कर देनी चाहिये। "शुद्धि" और "संगठन" के नाम से हिन्दुओं मे, मुसलमानो की "तबलीग़" और "तनज़ीम" के उत्तर के रूप से, जो आन्दोलन कहिये, कोलाहल

कहिये, हो रहा है, उस का इतना फल तो जान पड़ता है कि, स्थान स्थान पर जो दंगे हो रहे हैं, उन मे अत्याचारियों और आततायियों का मुकाबिला करने मे हिन्दू लोग कुछ अधिक एका और निर्भीकता दिखाने लगे हैं, और यदि गवर्नमेंट निष्पक्षपात होती तो यह निर्भीकता अधिक फलवती होती । पर यह एका और निर्भीकता सात्विक और चिरस्थायी नहीं हैं, क्योंकि इनका मूल हिन्दूओं की आपस की प्रीति नहीं है, किन्तु अत्याचारियों पर क्रोध है । योगभाष्य मे जैसा कहा है, कभी "क्रोधाद् धर्मः", क्रोध से भी धर्म कभी किया जाता है । किन्तु कल्याण इसी मे है कि इस राजस एकता को पार कर के, क्रमशः सात्विक एकता, हिन्दूओं मे आपस की प्रीति बढ़ा कर और धर्म को बुद्धिरहित नहीं, प्रत्युत नितांत बुद्धियुक्त कर के, स्थायी रूप की बनाई जाय । अंग्रेज़ी गवर्नमेंट की राजनीति, जो इस समय हिन्दूओं के विरुद्ध हो रही है, उस का कारण है । "वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा" । वेश्या के ऐसी, कूट राजनीति रूप बदलती रहती है । उस पर विशेष विचार करने का यह स्थान नहीं है । पर यह बात छिपी नहीं है, बल्कि, अपितु, स्वयं अंग्रेजों ने पुस्तकों मे लिखा है कि भेद-नीति, अर्थात् हिन्दू-मुसल्मान विरोध, परराज का नितांत पोषक है । तो जहाँ पहिले कुर्बानी के नाम से वर्ष मे एक दिन मार पीट होती थी, वहाँ अगर मस्जिद और बाजे के नाम से प्रति दिन प्रति घंटा मार पीट होती रहै, तो उस परराज के लिये तो और भी अच्छा ही है न ? यह हमारा काम है कि हम अपनी अक़ल सुधारें ।[1]

[नोट १. १५–१६ अगस्त, १९४७, के दिन, हिंदु-स्थान के तीन टुकड़े, अर्थात् एक मुख्य 'भारत', 'इन्डिया', और एक पश्चिमी पाकिस्तान तथा एक पूर्वी पाकिस्तान, कर के, अंग्रेजों ने अपना शासन हटा लिया। तब से, 'भारत' मे साम्प्रदायिक हिन्दू-मुस्लिम दंगे तो कम हो गये हैं, पर भीतर भीतर मन-मुटाव बना है, और पश्चिम पाकिस्तान मे तो सब मंदिर और गुरु-द्वारे तोड़ डाले गये, वा चाय, कौफ़ी, गोश्त की दूकान,

बना दिये गये, और हिन्दू और सिख तो प्रायः सब ही मार डाले गये, वा बलात् मुसलमान बना दिये गये। नोट समाप्त]।

अब क्या करना चाहिये वह सुनिये। (१) यह घोषणा सब मूल और शाखा हिन्दू-सभाओं की ओर से होना चाहिये कि "जात बाहर" प्रथा बन्द करो। चाहे कोई कैसा भी अपराध करे "जात बाहर" नहीं किया जाय। यदि उस का अपराध इस प्रकार का है कि क़ानून के अनुसार उस को कचहरी मे दण्ड मिलना चाहिये, तो वह दण्ड उस को निश्चय से दिलवाया जाय पर "जात बाहर" का दण्ड हिन्दू समाज से उठा ही दिया जाय। पूर्वकाल की विशेष अवस्था मे यह गुणकारी रहा हो, पर अब तो इस से हानि ही हानि है। इस एक ही बात से, अर्थात् "जात बाहर" प्रथा उठ जाने से, बड़ा भारी परिवर्तन, प्राणपोषक, शरीरवर्धक, वंशविस्तारक, हिन्दू समाज में हो जावेगा। बहुत सी महामूढ़ कुरीतियाँ जिन को सब ही अपनी पारी मे बुरा कहते हैं, और रो रो कर करते हैं, पर "बिरादरी के दंड" अर्थात् "जात बाहर" के भय से नहीं छोड़ सकते, वे सब सहज मे छूटने लगेंगी। "जात बाहर" के रूप में ऐसे द्वार चारो ओर आप ने खोल रखे हैं जिन मे से आप अपने समाज के आदमियों को, हिन्दुओं को, धक्का दे कर बाहर निकाल रहे और उन को दूसरे धर्मों और समाजों मे जाने के लिये विवश कर रहे हो। पहिले इन सब द्वारों को बन्द कीजिये। फिर विधर्मियों को अपने धर्म और समाज मे आने का द्वार खोलिये।

मै ने इस "जात बाहर" की प्रथा के विरुद्ध घोषणा और प्रचार करने के विषय मे काशी की स्थानीय हिन्दू सभा से प्रस्ताव स्वीकार कराया था, पर सभा ने उस पर अमल उपदेशकों से नहीं कराया।[१]

[नोट १. यह लेख प्रायः २८ वर्ष पहिले लिखा गया था, समाज की दशा मे बहुत परिवर्त्तन हो गया है; अंग्रेजी पढ़े लिखे सज्जनों मे 'जात-बाहर' की प्रथा बहुत कुछ उठ गई है; किंतु पढ़े लिखे ब्राह्मणों मे, तथा अनपढ़ों में अब भी चल रही है।—नोट समाप्त]

(२) "समानशीलव्यसनेषु सख्यम्" के सिद्धांत के अनुसार परस्पर खान पान आहार बिहार का समर्थन किया जाय। यह घोषणा की जाय कि जो आमिष-भोजी (मांसाहारी) हैं, पर गौ का और सूअर का गोश्त नहीं खाते हैं, और स्वच्छता से रहते हैं, नीरोग हैं, दाँतन कुल्ला करते हैं, नहाते हैं, हाथ मुँह धो कर खाना खाते हैं, दूसरे के जूठे बर्तनों मे खाना पीना नहीं खाते, उन को, एक दूसरे के साफ़ किये हाथ से छूआ, खाना पानी खाने पीने मे कोई दोष नहीं, चाहे वे किसी देश, किसी जात, किसी धर्म्म के हों। यदि इस प्रकार से हिन्दू आमिष-भोजी किसी ईसाई या मुसल्मान या पारसी या यहूदी आदि आमिषभोजी के साथ (कि पुनः किसी दूसरे हिन्दू आमिष-भोजी के साथ) खाय तो कोई आपत्ति उस के हिन्दुत्व मे न होगी। एवं निरामिष-भोजी (शाकाहारी) निरामिष-भोजी के साथ। थोड़े मे अर्थ यह कि, स्वच्छता पर और समान-शील-व्यसनता पर ज़ोर दीजिये, जाति-उपजाति वर्ण-उपवर्ण धर्म-विधर्म के नाम पर नहीं। इतिहास-पुराण मे स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण महर्षि भी और अवतार-भूत राम और कृष्ण भी, सभी मांस खाते थे; किंतु "निवृत्तिः तु महाफला" (मनु.)। ऐसे व्यवहार से तीन चौथाई परस्पर द्रोह जात्युपजातियों का और धर्म मज़हबों का तत्काल मिट जायगा।

यहाँ अपना अनुभव लिखता हूँ। काशी मे प्रायः आज तीस वर्ष से मेरे घर मे बहुत ज़ातियों के हिन्दू, भारतीय तथा कभी कदाचित् अरबी और मिस्री मुसल्मान, तथा चीनी, जापानी, तथा यूरोप के कई देशों के, तथा अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, जावा, सौथ आफ्रिका के, ईसाई आदि, विविध आचार के अतिथि स्वागत होते रहे हैं, और मैं इन के साथ बैठ कर खाना खाता रहा हूँ। हाँ, अपना खाना, शाकऽाहार, मद्य-रहित, मांस-रहित, आप खाता और इन को खिलाता रहा हूं। इन का खाना, माँस-मद्यादिक, नहीं खाया, और न इन को खिलाया। और मेरे अनुभव और विचार मे इस व्यवहार से मेरे स्थूल-सूक्ष्म-कारण

शरीर, अथवा पंच-कोष, अथवा स्कंध, अथवा वर्गणा, मे कोई अपवित्रता वा दोष, दुर्गुण, जो पहिले नहीं था, नये सिरे से नहीं आया। प्रत्युत इन अतिथियों के स्थूलसूक्ष्मादि शरीरों मे कुछ काल के लिये मद्य-मांस-वर्जन से जनित शुद्धता आयी होगी। और भी, मेरे इस व्यवहार का फल यह है कि मेरे मुसलमान मित्र कहते हैं कि वे मेरे उदार सर्वग्राही हिन्दुत्व से अधिक डरते हैं, और 'मत छू' धर्मवालों से कम, क्योंकि वे तो छू देने से ही मर जाते हैं, और मै सब को पचा ले सकता हूँ, यथा अगस्त्य ने इल्वल और वातापी को पचाया। सच यह है कि यदि हिंदू इस "मत छू"-पन को आज छोड़ दें तो "तबलीग़" का तीन चौथाई काम आज ही बन्द हो जाय।

इस "मत-छू"-पन की मूर्खता और बुद्धिभ्रंश की अन्तिम काष्ठा का उदाहरण स्वामी श्रद्धानंदजी ने काशी मे एक व्याख्यान मे कहा था। स्वामीजी ने कहा कि मेरे पिता मिर्ज़ापुर मे कोतवाल थे। उन के साथ अपनी बाल्यावस्था मे किसी मेले के अवसर पर मैं विन्ध्याचल गया। संध्या के समय पिताजी के साथ मकान के ऊपर के मंज़िल मे बैठा था। एकबारगी नीचे बड़ा कोलाहल मचा। पिता-जी दौड़े गये। मैं भी साथ गया। देखा कि एक हेड-कानुस्टेबल, जो मेरे पिता की मातहती मे मेले के बंदोबस्त के लिये गया था, और कनौजिया ब्राह्मण था, मेरे पिता के ख़िदमतगार कहार को खूब गालियाँ दे रहा था। और वह भी जवाब मे कमी नहीं कर रहा था। कोतवाल साहब का निजी ख़िदमत-गार ही था। पिता-जी ने डांट घोंट कर दोनो का शोर बंद कराया, और हेड्-कान्स्टेबल् से पूछा कि क्या बात हुई, धीरे मे बताओ। जमादार ने गरम साँस लेते हुए कहा कि "सरकार, पुलिस मे नौकरी करत बाल सपेद होय गयल, ई पुलिस की नौकरी कर के हम कौन कौन फन फरेब नाहीं कियल, रुसवत नाहीं लिहल, कि चोरी कै माल नाहीं लिहल, कि झूठी गवाही दे के और दिवाय के बे-गुनाह के फाँसी नाहीं चढ़वावल, कौन कौन काम नाहीं कियल, सब कुछ तो कियल, पर आज

तक हम धरम नाहीं छोड़ल, सो ई आप कर मुह्-लगुआ खिजमतगार आज हमार धरम छोड़वाय चुकल रहल, ऊ तो खैरियत भयल कि हमार निगाह् पड़ गयल"। पिता-जी ने पूछा कि "आखिर क्या हुआ, इस ने क्या किया ?" जमादार बोले, "सरकार, बिंधबासनी के पंडा लोग हम के बलदान के बकरन कर सात सिरी देहले रहलन, सो हम अदहन मे ओह् के आगी पर चुरे बदे चढ़ाय दिहल, सो ई कहार आय के ओह् आगी मे से छटकल एक ठे अंगारा हुक्का तमाखू बदे उठाय लिहेस, सो सिरी तो सब हम के फेंके पड़बै भयल, भला धरम बच गयल कि देख लिहल, नाहीं तो सिरी का सुरुआ पी जाइत, और एत्ते दिनन कर बटोरल धरम सब गँवाइत"।

यह् कथा, अपने साक्षात् अनुभव की, स्वामी-जी ने काशी मे बड़ी सभा को सुनाई। आप भी यह् जान लीजिये कि हिंदू "धरम" का यह् हाल है। चाहे हँसिये चाहे रोइये, चाहे हिंदू-दासों की और उन के धर्म्माध्यक्षों की तामस बुद्धि पर क्रोध और ग्लानि कीजिये। बहुत दिन पह्ले से कबीर कह् रहे हैं,

चौका भीतर मुर्दा पाकै,
न्हाय धोय कै जेंवैं।

इस से यह् मतलब नहीं कि मांसाहार सर्वकाल मे सब के लिये अनुचित ही है। जिन को हिंदू लोग अवतार कर के मानते हैं, राम, लक्ष्मण, कृष्ण, बलदेव, भीष्म, युधिष्ठर आदि मांसाहार करते थे। और क्षत्रिय-वृत्ति वाले मनुष्य के लिये उपयुक्त है। मर्यादा से, विधि से, किया जाय तो उचित भी हो सकता है। जैसे हिंस्र पशुओं की हिंसा अत्युचित धार्म्मिक कर्तव्य सब के लिये है, विशेष कर के क्षत्रियवृत्ति मनुष्य के लिये; वैसे ही जो वन्य पशु खेत खलिहान मे उपद्रव करते हैं, और जिन का मांस भोज्य और बल्य और शौर्य-वर्धक है, जैसे वन-वराह्, विविध प्रकार के मृग, पक्षी आदि, उन का हनन भी क्षत्रिय और कृषक वैश्य वृत्ति वाले का (नाम-धारी का नहीं) धर्म है, और उन के मांस

का भोजनार्थ उपयोग करना, और उस को वृथा न जाने देना, यह भी उचित ही है, अथवा उसको धर्म्य भी कह सकते हैं। पर ब्राह्मण-वृत्ति वाले के लिये यह उचित नहीं है। कि पुनः रोजगारी काम तो पुलिस की जमादारी, अर्थात् क्षत्रिय का, नाम तो कनौजिया ब्राह्मण का, भोजन तो बकरों के कटे हुए सिर, नीयत तो झूठे शपथ और घूस खाने की और चोर और डाकू और महाम्लेच्छ की, और आग मे से छटके हुए अङ्गारे को कहाँर यदि उठा ले तो इतना शोर और धरम धरम की दोहाई तिहाई! भाइयो पाठको! यह मत समझिये कि मैं ब्राह्मण-द्रोही हूँ। मै तो सच्चे ब्राह्मण का मुँह देखने और पैर छूने को तरसता हूँ। पर कर्मणा, वृत्त्या, हृदयेन, तपसा, शीलेन, वृत्तेन, विद्यया ब्राह्मण का।

(३) रोज़गार करने के लिये ऐसे काम करने मे, जो साधारण दृष्टि से निर्दोष हैं, और जो क़ानून के विरुद्ध नहीं हैं, कोई धर्महानि नहीं है—यह प्रथा फैलानी चाहिये। यह बात ध्यान देने की है कि अब नये हिंदी साहित्य को, और विशेष कर अंग्रेजी को, पढ़े लिखे, "द्विज" नामक हिंदुओं मे तो खानपान की परस्पर अस्पृश्यता का भाव कम होता जाता है, पर अनपढ़ "अ-द्विज" नामक हिंदू उपजातियों उपवर्णों मे यह दुर्भाव बढ़ता जाता है। यही कथा निर्दोष कार्यों के करने की हो रही है। सर्वथा निर्दोष कामो के भी 'न' करने मे ही बड़प्पन और बहादुरी समझी जाने लगी है। और यह सर्वथा नयी बात है। दस बीस वर्ष पहिले यह दुर्बुद्धि नहीं थी। और इस "न करने" का भी कोइ नियामक अनुगम नहीं समझ पड़ता। साधारण दृष्टि से एक ही काष्ठा के चार काम हों, पर एक किया जायगा, एक नहीं। बर्तन माजेंगे तो कपड़ा न कचारेंगें, कपड़ा कचारेंगे तो झाड़ू न देंगे, झाड़ू देंगे तो पानी न भरेंगे, पानी भरेंगे तो बेलदारी न करेंगे, बेलदारी करेंगे और मिट्टी खोदेंगे और ढोवेंगे तो गाय बैल का काम न करेंगे, गाय बैल का काम करेंगे तो घोड़े का काम न करेंगे—क्योंकि जात मे नई नई मनाई हो गयी है, इत्यादि इत्यादि। इस दुर्भाव से हिंदू समाज को बहुत आर्थिक

हानि उठानी पड़ती है। साधारण गृहस्थ को एक आदमी के काम के लिये तीन चार आदमी रखने पड़ते हैं। गृहस्थ को भी व्यय अधिक करना पड़ता है और श्रमजीवियों को भी पूरा वेतन नहीं मिल सकता, यद्यपि उनके पास समय ख़ाली बेकार बचा रहता है जो व्यर्थ के व्यसनों मे नाश होता है। दोनो ही असंतुष्ट रहते हैं। यह दुर्व्यवस्था मिथ्या जाति-धर्म-भाव-कृत है। इस लिये सर्वांगीण "शुद्धि"-कार्य के क्रम मे खान पान को परस्पर अस्पृश्यता के, और निर्दोष कार्य के भी न करने के दुराग्रह के, संशोधन की भी आवश्यकता है। दूसरे धर्मवालों को इस प्रकार की कठिनाई और दुर्व्यवस्था का अनुभव नहीं करना पड़ता।*

[* नोट—यह जो मैं ने काम "न करने" की दुर्व्यवस्था ऊपर लिखी है, वह विशेष करके संयुक्त प्रान्त मे देख पड़ती है, ग्वाला, अहीर, कहार, कुनबी, काछी, कुर्मी, कोइरी आदि उपजातियों मे। अन्य प्रान्तों की दशा का हाल मुझे ठीक नहीं विदित है।—नोट समाप्त]

(४) क्रमशः एक एक वर्णो के उपवर्णो मे, एक एक जाति की उपजातियों मे, विवाह-सम्बंध का समर्थन और प्रचार करना चाहिये। और यदि कहीं असवर्ण विवाह हो जाय तो यही समझना चाहिये कि स्त्री का वर्ण-नाम अब वही हो गया जो उस के पति का है। गोत्र तो पाणिग्रहण के साथ ही, स्त्री का, प्रचलित मर्यादा से भी, तत्काल बदल जाता है। वैसे ही वर्ण-परिवर्तन भी मान कर वस्तुस्थिति का संमार्जन कर देना चाहिये। 'असवर्ण' 'असवर्ण' का कोलाहल कर के उस विवाह को अधार्म्मिक और क़ानून-विरुद्ध का लांछन लगा कर के, विवाहितों और उन की सन्तान को हिंदू समाज से धक्का देकर बाहर कर देना, और अन्य समाजों में सम्मिलित होने के लिये विवश करना, न चाहिये।

(५) एवं बाल-विवाह को रोकना और बाल-विधवा के, वा निस्संतान विधवा के, विवाह का भी समर्थन करना चाहिये, देश, काल, निमित्त, अवस्था, पात्र आदि की योग्यता देख कर। अर्थात्, न सब विधवाओं का पुनर्विवाह कर देने की आवश्यकता है, न बाल-विधवाओं

को, उन की इच्छा पुनर्विवाह की होने पर भी, बलेन अविवाहित ही रखना चाहिये। यथा अन्य स्थलों मे तथा यहां, हेतु-विचार-पूर्वक बुद्धि से काम लेना चाहिये।

बिना इन पूर्वांगों की सिद्धि के, "शुद्धि" का कार्य कदापि संम्पन्न नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, नहीं हो सकता।

इसी लिये भारतवर्ष की सूत्रात्मा ने इन की ओर जनता का ध्यान, सुधारकों के द्वारा, पहिले खींचा। यद्यपि आर्यसमाज के द्वारा "शुद्धि" का भी बीज इस जनता के मन मे प्रायः साथ ही साथ डाल दिया था, पर अब पचास वर्ष पीछे इस देश मे भिन्न-धर्मावलम्बियों के विशेष संमर्द का, तथा राजनीतिक भाव की और विचारशील बुद्धि की विशेष जागृति का, अवसर पा कर, उस बीजमन्त्र का विशेष विकास हुआ है। और फिर भी आर्यों के प्रधान व्यक्ति स्वामी श्रद्धानन्द जी के द्वारा हुआ है। पर उस विकास की उचित रक्षा और सम्यक् प्रणीति की भारी आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से "शुद्धि" के पूर्वोक्त आवश्यक अंगों की यहाँ पुनरुद्धरणी की गयी है। अन्यथा अप्रासंगिक होते।

जब इन अंगों की सिद्धि होने लगेगी तब हिंदू समाज का जो प्रति-दिन क्षय हो रहा है वह आप से आप बन्द हो जायगा। और क्रमशः "शुद्धि" द्वारा अन्य समाजों से लोग इस मे उत्कण्ठा-पूर्वक आने लगेंगे।

(६) "शुद्धि" की संस्कारविधि, उस का कर्मकाण्ड, क्या होना चाहिये, इस पर भी थोड़ा विचार करना उचित है।

"तबलीग़" वालों ने तो इस्लाम के प्रचार का अर्थ, दूसरे मनुष्यों को दोज़ख से बचा कर बहिश्त भेजने का उपाय, यही समझ रखा है कि चोटी काट कर दाढ़ी रखा दी जाय, रुद्राक्ष या तुलसी काष्ठ की माला फेंक कर तस्बीह थमा दी जाय, त्रिपुंड्र ऊर्ध्वपुंड्र माथा से मिटा कर टोपी पर हिलाल और तारा चपका दिया जाय, यदि नाम ईश्वर-दास है तो बदल कर गुलाम-अल्ला कर दिया जाय, शाकाहारी हो तो

गोश्त ज़रूर खिला दिया जाय, वाराह्-मांस खाता हो तो वह छुड़ा कर गो-मांस खिला दिया जाय, धोती छुड़ा कर पैजामा पहिना दिया जाय, और संस्कृत गायत्री (यदि पढ़ता हो, पर इस योग्यता के हिंदू दूसरे धर्म को पकड़ते कम सुन पड़ते हैं) बन्द कर के अरबी कलमा पढ़ा दिया जाय। और सर्वोपरि, खान-पान और शादी-व्याह् के लिये (समग्र पृथ्वी मे बसे) बीस करोर मुसलमानों के साथ, सचमुच नहीं तो नाम ही को सही, आज़ादी, छूट, कर दी जाय।

शुद्धि करने वाले हिंदू भी, कमोबेश, न्यूनाधिक, इन्हीं प्रकारों को उलट कर के नक़ल करने का, ऊपरी नाम-रूपी माया को बदलने का, यत्न करते हैं। और वर्तमान अवस्था मे ऐसा करने को विवश भी हैं। दूसरा प्रकार कोई इस अवस्था के उपयोगी देख भी नहीं पड़ता। पर अन्तिम बात की, जो मुख्य बात हैं, अर्थात् खान-पान और ब्याह्-शादी की आज़ादी, उस की कमी से "शुद्धि"-कर्ताओं के यत्न सफल नहीं हो रहे हैं। इस को ध्यान मे रखते हुए "शुद्धि'-कर्ताओं को चाहिये कि शुद्धि संस्कार की विधि को जहाँ तक बन पड़े सहज करें, व्यय-रहित, डिंडिम-रहित, बनावें। थोड़े मे, नहला धुला, सरल मन्त्र दीक्षा दे, यज्ञोपवीत पहिना, सहभोजन करा के, आर्योचित सरल संध्या-वंदन और दिनचर्या के प्रकार बता दें, और हिंदू समाज मे स्थान निर्दिष्ट कर के आहार विहार और विवाह संबंध के व्यवहार की सुविधा करा दें जैसा पहिले कहा,

अद्‌भिर्गात्राणि शुध्यंति, मनः सत्येन शुध्यति,
विद्या-तपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। (मनु०)

पादरी लोग, अपने धर्म के "कन्वर्शन" कार्य के लिये नाम रूप को बदलना इतना आवश्यक नहीं समझते। अच्छे अच्छे, नामी नामी, लोगों ने, भूतकाल मे भी, वर्तमान काल मे भी, हिंदू धर्म को छोड़कर, ईसाई धर्म को ग्रहण कर के भी, अपना पुराना हिन्दू

नाम और कभी कभी पहिरावा भी रख छोड़ा है, यथा श्रीकृष्णमोहन (के० एम०) भट्टाचार्य, श्री कालीचरण (के० सी०) बैनर्जी, श्री (मैकेल) मधुसूदन दत्त (प्रसिद्ध 'मेघनाद-वध' काव्य के रचयिता), श्री मधूसूदन दास, श्री डाक्टर एस० के० दत्त, श्री भोरे आदि। तथा जो मुसल्मान् लोग ईसाई हुए हैं उन मे भी कितने ही अपना अरबी फ़ारसी नाम रखे रहते हैं।

पर, स्यात् , शुद्धि के लिये यह प्रकार वर्तमान अवस्था मे उपयुक्त न हो। यदि बर्त्ता जा सके तो बहुत अच्छा। ऐसा करने से वह दिन कुछ समीप आ जायगा जब सब ही शिष्ट शिक्षित सभ्य मनुष्य यह कहने मे शर्मायेंगे कि मैं पक्का हिंदू हूँ या पक्का मुसल्मान या पक्का ईसाई हूँ, और यही कहने मे संतोष करेंगे कि मैं मनुष्य हूँ, आदमी हूं, इंसान हूँ, "मानव" हूँ। याद रखने की बात है कि 'हिंदू' नाम पुराना नहीं है, "मानव" "आर्य" ही प्राचीन नाम हैं।

'शुद्धि' का तात्त्विक अर्थ हृदय की शुद्धि, बुद्धि की शुद्धि, ज्ञान की शुद्धि, भाव की शुद्धि, खान-पान की शुद्धि, शुचिता, आर्यता है। और इस के द्वारा समाज-संग्रह, समाज-व्यूहन, "सोशल् आर्गेनिज़ेशन" मे, अपने अपने गुण-कर्मा-नुसार, उचित स्थान पा कर, वृत्ति का, जीविका का, उपार्जन करना, और अपना, अपने कुटुम्ब का, और मनुष्य-समाज का, यथोचित पालन, पोषण, सेवन करना और भला मनाना और साधना। यही अभिप्राय "कृणुध्वं विश्वमार्यं" का है।

यदि इस सात्विक, हार्दिक, और बौद्ध भाव से "शुद्धि" का कार्य किया जायगा, तभी, और तब निश्चयेन, हिंदू समाज उत्कर्ष, पुष्टि, आदर, और विस्तार, पावेगा। जब हिंदू लोग अपने समाज की व्यवस्था ऐसी कर देंगे कि आर्य लोगों को उस मे मिल जाने से इस लोक में कुछ विशेष सुविधा, जीवन-निर्बाह में, हो, तभी तो लोग इस मे आने की इच्छा करेंगे। दूसरे समाजों की बड़ी सुविधाओं को छोड़ कर केवल पवित्रम्मन्यों के पैर पूजने और तरह तरह के जात्युपजाति के अनन्त

विभिन्न आचारों के संकट भोगने के लिये कौन ऐसा मूर्ख है जो इस मे आवेगा ।

लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतं,
उभयत्र सुखोदर्कमिह चामुत्र एव च ।
((म० भा०, शान्तिपर्व)

मैं तो एक बुद्धि का मनुष्य हूँ । मुझे नित्य नित्य नयी नयी बुद्धियाँ नहीं उपजतीं । मै आज कई वर्षों से पुकार रहा हूं कि "कर्मणा वर्णः" के अनुसार हिंदू जन व्यवहार करने लगें । जैसे पञ्जाबी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होते हैं, मध्यदेशी, बंगाली, मारवाड़ी, गुजराती, महाराष्ट्र, आंध्र, द्रविड़, आदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होते हैं, वैसे ही गुण-कर्म-जीविकानुसार अंग्रेजी, जर्मन, फ़राँसीसी, तुर्की, अरबी, फ़ारसी, चीनी, जापानी आदि भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मानने लगो । पादरी, मौलवी, आलिम, अध्यापक को कहो कि आप ब्राह्मण हो, मैं आप को नमस्मार करता हूँ । एवमेव सब देशों के क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों अर्थात् श्रमजीवियों, के साथ यथोचित व्यवहार करो, और उन को तत् तत् वर्णात्मक नाम दो ।

जब यह भाव और व्यवहार फैलेगा तो आप से आप सब अच्छे मनुष्य "हिंदू" समाज अर्थात् "आर्यों", अर्थात् "उत्तम मनुष्यों", शिष्ट, शिक्षित, सभ्य "मानवों" के समाज में प्रविष्ट हो जायंगे । "हिंदू" नाम से चाहे हिचकैं भी, पर कोई भी यह कहने की हिमम्मत न करेगा कि मैं ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य या श्रमजीवी (शूद्र) नहीं हूँ, यदि ऐसी वर्णात्मक पदवी उस को उस के गुण-कर्म-वृत्यनुसार दी जायगी ।

मेरे जान पहिचान मे पादरी जांस्टन, वृद्ध, संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान्, संस्कृत बोलने के शौकीन, काशी मे रहा करते थे । अब उन का शरीर नहीं है । जब कभी मुझ से मिलते थे तो मै उन से ऐसा ही व्यवहार करता था जैसा तपोविद्यायुक्त सद्ब्राह्मण से करना चाहिये । "सद्विप्रेभ्यो

नमस्करोमि", और वे भी प्रसन्न हो कर बड़े प्रेम से "स्वस्ति" कह कर मुझ को आशीर्वाद दिया करते थे। काशीविश्वविद्यालय के शिलान्यास के समागम मे, मञ्चों के विभाजन मे, सब पण्डितों, पादरियों मौलवियों, शास्त्रज्ञों, पाश्चात्य पौरस्त्य अध्यापकों को एक ही मञ्च पर स्थान दिया जाय, इस के लिये मै ने शिलान्यास कमेटी के "कन्वीनर" की हैसियत से, इसी सिद्धांत के अनुसार यत्न किया।

दो पढ़े लिखे मुसल्मान मित्रों से, जिन मे एक तो प्रसिद्ध मौलाना हैं; और एक डाक्टरी करते हैं; पर अच्छी अरबी फ़ारसी जानने वाले हैं; इस विषय मे मुझ से बातें हुईं। उन्हों ने इस को तस्लीम किया कि इस तरकीब से दुनिया के तमाम आदमी बिना उज़र 'हिंदू' कहलाने और बनने को राज़ी हो सकते हैं।

वर्णाश्रम धर्म तो एक अत्युत्तम साँचा है; जिस मे पृथ्वी मात्र की सब अनन्त जात्युपजातियाँ ढाली जा सकती है, यदि ढालने वाला स्वर्णकार दक्ष हो, सच्चा होशियार कारीगर हो। जब ऐसे सद्बुद्धियुक्त विद्वान् इस भारतवर्ष मे पहिले थे तब ऐसा पूर्वकाल मे बराबर होता रहा। किस देश मे नाना जात्युपजातियाँ नहीं हैं? यूरोप के प्रत्येक देश मे, अमरीका मे, अफ़रीका मे, एशिया मे, सभ्यों मे, असभ्यों मे, श्वेतों मे, रक्तों मे, पीतों मे, कृष्णों मे, अनंत जात्युपजातियाँ हैं। तथा भारत मे। पर इन को उत्तम सामाजिक साँचे मे ढाल कर सर्वांग-सम्पन्न, चतुरंग-सम्पन्न, उत्तम समाज का स्वरूप दे कर, शिष्ट आर्य-समाज बनाने का प्रकार बताना—यह वेद की महिमा है। पर महिमा का अभिमान ही हमारे पास रह गया। महिमा नहीं है। रस्सी जल गई, ऐंठन रह गई। दादा ने घी खाया, मेरा हाथ सूंघो। अन्य देशों मे जहाँ वेद-विहित उत्तमोत्तम उपाय समाज-संग्रहण का नहीं है, वहाँ तो लोगों ने सब उपजातियों को एक कर लिया। हमारे देश मे, जहाँ वेद-विहित उपाय है, उस के अर्थ का अनर्थ कर के, जो कुछ एका था उसे भी खो दिया, और अनंत छिन्न भिन्न हो गये। इस वर्णाश्रमधर्म

के साँचे का क्या सच्चा स्वरूप है, क्या सच्चा अर्थ है, यह मैं ने अन्य लेखों मे विस्तार से कहने का प्रयत्न किया है।

हिंदू भाइयो! मिथ्या "मत छू" धर्म को छोड़ो। अध्यात्म-शास्त्र-सम्मत सच्चे सनातन वैदिक आर्य बौद्ध मानव धर्म को ग्रहण करो। उसी से तुम्हारी भी और दूसरों की भी शुद्धि होगी। उसी से भारतवर्ष के हिंदू समाज का, समस्त भारत समाज का, समस्त मनुष्य समाज का, कल्याण होगा। उसी के अनुसार

कृणुध्वं विश्वमार्यम्।

इसी लिये भारतवर्ष मे परमात्मा ने सब ही मुख्य धर्मों का संग्रह और सम्मर्द कराया है कि इस आर्य वैदिक (ज्ञानमय) बौद्ध (सद्बुद्धिमय) मनुष्य-समाज के निर्माण के तात्विक रहस्य को जान कर, और उस के भाव से भावित हो कर, सब ही मानवमात्र इस सनातन आध्यात्मिक मर्यादा के भीतर आवें, और इस मर्यादा को पृथ्वी-मण्डल मे, सब देश-देशान्तरों मे, फैलावें, और सब ही "शुद्ध" हो जायँ। मनु, महाभारत, आदि, प्रामाणिक ग्रन्थों में ऋषियों ने लिख दिया है,

"मनुष्य समाज मे ज्ञान-प्रधान जीव (ब्राह्मण नाम वाला) मुख-स्थानीय है, क्रिया-प्रधान (क्षत्रिय) बाहु-स्थानीय है, इच्छाप्रधान (वैश्य) उदर-ऊरु-स्थानीय है, और अनुद्बुद्ध-बुद्धि (शूद्र) पाद-स्थानीय है। यह समाज के शरीर-व्यूह का उत्तम रूपक है। इन चार के सिवा पाँचवें प्रकार का मनुष्य नहीं है। मूलतः सब ही ब्राह्मण हैं, क्योंकि ब्रह्मा की संतान हैं। कर्म-भेद से वर्ण-भेद हुआ। तथा एक एक काम के साथ एक एक दाम भी रख दिया गया है। वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य ही काम, दाम, और जीविका, तीनों का बटवारा। एक को ज्ञान -प्रचार और सम्मान, एक को रक्षक और आज्ञा-शक्ति, एक को दान-भरण पोषण और धन, एक को सब की सेवा-सहायता और खेल

विनोद। जैसे बुद्धि के भ्रंश से हिंदूसमाज का अधःपात हुआ है, वैसे ही बुद्धि को शुद्ध करने से, वर्णाश्रम-धर्म के तात्त्विक सात्त्विक सच्चे स्वरूप को, हेतु-ग्राहिणी बुद्धि से समझने शोधने से सच्चे हेतु-युक्त युक्ति-युक्त ज्ञान के प्रचार से, इस का फिर से उत्कर्ष होगा।

ब्रह्म वक्त्रं, भुजौ क्षत्रं, कृत्स्नमूरूदरं विशः,
पादौ यस्याश्रिताः शूद्राः, तस्मै वर्णात्मने नमः।
ब्राह्मणः, क्षत्रियो, वैश्यः, त्रयो वर्णा द्विजातयः,
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो; नास्ति तु पञ्चमः।
न विशेषोऽस्ति वर्णानां, सर्वं ब्राह्ममिदम् जगत्,
ब्राह्मणा पूर्वसृष्टं हि, कर्मभिर्वर्णतां गतम्।
जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद् द्विज उच्यते,
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् वाहू राजन्यः कृतः
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः; पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।
यं तु रक्षितुमिच्छंति, न देवा पशुपालवत्,
दंडमादाय रक्षंति, सद्बुध्या योजयंति तम्।

(भीष्म-स्तव-राज; मनु; म. भा., शान्ति; वेद; गीता; पुराण।)

कृणुध्वं विश्वमार्य्यम्।

हिन्दू-महा-सभा का सन् १९२३ का अधिवेशन।

शुद्धि के सम्बन्ध मे, यहाँ अपना एक अनुभव लिख देना चाहता हूँ सन् १९२३ ई० के दिसम्बर मास के अंतिम सप्ताह मे, काशी मे, हिन्दू-महा-सभा का वार्षिक अधिवेशन हुआ। अंग्रेज़ी राज था, तिथि २५ दिसम्बर, १९२३, से तिथि १ जनवरी, १९२४, तक आठ दिन का अनध्याय था; सेंट्रल-हिंदू-कौलेज (केन्द्रीय-हिंदू-विद्यालय) के विशाल

भवन, सब सामग्री सहित, श्री मदन मोहन मालवीय के अधिकार मे जा चुके थे; बड़े समारोह से, उन्हों ने प्रबंध किया, सभा के सदस्यों को, तथा अन्य प्रतिष्ठित अभ्यागतों को, उन भवनो मे टिकाने का। उस समय, वाराणसी की नगर-पालिका (म्युनिसिपल् बोर्ड) का अध्यक्ष (चेयरमैन) मै था। मुझे भी निमंत्रण मिला। मालवीय जी की इच्छा के अनुसार मै ने, यथा-संभव, पालिका के अधिकारियों और भृत्यों द्वारा, अतिथियों की सुविधाओं का प्रबंध करा दिया।

इस स्थान पर कुछ पुरानी ऐतिहासिक बातें कहना आवश्यक है। पृ० ४ पर धर्म की शिक्षा की चर्चा की गई है; यह अध्यापन कार्य मुझे सौंपा गया, क्योंकि 'सनातन-धर्म' की पुस्तकों को लिखने छपवाने आदि का कार्य अधिकतर मै ने किया था। सप्ताह मे दो दिन विद्यालय विभाग के सब विद्यार्थी (प्रायः चार सौ) बड़े 'हाल' (Hall) में एकत्र होते थे; आध घंटे मै उन को सद्धर्म की मुख्य बातें, उक्त पुस्तकों के अनुसार, सुनाता था; पीछे, आध घंटे, उन के प्रश्नो का उत्तर देता था। यह क्रम सन् १९१४, अर्थात् प्राय: दस वर्ष, चलता रहा। तब, संस्था, हिन्दू युनिवर्सिटी कमेटी को, जो नई बनाई गई थी, सौंप दी गई। इस के प्रमुख कार्य-कर्ता श्री मालवीय और सर सुन्दरलाल थे। मालवीय जी में बड़े गुण थे, और उन्हों ने 'हिन्दुओं' की प्रगति के लिये, अपने विचारों के अनुसार, बहुत त्याग तपस्या, किया; पर उन मे एक भारी त्रुटि थी, अर्थात् 'जन्मना एव वर्णः' का घोर आग्रह, जिस से उन का सब कार्य 'कच्चा' हो गया। जिन 'ब्राह्मण' पंडितों के लिये उन्हों ने अपने प्राण का होम हवन पचीसों वर्ष किया, वे ही उन को गाली देते थे। जितना किया उस के लिये प्रशंसनीय नहीं, अधिक क्यों नहीं किया, इस के लिये दोषी। महात्मा गांधी के निदर्शन से उत्साहित हो कर, मालवीय जी ने 'अछूत' कहे जाने वालों को, दशाश्वमेध घाट पर, सरल दीक्षा देना आरंभ किया, 'राम वा कृष्ण का नाम जपो, गंगा मे स्नान करो।'

इस से ब्राह्मणंमन्य पंडित लोग बहुत रुष्ट हुए; वह 'दीक्षा' कर्म भी कच्चा ही था; चला नहीं।

मेरा जन्म, वैश्यों की एक उपजाति 'अग्रवाल' कुल मे हुआ। 'वैश्य' सनातन धर्म की शिक्षा दे, यह श्री मालवीय को असह्य हुआ। स्वयं नहीं, अन्य पंडितों द्वारा, प्रस्ताव किया कि, जन्मना ब्राह्मण के सिवा, अन्य कोई सनातन धर्म (वा हिंदू धर्म) की शिक्षा न दे। 'सिंडिकेट' से, 'सिनेट' से, 'कौन्सिल' से, प्रस्ताव मान लिया गया। किन्तु 'कोर्ट' से, जो ही, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के संविधान (Constitution) के अनुसार, उच्चतम और अंतिम निर्णेता है, उस का प्रत्याख्यान और तिरस्कार हुआ; मेरे पक्ष की जीत हुई; यह घटना सन् १९२०-२१ के शीत ऋतु की है; तब से आज तक, मै, पुनः 'कोर्ट' के किसी अधिवेशन मे नहीं गया, यद्यपि मुझे उस का सदस्य बना रक्खा है।

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय का शिला-न्यास।

चार वर्ष और पीछे चलिये। ४ फ़र्वरी, सन् १९१६, वसंत-पञ्चमी के दिन, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय का 'शिला-न्यास', उस समय के 'उपराज' (Viceroy) लार्ड हार्डिङ् ने किया। ये बहुत सात्विक सज्जन, भारतीयों के हित-चिंतक, उन की सब प्रकार की, अंग्रेजी राज के अविरोधेन, प्रगति के सहायक थे। मालवीय जी ने मुझ से कुछ अवसरोचित श्लोक लिखने को कहा। मै ने कहा कि काशी मे धुरन्धर पण्डित, संस्कृत के विद्वान्, कितने ही हैं, उन मे से किसी से लिखवाइये, मै क्या लिख सकता हूँ; किन्तु किसी कारण से उन्होंने निर्बन्ध किया, "नहीं, तुम्ही लिखो"। मालवीय जी को एक कटु अनुभव हो चुका था; प्रायः सन् १९०४ ई० मे, सेन्ट्रल हिन्दू कालिज की प्रगति देख कर, एक भिन्न स्वतन्त्र संस्कृत विद्यालय स्थापित करने का विचार किया; काशी में, म० म० श्री शिवकुमार शास्त्री के सभापतित्व में पंडितों की सभा कराया; शिवकुमार जी ने निर्णय किया, कि इस नये विद्यालय मे, ऊपर

से नीचे तक, सिवा जन्म-ब्राह्मण के, कोई अन्य जाति का हिन्दू काम न करै। स्यात्, किसी ने यह नहीं पूछा कि झाडू कौन देगा, मल-मूत्र-विसर्जन के स्थानों को कौन धोवैगा ? मालवीय जी का उत्साह क्षीण हो गया; उन को सब जात्युपजाति के हिन्दुओं से रुपया लेना था; उस के देने वाले, क्षत्रिय राजा महाराज, तथा वैश्य व्यापारी।

मै ने मालवीय जी की आज्ञा का पालन किया; सीधे सादे अनुष्टुप् श्लोक, आठ दश लिख दिये; अब ठीक स्मरण नहीं है, पर उन का आशय नीचे लिखे अनुसार था; उन दिनो, प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था; पृथ्वी के प्रायः तीस देशों और राज्यों मे, घोर संग्राम हो रहा था; इस की चर्चा श्लोकों मे कर दी।

प्रथमे विश्व-युद्धे तु प्रवृत्तेऽति भयंकरे;
स्थले, जले, तथा ऽाकाशे हन्यमानेषु योद्धृष,
परस्परस्य ऽाक्रमणात्, लक्षशो, दशलक्षशः;
प्राचीन-चीनराष्ट्रे च भृशं विप्लवनोन्मुखे;
पारसीक-तुरुष्केषु रणक्षुब्धेषु सर्वशः;
नाशिते रूस-साम्राज्ये जन-तंत्र-प्रवर्तकैः;
तथा संशयं आपन्ने साम्राज्ये जर्मनस्य च;
तुरुष्कानां च सुल्ताने भ्रंशिते स्वपदात्, अथ,
युवभिः, तथ्य तु, उद्विग्नैः, प्रजानां भृशपीड़नैः;
महाद्वीपेषु सर्वेषु भावैः ग्रस्तेषु तामसैः;
विश्वनाथपुरे विश्वजनीनो विश्वभावनः,
विश्वऽात्मा ऽकारयद् विश्व-विद्यापीठ-व्यवस्थितिं,
सात्विकानां तु भावानां रक्षणाय समन्ततः,
सनातनस्य धर्मस्य शिक्षणाय च सर्वदा,
छात्राणां प्राप्त-विद्यानां द्वारा तु प्रथनाय च
सर्वत्र भारते वर्षे; देशेषु च परेष्वपि।
निमित्तमात्रं अत्रऽभूत् विप्रो मदनमोहनः

मालवीयो देशभक्तः, तथाऽन्ये लोकसेवकाः ।

इत्यादि । इन श्लोकों को मालवीय जी ने शिवकुमार जी को दिखाया; उन्हों ने कहा कि अच्छे ही हैं, और एक श्लोक, दीर्घवृत्त का, अन्त मे बढ़ा दिया, जिस के अन्तिम शब्द ये हैं 'लार्ड हार्डिङ् सुकीर्तिः'; इन का नाम रक्खा जाना आवश्यक था ।

अब, मैं ने, सब के नीचे, बीच मे एक सादी रेखा खींच कर, 'नीवी' रूप से, प्रणव और गायत्री मंत्र लिखा । किंतु, यह मालवीय जी को नहीं रुचा, 'जो शिल्पी इन को ताम्र पत्र पर खोदेगा, वह जात्या शूद्र होगा; उस को गायत्री मंत्र नहीं देखना पढ़ना चाहिये' । ऐसे शिला-न्यास के कृत्यों मे, परम्परा है कि ताम्बे वा पीतल की बनी दृढ़ मंजूषा मे, ऐसा ताम्र-पत्र और उसी तिथि के विविध भाषाओं के समाचार पत्रों की प्रतियाँ, तथा प्रचलित, सोने, चाँदी, ताम्बे आदि की मुद्रा, टंक, (सिक्के) बन्द कर के, शिला के नीचे दबा दिये जाते हैं; इस आशय से कि, कभी सैंकड़ों वा सहस्रों वर्ष बाद, यदि काल के प्रवाह से, आपत्तियों से, ऊपर बने भवन ध्वस्त हो जायँ तो, पुरा-वृत्त-जिज्ञासुओं को, ऐसी नीवी-शिलाओं के नीचे दबे, इन समाचार-पत्रों सिक्कों, आदि से, इस समय की अवस्था विदित हो । सात-सात, आठ-आठ, सहस्र वर्ष के पहिले की, कितनी ही लुप्त-गुप्त सभ्यताओं शिष्टताओं का पता, सभी महाद्वीपों मे, ऐसे जिज्ञासुओं ने लगाया, और वृहत्काय रोचक ग्रंथ, चित्रों सहित प्रकाश किया है । आज काल मोहेन (वा मोएन)-जो-दड़ो ('मुओं, मरे हुओं, का ढूह') और हारप्पा के, बालू और मिट्टी मे दब गये नगरों के विषय में, कई वर्षों से खोज हो रही है, और आश्चर्यकारी सभ्यता का पता चला है ।

यह सब बात प्रसंगतः कह दी; 'प्रकृते किम् अयातं'; मालवीय जी से मै ने बहुत कहा कि मनु का आदेश है, "नित्यं शुद्धः कारुहस्तः", साधारण पत्थर के, वा काले वा श्वेत मर्मर, स्फटिक, के, ढोंकों

को गढ़-गढ़ कर शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, हनुमान् की, विविध देव-देवियों की, जो मूर्त्तियाँ ये शिल्पी बना देते हैं, उन्ही की, प्राण-प्रतिष्ठा विधिवत् करा के, चारो वर्ण के लोग पूजा करते हैं; तथा गायत्री मंत्र की प्रतियाँ संस्कृत टीका, हिंदी अनुवाद सहित, सहस्रों, काशी के पुस्तक-विक्रेताओं की दूकानों पर, दो-दो पैसे, एक-एक आने, मे बिकती हैं, सब जाति के लोग पढ़ते हैं; फिर इस समय आप को ऐसा आग्रह क्यों है ? प्रणव और गायत्री को वेदों की माता, तथा वेदों का सार, स्मृतियों मे कहा है; अतः इस का 'हिंदू'-विश्व-विद्यालय की नींव मे रहना, और उस के आधार पर इस का प्रतिष्ठित होना, नितान्त उचित है। पर, मालवीय जी ने एक न सुनी।

और देखिये; शिलान्यास के लिये, एक बहुत बड़ा गोल मैदान घेरा गया था; चारो ओर, सुन्दर सजे स्थान, दस बारह सहस्र सज्जनों और देवियों के बैठने के लिये रचे गये थे; इस मैदान के बीच मे, एक ऊँचा चबूतरा बनाया था, उस के चार कोनो पर चार काष्ठ के स्तम्भ खड़े किये थे, उन के साथ केले के वृक्ष भी बाँध दिये थे, ऊपर वितान, (चँदवा) था; कि, चारो केले के खम्भों के पास चार ऋत्विक् खड़े हो कर, चारो वेदों के अवसरोचित आशीर्वाद-रूप मंत्रों का, उचित स्वर और हस्त आदि से उच्चारण करैं, कि शिलान्यास का कार्य सु-सम्पन्न हो, और 'हिंदू'-विश्वविद्यालय सहस्रों वर्ष तक फूलै फलै और प्रतिवर्ष कई-कई सहस्र स्नातकों को सद्धर्म-निष्ठ बना कर गार्हस्थ्य के सर्वोत्तम आश्रम का धर्म्य कर्म करने के लिये भारत मे फैलावैं।

यस्मात् त्रयो ऽन्याश्रमिणः ज्ञानेनऽन्नेन चऽन्वहं,
गृहस्थेनैव धार्यंते, तस्मात् ज्येष्ठाश्रमो गृही।
सर्वेषां अपि चैतेषां वेद-श्रुति-विधानतः,
गृहस्थः उच्यते श्रेष्ठः; सः त्रीन् अन्यान् बिभर्ति हि। (मनु.) मै

ने ऐसी आशा की थी।

आत्मवंचना और जन-वंचना।

किंतु श्री मालवीय ने, चारो वैदिकों को अलग बुला कर, मेरी उपस्थिति मे, कहा कि यहाँ सब जाति के लोग, सहस्रों, एकत्र हैं, अंग्रेज भी हैं; इन लोगों के कान मे वेद के मंत्र नहीं पड़ने चाहिये; चारो वैदिकों ने कहा कि 'ठीक है, हम लोग साधारण स्तोत्रों के श्लोकों को वैदिक रीति से, हस्त-संचालन कर के, बहुत ऊँचे स्वर से, पढ़ देंगे'। मै ने पुनः समझाने का यत्न किया, "वाल्मीकि रामायण मे, दशरथ के यज्ञ का वर्णन पढ़िये; चारो वर्ण के लोग सदा, मंत्रोच्चार, आहुति, आदि के समय, उपस्थित रहते थे, शूद्र ही सब की परिचर्या करते थे, खाना बनाते थे, वैदिकों तथा अन्यों को जो वस्तु चाहती थी, दौड़-दौड़ कर ला देते थे; शूद्र ही, सब को, परोसते, खिलाते, पिलाते थे; आप ऐसा अन्याय क्यों करते हैं ?; इस धर्म प्रधान संस्थान के हृदय मे, प्राण मे, आत्म-वंचन और लोक-वंचन के असद्भाव, पाप-भाव, का विष-बीज रक्खे देते हैं; बड़ा अनर्थ होगा"। पुनरपि, एक न सुना; वंचना ही हुई। आज, उस का फल देखिये।

वंचना का दुष्फल

प्रायः बीस पच्चीस वर्ष तक स्वयं श्री मालवीय कुलपति रहे; उन के बाद, छः सात कुलपति हो चुके। 'सनातन-धर्म' का प्रतिपादन करने वाली उक्त पुस्तकों को श्री मालवीय ने, ऐसे स्थान मे रखवा दिया जहाँ कीड़े खा गये; क्योंकि उन मे 'कर्मणा वर्णः' का गंध आता था। नाम मात्र को, 'धर्म' की शिक्षा के लिये एक अध्यापक रख दिये गये, जो विद्यार्थियों के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते थे। "सत्य क्यों बोलैं ?;" "झूठ क्यों न बोलैं, जब उस से सद्यः लाभ होता देख पड़ै ?"; "चोरी क्यों न करैं, यदि ऐसे प्रकार से कर सकैं कि पकड़े न जायँ ?"; इत्यादि।

क्रमशः, अब यह दशा हो गई है कि विद्यार्थी 'धर्म' के नाम से चिढ़ते हैं; कहते हैं कि 'हम को धर्म नहीं चाहिये, जीविका चाहिये';

अध्यापक लोग भी धर्म-शिक्षा से तटस्थ ही सुन पड़ते हैं। इस सब का फल यह हुआ है कि छात्रों मे उच्छृंखलता, उद्दंडता, अत्यंत बढ़ गई है। दैनिक पत्रों मे बीच-बीच मे समाचार छपता है; उत्तर प्रदेश के अमुक नगर मे, छात्रों ने वार्षिक परीक्षा से रोक लेने के कारण, अमुक विद्यालय केप्रधान (प्रिंसिपल्') को लाठियों से मार ही डाला; तथा एक अन्य नगर मे, (स्कूल) पाठशाला के 'हेड मास्टर', मुख्य अध्यापक, को, कुछ ऐसे ही कारणों से, मार डाला; इति प्रभृति।

पहिले कह आये हैं, जीविका के अभाव से, अब कितने ही बी. ए., एम्. ए., आदि, डकैती, हत्या, चोरी, कर के उदर-पोषण करने लगे हैं; कुछ दिन हुए, उत्तर प्रदेश की पुलीस की ओर से, ऐसे कई के फ़ोटो-चित्र, समाचार पत्रों मे छापे गये थे।

प्रायः देहात के अभ्यागतों से सुनता हूँ, कि कृषक ने, स्वयं आधे पेट खा कर, बेटे को स्कुल कालेज मे पढ़वाया; पुत्र जी, पढ़ लिख कर घर आये, चारपाई पर बैठे हैं, बाप जी गाय बैल को सानी पानी देते हैं, खेत गोड़ते हैं, बेटे जी हँसते हैं, "यह हमारा काम नहीं है, बाप जी करें", इत्यादि।

पहिले, दो वर्ष मे 'इंटर', दो वर्ष मे 'बी. ए.', 'बी. एस्. सी.', दो वर्ष मे 'एम्. ए.', 'एम्. एस्. सी.' आदि होते थे; एवं संस्कृत विद्यालयों मे कम से कम चार वर्ष मे 'आचार्य'; तत्पश्चात् दो वर्ष मे 'पोस्ट-आचार्य। अब, अंग्रेजी विभाग तथा संस्कृत विभाग, दोनों मे, छात्रों ने कोलाहल मचाया है कि तीन ही वर्ष मे 'पोस्ट-आचार्य' हो जायँ।

दुर्दशा के तीन मुख्य कारण।

निष्कर्ष यह कि इस सब घोर दुरवस्था, उच्छृंखलता, समाज दुर्दशा के वही तीन प्रधान कारण हैं, (१) जन-संख्या की प्रतिदिन अधिकाधिक अति वृद्धि, (२) सत्य सनातन-धर्म की शिक्षा का अभाव, (३) प्रत्येक

छात्र की स्वाभाविक रुचि और योग्यता के अनुसार, शिक्षा का न दिया जाना।

इस सब विषय पर, मैंने अपने हिंदी ग्रंथ 'पुरुषार्थ' मे, तथा संस्कृत पद्यमय ग्रंथ 'मानव-धर्म-सारः' मे, तथा अंग्रेजी मे लिखे कई ग्रंथों मे, विस्तार से विचार किया है, और मानव जीवन-सम्बन्धी समस्याओं और उलझनो को सुलझाने के उपायों की, प्राचीन स्मृतियों ही के उपदेश आदेश के अनुसार, सूचना की है।

"संस्कृत ही बोलो"।

'शुद्धि' के सम्बन्ध मे एक अनुभव और लिखना उचित जान पड़ता है। ऊपर कहा कि हिन्दू-महा-सभा का एक वार्षिक अधिवेशन श्री मलवीय ने 'केन्द्रीय-हिन्दू-विद्यालय' के भवन मे, बड़े समारोह से, सन् १९२३ ई० के दिसम्बर मास के अन्तिम सप्ताह मे कराया। काशीनरेश महाराज प्रभुनारायण सिंह सभापति हुए। अब मुझे ठीक याद नहीं है, पर किसी छोटी समिति ('कमिटी') की सदस्यता के लिये, एक कश्मीरी ब्राह्मण युवा ने, जिन्हों ने केन्द्रीय हिंदू-विद्यालय मे पढ़ा था, और सनातन-धर्म पर मेरे व्याख्यान सुना था, स्नेह-वश, मेरे नाम का उपन्यास किया। मालवीय जी को तथा अन्य विशिष्ट ब्राह्मण पंडितों को यह अच्छा नहीं लगा कि जन्मना 'वैश्य' ऐसी समिति का सदस्य हो। एक सज्जन ने खड़े हो कर कहा कि जो कोई कुछ कहना चाहै, वह संस्कृत ही में कहै। स्पष्ट ही, मेरी अ-योग्यता सिद्ध करना उनका आशय था; और ठीक ही था; पर, मुझे, मन में हँसी आई, और मै ने हिम्मत बाँधी; महाराज प्रभुनारायण ने पंडितों की इच्छा के अनुसार आज्ञा दे दी। मै ने आरम्भ किया

'नमः सभाभ्यः, नमः सभापतिभ्यः,
मनाग् अपि तु मे ऽभ्यासो नऽस्ति संस्कृत-भाषणे,
तथापि भवतां आज्ञा शिरो-धार्या, इति यत्यते।

अपाणिनीयाः ये तु स्युः प्रयोगाः मम भाषणे,
न पाणिन्यादयो ऽर्वाचः, प्रांचः एव तु सेविताः;
कविः आद्यो हि वाल्मीकिः; तथैव च पराशरः,
कर्ता विष्णुपुराणस्य ; कृष्णद्वैपायनस्ततः
सुतोऽस्य प्रथितः पृथ्व्यां, वेद-व्यासः इति श्रुतः,
पुराणानां च संस्कर्ता, महा-भारत-कृत् तथा;

इत्यादि, से आरंभ कर के टूटी-फूटी संस्कृत मे, मैं अपना मुख्य अभिप्राय, 'कर्मणा वर्णः', कह गया। यह भी कहा कि आप लोगों के मार्ग मे मैं कंटक नहीं होना चाहता, अतः विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि मेरा नाम समिति के सदस्यों मे कदापि न रक्खा जाय; अपितु, उन्ही का रक्खा जाय, जिन के लिये भगवान् मनु ने आज्ञा की है,

मानवस्यऽस्य शास्त्रस्य रहस्यं उपदिश्यते,
अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यात् इति चेद् भवेत्,
यं शिष्टा ब्राह्मणाः ब्रूयुः सः धर्मः स्याद् अशंकितः;
धर्मेण ऽधिगतो यैस्तु वेदः स-परिबृंहणः,
ते शिष्टाः ब्राह्मणाः ज्ञेयाः, श्रुति-प्रत्यक्ष-हेतवः। (मनु.)
इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्;
बिभेति अल्प-श्रुताद् वेदो, माम् अयं प्रतरिष्यति।(म.भा.)

अर्थात्, जो सुनी बात को साक्षात् कर के दिखा सकें इतिहास-पुराण के जानकार हों, वे ब्राह्मण, ऐसी अवस्था मे, जिस के लिये वेदादि धर्म-शास्त्रों मे कोई नियम न बताया हो, जो निर्णय कर दें, कि ऐसा करना धर्म है, वही धर्म माना जाय। इतिहास मे लिखा है कि कुबेर का पुष्पक विमान रावण ने छीन लिया था, उस पर बैठ कर आकाश मे उड़ता था; एवं कृष्ण के पास गरुड़-नामक विमान था, तथा, उसी समय मे कृष्ण के शत्रु साल्व के पास 'सौभ' नामक विमान था। किंतु, आज काल ऐसी 'श्रुति को प्रत्यक्ष करने वाले' तो यूरोप, अमेरिका, मे उत्पन्न हुए

हैं; भारत मे, उन से सीख कर, अब वायु-यान चलाने, और बनाने भी, लगे हैं।

इन श्लोकों का प्रभाव अच्छा हुआ। महा-महोपाध्याय अम्बादास शास्त्री (महाराष्ट्र) ने खड़े हो कर कहा, कि 'बात ठीक है, जो ऐसे ब्राह्मण हों, उन का नाम समिति मे रक्खा जाय'। सब लोग चुप रहे; समिति नहीं बनी।

ऊपर जो लिखा वह पाठकों के मनो-विनोदार्थ भी लिखा, तथा 'हिंदू-समाज' और 'हिंदू-धर्म' की दुर्दशा पर ध्यान दिलाने को भी।

"हिन्दू"–नामक जंतु, कोई भी, कहीं भी, पृथ्वी पर है ?

'सेंट्रल् हिन्दू कालेज' के पुराने भाग मे, जिसे काशी नरेश महाराज प्रभुनारायण सिंह ने, उस की निरीक्षक सभा (Board of Trustees) और प्रबंधकारिणी समिति (Managing Committee) को, एक अन्य, समीपवर्ती बहुत बड़े, पत्थर के बने, भवन, और दस बीघा भूमि, के साथ दान दे दिया था, एक चबूतरा, बहुत विशाल, है। एक सौ चौसठ फ़ुट (१६४) लम्बा, चौअन (५४) फ़ुट चौड़ा, भारी पत्थरों से पटा हुआ, तीन ओर सुन्दर तकिये, मुतक्कों से घिरा हुआ, खुला, अर्थात् इस के ऊपर कोई छत नहीं है। मेरी जानकारी मे, भारत मे, इतना बड़ा और ऐसा, कोई चबूतरा नहीं है। इसी के मध्य मे, चौंसठ फ़ुट लम्बे, चौअन फ़ुट चौड़े भाग के ऊपर वितान (चँदवा) बाँध दिया गया था; उसी के नीचे हिंदू-महा सभा की बैठक होती थी; उस के दोनों ओर खुला था, श्वेत चाँदनी बिछी रहती थी; उक्त 'संस्कृत-भाषण' के बाद, मै एक तरफ़ के खुले स्थान मे जा बैठा; स्वामी श्रद्धानन्द जी भी बैठे थे. तथा अन्य पंडित लोग। 'शुद्धि' की बात चली; मै ने श्रद्धानन्द जी से पूछा. 'शुद्ध कर के, उस मनुष्य को आप क्या बनाओगे ?'; उत्तर मिला, 'हिन्दू'; मै ने पूछा, 'हिन्दू नामक जन्तु कहीं पृथ्वी पर आपने देखा है ? मै ने तो नहीं देखा; जब देखा तब बीसियों जात्युपजातियों के

ब्राह्मणो मे से, बीसियों जात्युपजातियों के क्षत्रियों मे से, तथा वैश्यों, एवं सत् शूद्रों मे, तथा 'अस्पृश्य' कहलाने वाले, प्रायः दो सहस्र जात्युपजातियों मे से, किसी एक का, जंतु देखा। हाँ, कल परसों मुसल्मान वा ईसाई बना हो, और आज आप उसे शुद्ध कर लो, तब तो उसे उस की उपोपजाति मे मिला दे सकोगे; पर यदि दस बीस वर्ष, कि पुनः पीढी दो पीढ़ी. बीत गई हों, तब क्या करोगे ?; तगा (दान-त्यागी) ब्राह्मणो, और मल्काने क्षत्रियों, की कथा पहिले कह आये हैं।" इस का कुछ उत्तर श्रद्धानन्द जी नहीं दे सके। 'शुद्धि' का कार्य नहीं ही चला। यदि 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त को, जिसे वे स्वयं, नितरां सुतरां, मानते थे, हिंदू समाज को मनवा सकते, तो 'शुद्धि'-कार्य, अनायासेन, स्वतः, सिद्ध हो जाता।

"न बुद्धिरस्तीत्यपि बुद्धि-साध्यं"।

महाऽधिवेशन की अंशभूत एक छोटी बैठक 'कालेज' के पुस्तकागार के 'हौल' (hall) मे हुई। विद्वान् पंडित जन और मालवीय जी तो थे ही; परंतु महामहोपाध्याय श्री जयदेव मिश्र (मैथिल) प्रमुख नियत किये गये। मै भी बुलाया ग्रया। उन का पक्ष था कि 'धर्म' मे 'बुद्धि' को स्थान नहीं है, जो 'शास्त्र' कहै वही मानना। मै भी बुलाया गया, इस लिये कि श्री जयदेव जी मुझे समझा दें, और मुझ से मनवा दें, कि 'जन्मना एव वर्णः' का सिद्धान्त ही ठीक है, और जन्म-ब्राह्मण के सिवा किसी अन्य को धर्म की शिक्षा देने का अधिकार नहीं है। तर्क-प्रतितर्क चला; मै ने कहा, "गायत्री-मंत्र, जो वेदों का सार माना जाता है, वह क्षत्रिय विश्वामित्र का रचा है; (श्री पंचानन तर्करत्न द्वारा, ईसा की विंशी शती के प्रथम दशक मे, कलकत्ता नगर मे प्रकाशित) मत्स्य-पुराण के १४५ वें अध्याय मे स्पष्ट लिखा है,

> भलंदनश्च, वासाश्वः, सांकीलश्च, इति ते त्रयः,
> एते मंत्रकृतो ज्ञेयाः वैश्यानां प्रवराः सदा।

ऐसे ही कितने अन्य क्षत्रियों ने वेद के मंत्र रचे हैं; तो जब वैश्यों ने वेद-

मंत्र रचे हैं, तब धर्म-शिक्षा वे न देने पावें, यह सद्-बुद्धि-संमत नहीं हो सकता। और भी, प्रतिक्षण-परिणामी संसार की, जगत् की, अवस्था सदा बदलती रहती है; नयी अवस्था के लिये, नये धर्म बनाना आवश्यक होता है; निश्चयेन मनु स्मृति तो मूल-स्मृति है ही, "यद्वै किंचन मनुरवदत् तद् भेषजं" (वेद),

> यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः,
> स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः। (मनु०)

परंतु यह आप सब लोग जानते ही हैं, कि समय समय पर ऋषियों ने सत्ताईस (२७) अन्य स्मृतियाँ बनाईं। 'अष्टाविंशति स्मृति-संग्रहः' के कई संस्करण, कई नगरों मे छप चुके हैं। स्वयं भगवान् मनु ने ऐसे परिवर्तन के लिये अनुमति दे दी है,

> अन्ये कृतयुगे धर्माः, त्रेतायां, द्वापरे, ऽपरे,
> अन्ये कलियुगे नृणां, युगह्रासऽनुरूपतः। (म०)

अन्य स्मृति मे लिखा है,

> कृते तु मानवाः प्रोक्ताः, त्रेतायां याज्ञवल्क्यजाः,
> द्वापरे शंख-लिखिताः, कलौ पाराशराः स्मृताः।"

और भी मै ने कहा, "शास्त्र शास्त्र की दुहाई तिहाई दी जाती है, तो कौन शास्त्र? कृषिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र! सभी तो शास्त्र है; भगवद्गीता मे कहे 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ', का ही पंडित लोग प्रमाण देते हैं पर स्वयं कृष्ण ने शास्त्र का जो अर्थ कहा, 'गुह्याद् गुह्यतरं शास्त्रं', 'अध्यात्म-विद्या विद्यानां', उस को भुला देते हैं।" श्री जयदेव जी ने कहा, "जिन ऋषियों ने स्मृतियाँ रचीं, उन के ऐसी तपस्या, दिव्य दृष्टि, योग-सिद्धि, हम लोगों के पास नहीं है; हम तो उन की लिखी पंक्तियों का अर्थ ही लगा सकते हैं"। मै,—"अर्थ भी, एक ही वाक्य के कई कई, भिन्न भिन्न व्याख्याता लगाते हैं; कौन ठीक है कौन नहीं, इस का भी

निर्णय तो, प्रत्येक अर्थ लगाने वाले को, अपनी बुद्धि ही से करना पड़ेगा; 'न बुद्धिरस्तीत्यपि बुद्धि-साध्यं', 'विचारस्य खंडनमपि विचारेणैव क्रियते'; और भी, आप लोग अपने को उन्ही प्राचीन ऋषियों के वंशज मानते हौ; और हौ ही अपना अपना गोत्र और प्रवर जानते कहते हो। भगवान् मनु ने दस आदिम महर्षियों को उत्पन्न किया, तथा चारो वर्णो के मनुष्यों, मानवों, को; स्वयं मनु स्वयं-भू: ब्रह्मदेव के पुत्र थे; अतः हम सब ही मानव हैं; मै भी अवश्य ही हूँ। जिस परमात्मा की शक्ति से प्रेरित हो कर उन ऋषियों ने धर्माम्नान किया, क्या वह परमात्मा मर गया या अब शक्तिहीन हो गया ? वह तो अजर, अमर, अनादि, अनंत, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान है; जैसे प्राचीन ऋषियों के भीतर था, वैसे ही आप मे भी, मुझ मे भी, सभी जीवों मे, विद्यमान है; उसी के बल, आवश्यक घटाव-बढ़ाव, समय-अवस्था-निमित्तऽनुसार, स्मृतियों मे, धर्मो मे, कीजिये। अपने भीतर वर्तमान परमात्मा पर भरोसा कीजिये।

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुः, आत्मैव रिपुरात्मनः;
उद्धरेद् आत्मनाऽत्मानं, नऽात्मानं अवसादयेत्। (गीता०)
आत्मैव देवताः सर्वाः, सर्वं आत्मनि अवस्थितं,
सर्वं आत्मनि संपश्येत्, सत् च ऽसत् च, समाहितः (मनु०)॥

"हमारे हृदय मे ऐसा बल नहीं है।"

श्री जयदेवजी ने कहा, "हाँ, पुस्तकों मे ऐसा लिखा अवश्य है, परंतु हमारे हृदय मे तो ऐसा बल नहीं है"। मै ने कहा, "आप लोग अपने को धर्माध्यक्ष, धर्म-धुरं-धर, धर्म-रक्षक समझते और कहते हौ, और साधारण हिंदू-जनता भी आप को ऐसा ही जानती मानती है, और धर्म-विषयक उसे कोई शंका होती है, तब आप से पूछती है, और आप के कथन के अनुसार कार्य करती है, किस बल पर आप उन को कर्तव्य की शिक्षा देते हो ! उसी बल पर धर्म मे कुछ परिवर्तन करने की भी शिक्षा दो। यदि इस के लिये आप का हृदय दुर्बल है, तो आप का सब धर्म भी दुर्बल

है; इसी हेतु से 'हिंदू-धर्म' और 'हिन्दू-समाज' निरय मे गिरा हुआ है"

ऐसा ही अनुभव मुझे एक बार म. म. शिवकुमार शास्त्री के सा
हुआ। सन् १९०८-९ की बात है। मेरे छोटे भाई राधाचरणजी
श्यालक, ब्रिटेन की राजधानी लन्दन से बैरिस्टर हो कर लौटे। उ
समय हम चार भाई थे; हम और जो हमारे सयाने पुत्र थे, सब ने
गंगा पर, बड़े बजरे की छत पर बैठ कर, जिस मे किनारे से सब लो
देख सकें, तीसरे पहर, जाड़े के दिन में, साथ भोजन किया। दूसरे ह
दिन, अगरवाल बिरादरी के चौधरियों ने हमारे कुल को 'जात बाहर'
कर दिया। उस समय काशी मे, गवर्मेंट संस्कृत विद्यालय मे, सात आ
महामहोपाध्याय प्रकांड विद्वान्, भिन्न-भिन्न शास्त्रों के प्राध्यापक थे
समस्त संस्कृत वाङ्मय मे निष्णात म. म. गंगाधर शास्त्री, म. म. रा
शास्त्री, म. म. दामोदर शास्त्री, म. म. तात्या शास्त्री, म. म. कालीचरण
भट्टाचार्य, भारत-विख्यात ज्योतिषी म. म. बापूदेव शास्त्री, उनके शिष्य उन
भी अधिक विख्यात म. म. सुधाकर द्विवेदी, ज्योतिषी, और संस्कृत तथ
हिन्दी के उत्तम कवि। इन सब के पास, हम लोगों ने, अपने कुल के
ज्योतिषी और कुल के पुरोहित से कहलाया। सब सज्जनों ने व्यवस्थ
पर हस्ताक्षर कर दिया, कि विद्या-संग्रह के हेतु, समुद्र से दूसरे दे
जाना, कोई भारी अपराध नहीं है, इस का सरल प्रायश्चित्त, धर्म
शास्त्रानुसार, हो सकता है। किंतु, उक्त विद्वानों ने एक समय (शर्त
लगा दिया, "जब म. म. शिवकुमार शास्त्री भी इस व्यवस्था प
हस्ताक्षर कर दें, तभी प्रकाश की जाय"। हमारे ज्योतिषी और पुरोहि
उन के पास गये; उन्हों ने हस्ताक्षर करना स्वीकार नहीं किया; मैं स्व
गया, कहा, "सब लोग जानते हैं कि वाल्मीकि-रामायण के कुछ पत्रों क
पाठ आप प्रतिदिन कर लेते हैं; राम जी की सत्य-वादिता प्रसिद्ध है
आप सत्य कहिये; क्या आप को सचमुच यह विश्वास है कि समुद्र-यात्र
का प्रायश्चित्त नहीं ही हो सकता ? समुद्र-यात्रा को तो मनुस्मृति में
उपपातकों मे भी नहीं गिनाया है। आप लोगों ही की दया से कुछ थोड़

संस्कृत मैं ने भी पढ़ ली है; अष्टाविंशति स्मृतियों का कई वार पारायण कर गया हूँ; उन मे महापातकों तक के प्रायश्चित्त लिख दिये हैं; यथा मनु, तथा अन्य सत्ताईस स्मृतिकारों ने, समुद्रयात्रा को उपपातकों मे भी नहीं गिनाया है; 'रघुवंश' काव्य मे कालिदास ने लिखा है कि सम्राट् रघु ने अष्टादश द्वीपों मे यज्ञ किये और यूप गाड़े; पुराणो मे कहा है कि कृष्ण और अर्जुन ने कई द्वीपों मे, समुद्र से जा कर, राक्षसों, दस्युओं, और म्लेच्छों का नाश किया; और भी, लंदन नगर जा कर भारतीय हिंदू कौन काम कर सकता है जो यहाँ भारत में अधिकांश मनुष्य नहीं करते ? अवतार-पुरुष राम और कृष्ण, तथा सभी क्षत्रिय और ब्राह्मण मांस खाते थे; यह महाभारत मे स्पष्ट लिखा है; बलराम का मद्यपान प्रसिद्ध है; कृष्ण और अर्जुन भी 'क्षीबौ' कहे गये हैं; सब यादव, मद्य पी कर ही, आपस मे कट मरे; अगम्यागमन भारत मे क्या नहीं होता ? और भी मैं ने कहा, "महा-भारत मे, युद्ध के वर्णन मे, जब योद्धा पराजित हो कर भागने लगे, और 'किं-कर्तव्य-विमूढ़' हुए, तब उनके लिये बीसियों बार उपमा दी है, 'भग्नपोतः इवऽर्णवे'; निश्चयेन, उस समय मे धनार्थी व्यापारी वैश्य तथा विजिगीषु क्षत्रिय काष्ठ-निर्मित वहित्रों से समुद्रयात्रा करते थे, और उन के साथ, परिचर्या के लिये, शूद्र भी, अरित्र वा क्षेपणी (डाँडा) खेने, कर्ण (पतवार) चलाने, के लिये कैवर्त और कर्णधार भी अवश्य ही जाते होंगे। एवं, 'कथासरित्सागर' नाम के, कथानकों के बृहत् संग्रह मे, पचासों, सैकड़ों, समुद्रयात्राओं का वर्णन है; गुणाढ्य ने 'बृहत् कथा' के नाम से 'पैशाची' (अर्थात् जंगलवासी बर्बरों की प्राकृत) भाषा मे रचा, और कश्मीर के विद्वान् सोमदेव भट्ट ने विदुषी रानी की प्रेरणा से, उत्तम संस्कृत श्लोकों मे, संक्षेप कर के, चौबीस सहस्र पद्यों मे लिखा। मूल बृहत् कथा, ईसा की प्रथम वा द्वितीय शताब्दी मे लिखी गई। माना कि कहानियों का संग्रह है, किंतु आख्यानक भी वास्तव के आधार पर ही रचे जाते हैं। दुर्गासप्तशती भी श्लोक है,

"'दावानलो यत्र, तथाऽब्धिमध्ये, तत्र स्थिता त्वं परिपासि विश्वं ।"
वेद में भी तुग्र और भुज्यु की समुद्रयात्रा का वर्णन है, तथा यह कि जब उन की नौका, भीषण वात्या (आँधी) में पड़ कर डूबने लगी, तब अश्विनीकुमार ने 'शतपत्रं, शतऽरं' वायुयान में उन को उठा लिया और बचाया । इन दूर की बातों को जाने दीजिये, तीन सौ वर्ष से कम हुए परम शूर, प्रवीर, सनातन धर्म के रक्षक, विधर्मियों के हन्ता, शिवाजी महाराज, ने बड़ी नौसेना, समुद्र से आने वाले अरब दस्युओं, तथा पोर्चुगीज़ आक्रामकों से, समुद्र में दूर दूर जा कर, उन से युद्ध करने को सन्नद्ध कराया, और आँगड़े नाम के वीर, उस के मुख्य सेनापति थे; और उन्होंने कई बार सामुद्रिक युद्धों मे, आक्रामकों को हराया । वे नहीं जात बाहर किये गये । और भी, स्वयं मनुस्मृति मे एक स्थान पर लिखा है कि समुद्रयात्रा के जो व्यापारी बहुमूल्य रत्न, स्वर्ण, आदि लावें उन से पंचाशत्तम भाग ही कर के रूप में लेना चाहिये, क्योंकि बहुत भारी जोखिम उठाना पड़ता है, और काष्ठ निर्मित वहित्र बहुधा टूट जाते थे । आज काल के ऐसे एक एक सहस्र फुट लम्बे लौह-बद्ध, यंत्र चालित तो थे नहीं जो भीषण से भीषण झंझा वातों का सामना, निर्भय हो कर, करते हैं ।,' यह सब मैं ने कहा । शिवकुमार जी ने कहा कि "आप मुझ से सत्य कहने को कहते हैं तो सत्य यह है कि समुद्रयात्रा कथमपि अ-प्रायश्चित्तीय पातक नहीं है; किन्तु मेरा हृदय दुर्बल है; लोकापवाद से डरता हूँ; साधारण जनता मुझ को गाली देगी" । वही शब्द जो जयदेव मिश्र से कहे, उन से भी कह के चला आया ।

अब हवा बदली है ।

यह सब बात पुरानी हो गई । अब तो हवा बहुत बदल गई है, और अधिकाधिक बदलती जाती है; विशेष कर जब से 'स्वराज' हो गया है । जैसा पहिले कहा, अब तो बिरादरियों के चौधरियों के, तथा महामहोपाध्यायों के, पुत्र भी और पुत्रियाँ भी, यूरोप, अमेरिका, एशिया,

आफ़्रिका, इंडोनीशिया, के सभी देशों मे जाते हैं, विद्या-संग्रह करने को, वा व्यापार से धन-संग्रह के लिये; पैंतीस चालीस देशों मे तो भारत के राजदूत (एम्बासाडर, हाइ कमिश्नर, आदि) और उन के 'स्टाफ़' (साथ मे, उनकी आज्ञा के अनुसार काम करने वाले) अब काम कर रहे हैं। और आश्चारक बात यह है कि युवा पुरुषों से युवती स्त्रियों ने अधिक बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता दिखाया है। क्यों न हो, "विद्याः समस्ताः तव, देवि !, भेदाः, स्त्रियः च सर्वाः, स-कलाः जगत्सु", "मेधाऽसि, देवि !, विदित-ऽखिल-शास्त्र-सारा", "कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः" "या मुक्तिहेतुः··· अभ्यस्यसे···मोक्षऽर्थिभिः मुनिभिः······विद्याऽसि सा।···" (दुर्गा-सप्त-शती)। सब विद्या, सब ज्ञान, की आकर तो सर्व-शुक्ला सरस्वती देवी ही हैं।

मालवीय जी का एक अन्य अद्भुत मत।

ठीक स्मरण नहीं है, किन्तु प्रायः सन् १९२९ वा १९३० की बात होगी, का० वि० विद्यालय के वार्षिक समावर्त्तनोत्सव (Convocation) की समाप्ति के पश्चात्, मै मालवीय जी के वास-स्थान को उन के साथ, गया। और भी सज्जन थे; वार्तालाप हो रहा था। एक समावृत्त स्नातक आया; उस ने कहा, 'अब मै अपने ग्राम को जा रहा हूँ, ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त कर ली है, आप से आशीर्वाद लेने आया हूं।' उस के मुख की आकृति से और वेश-भूषा से मालवीय जी को सन्देह हुआ; पूछा, तुम्हारी जाति क्या है ?; कहा 'क्षत्रिय'। तत्काल मालवीय जी बहुत रुष्ट हुए, 'क्षत्रिय को ज्योतिषी होने का क्या अधिकार ? यह तो ब्राह्मणो, की जीविका का साधन है'। स्तब्ध और लज्जित और आश्चारित हो कर वह सुनता रहा, अन्त मे, जब मालवीय जी चुप हुए, तब उन के पैर छू कर चला गया। मुझे बहुत क्षोभ हुआ, और किंचित् रोष भी; मै ने कहा, "मालवीय जी, मेरी धृष्टता क्षमा कीजियेगा, पर कहना आवश्यक हो गया है; यह आप ने किस वेद, पुराण, इतिहास, स्मृति, मे

पढ़ा है कि ब्राह्मण के सिवा कोई भी ज्योतिष न पढ़ै ? आप तो श्रीमद्-भागवत पुराण के बहुत रसिक (शौक़ीन) हैं; उस (के नवम स्कंध के इक्कीसवें अध्याय) को देखिये, यादवों मे

"गर्गात् शिनिः' ततो गार्ग्यः क्षत्राद् ब्रह्म ह्यवर्तत ।"

क्षत्रिय वर्ण छोड़ कर ब्राह्मण हो गये । शिनि के पौत्र "सात्यकिश्चऽ-पराजितः", अर्जुन के प्रिय शिष्य हुए ।

"गर्गः पुरोहितो, राजन् , यदूनां, सुमहातपाः,
व्रजं जगाम नंदस्य, वसुदेव-प्रचोदितः ।"

गर्ग ने बलराम और कृष्ण के संस्कार, नामकरण आदि, किये और जन्म-पत्र लिखा । यह सब आप ने क्या नहीं पढ़ा है, जो कहते हो कि क्षत्रिय को ज्योतिषी बनने का अधिकार नही" ? ऐसी संकुचित और ईर्ष्यामय दृष्टि से यदि आप इस विश्व-विद्यालय का काम चलाइयेगा, तो आप का अभीष्ट कदापि सिद्ध नहीं होगा, और सब कार्य मिथ्या और परस्पर जाति-द्वेषऽात्मक भावों से दूषित हो जायगा ।" सो ही हुआ ।

परलोक-गत व्यक्ति का दोष-दर्शन क्यों ?

यह प्रश्न हो सकता है कि 'अब श्री मालवीय इस लोक मे नहीं हैं; उन के दोष दिखाने से क्या लाभ ?' उत्तर यह है, 'मालवीयजी साधारण व्यक्ति नहीं थे, अपि तु ऐतिहासिक पुरुष थे; जब से इंडियन् नैशनल् कांग्रेस का, सन् १८८५ ई० मे, पुण्यकीर्ति श्री ऐलन औक्टेवियन् ह्यूम् के नेतृत्व मे, आरंभ हुआ, और बंबई नगर मे उस का पहिला अधिवेशन हुआ, तब से मालवीयजी, कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ताओं के साथ, उपनिवेशों के ऐसा स्व-शासन' (Self-Government along Colonial Lines), के लिये यत्न करते रहे । महात्मा गाँधी के उदय से पहिले, 'पूर्ण-स्वतंत्रता', 'पूर्ण-स्वराज', कांग्रेस का लक्ष्य नहीं था । हाँ, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महा-शय महोदय ने 'स्व-राज हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' (Swaraj is our Birthright)

यह घोषणा की; किंतु उस समय के नेता नायक, 'लिबरल्' (नरम दल वाले) थे; अंग्रेज़ों के साथ रह कर, थोड़े-थोड़े अधिकार, उन के ऐसे, उन से लेकर संतोष करना चाहते थे । 'स्व-राज' शब्द को स्व-नाम-धन्य श्री दादाभाई नौरोजी ने जन्म दिया । लोकमान्य को, एक घोर अपराध का मिथ्या अध्यारोप करके, अंग्रेज़ी सरकार ने बंबई के उच्च न्यायालय मे मुक़द्दमा चलाया; हाईकोर्ट से छः वर्ष कारावास का दंड दिया गया; उत्तरी बर्मा की राजधानी मांडले के कारागृह में रक्खे गये। किंतु, पाश्चात्य पौरस्त्य ज्ञान-विज्ञान मे, संस्कृत तथा अंग्रेज़ी दोनों वाङ्मय मे, निष्णात, इग्लैंड, अमेरिका आदि मे प्रसिद्ध थे; कई उत्तम पुस्तकें लिख चुके थे जिन का, पश्चिम मे, बहुत आदर हुआ; वहाँ के बड़े-बड़े, प्रसिद्ध, विद्वानों ने भारत की अंग्रेज़ी सरकार को लिखा कि इनको कोई कष्ट न दिया जाय, और पुस्तकें यथेच्छ दी जायँ । ऐसा ही हुआ । प्रसिद्ध ग्रंथ, 'गीता रहस्य' तिलकजी ने वहीं लिखा, जिस का भारत की प्रांतीय भाषाओं तथा अंग्रेज़ी मे भी अनुवाद हुआ । तिलक जी को कारावास का दंड सन् १९०८ ई० मे दिलाया गया । 'पंजाब केसरी' लाला लाजपत रायजी को बिना किसी अपराध का आरोप किये, बिना किसी न्यायालय मे मुक़द्दमा चलाये, एक पुराने 'रेग्युलेशन' सन् १८१८ के अनुसार, रहस्य रीति से पकड़ा, और वे मांडले (ऊपरी बर्मा की राजधानी) मे रक्खे गये । सन् १९०७ मे मांडले भेजे गये; कुछ महीनो ही के बाद वैसे ही चुपके से अपने घर पहुँचा दिये गये । उनके साथ भी कोई क्रूर व्यवहार कारा मे नहीं किया गया; प्रसिद्ध विद्वान् और वाग्मी थे ।

कांग्रेस का एक अधिवेशन, प्रयाग में, सन् १८८८ के दिसम्बर मे हुआ; उस को मैं ने, प्रेक्षक के रूप से, देखा । श्री ज्यौर्ज यूल सभापति थे; श्री ह्यूम ने प्रधान मंत्री के रूप से, गत वर्ष के कार्यों का विवरण पढ़ा; पंडित अयोध्यानाथ जी ने भाषण किया; हास्य-रस-प्रधान साप्ताहिक 'अवध पंच' (लखनऊ) के सम्पादक श्री सज्जाद हुसैन ने भाषण किया, उर्दू मे, जिस को सुनते और हँसते-हँसते श्रोताओं के पेट मे बल पड़ गये;

एक आँध्र सदस्य ने तेलुगु भाषा मे भाषण किया जो किसी के समझ मे नहीं आया, यद्यपि श्रुति-मधुर था; मालवीय जी ने भी अंग्रेज़ी मे व्याख्यान दिया, जिस की श्री ह्यूम ने पीछे प्रशंसा की; अधिकतर भाषण अंग्रेजी मे ही हुए; काशीवासी राजा शिव प्रसाद जी ने भी, जो पहिले 'इन्स्पेक्टर औफ़ स्कूल्स' रह चुके थे, अब 'पिंशन' पाते थे, बड़े सम्मानित प्रतिष्ठित विद्वान् थे, और हिन्दी-प्रचार के लिये बहुत बड़ा काम कर चुके थे, कई पुस्तकें, अच्छी-अच्छी, हिंदी मे, प्रकाश की थीं; भारत का इतिहास, प्राचीन काल से अंग्रेजी राज तक का, छोटा, 'इतिहास-तिमिर-नाशक' के नाम से छपवाया; इस के पहिले कोई इतिहास, संपूर्ण भारत का नहीं लिखा वा प्रकाश किया गया था; अब तो १६-१६, विशाल-काय, संचिकाओं मे औक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिज से प्रकाश हुए हैं, तथा, भारतीय विद्वान् , इन से भी दूने चौगुने परिमाण के इतिहास, भारत के, लिखने मे लगे हैं । नित्य-नित्य नई-नई सामग्री भी मिलती जाती है, जो पहिले अनुपलब्ध थी; हारप्पा और मोएन जोदड़ो की चर्चा पहिले की जा चुकी है । अस्तु, 'प्रकृते किं आयान ?'; राजा शिव प्रसाद जी ने, अपने विचार के अनुसार कहा, "मैं ग़दर (सिपाही युद्ध) के और उस के पहिले के समय के, पंजाब मे, सिख राज के अंतिम दिनो के उपद्रवों को देख चुका हूँ; कोई गृहस्थ सुख-नीद सो नहीं सकते थे; जब से अंग्रेज़ी राज स्थिर हुआ है, तब से देश मे शान्ति है; लोग कहते हैं कि बाघ और बकरी एक साथ एक घाट पर पानी पीते हैं' ; इस लिये हमलोगों को चाहिये कि अंग्रेज़ी राज से मिल कर काम करें, और, धीरे-धीरे, हुकूमत के इख़्तियारों मे हिस्सा उस की रज़ामंदी से पावें, और मुल्क की बेहबूदी के लिये, उन इख़्तियारों का नेक इस्तेमाल करके, कोशिश करें ।"

तत्काल चारो ओर से (hiss-ing) 'श्शी;', 'श्श्शी:', का शब्द उठा; मानो बहुत से सर्प फुफकार रहे हैं । अंग्रेज़ी प्रकार है कि, जब भाषण से प्रसन्न होते हैं तब ताली बजाते हैं और (hear, hear) 'सुनो, सुनो'

पुकारते हैं। ताली बजाना, यह भारत तथा अन्य बहुत देशों का, प्रकृत्या, हर्षसूचक कर्म है, छोटे बच्चे भी ऐसा करते हैं; तथा 'छिः' 'छिः' वा 'शिः' 'शिः', निंदा-सूचक। राजा शिव प्रसाद, मुख पर तिरस्कार और खेद की मुद्रा धारण किये, गौरव से धीरे-धीरे पदपात करते हुए, विशाल पंडाल के बाहर चले गये। जन्मना जैन थे, पर श्रद्धा विश्वास उनका अद्वैत-वेदान्त पर था।

श्रोताओं को राजा शिव प्रसाद की बात अच्छी नहीं लगी; किंतु प्रायः सभी कांग्रेस के गण्य मान्य नेता, लोकमान्य जी ऐसे गिने चुने अपवादों को छोड़ कर, उसी बात के अनुसार, नरम दलीय (liberal policy) नीति पर चलते रहे। श्री मालवीय ने भी, प्रयाग में, एक लेफ़्टेनेंट-गवर्नर, सर् ऐन्टोनी मैक्डानेल्, के नाम से 'मैक-डानेल-बोर्डिङ् हौस' (छात्रावास) बनवाया, और, बाद मे, एक उपसम्राट् (Viceroy) लार्ड मिंटो के नाम से 'मिंटो पार्क' (उद्यान) और 'मिंटो पिलर (स्तंभ) प्रयाग के दुर्ग के पास बनवाया। उस समय मे, अंग्रेज़ी शासन का साक्षात् विरोध संभव भी नहीं था। मैकडानेल् एक दृष्टि से, अच्छा पुरुष था; जब तक वह इस प्रदेश का (जिसका नाम उस समय 'नोर्थ-वेस्टर्न-प्रौविंसेज़' था) शासन रहा, राजभवन मे गो-मांस और शूकर मांस पकने और खाने नहीं दिया, इस कारण से कि, 'इस समय हिंदू भी और मुसल्मान भी मेरी प्रजा हैं, और मुझे दोनो के धर्म की रक्षा करना चाहिये'; उस ने हिंदी को भी, उर्दू के साथ-साथ, (Court Language) न्यायालयों की भाषा बना दी, और काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की बहुत सहायता की।

नेताओं के गुणो-दोषों का विवेचन

डाक्टर ऐनी बिसेंट, श्री मोतीलाल नेहरू, श्री चित्तरंजन दास, महात्मा गाँधी, श्री सरोजिनी नायडू, हकीम अजमल खाँ, नेताजी सुभासचन्द्र वसु, डा० मुख़्तार अहमद अंसारी, श्री मालवीय, तथा अन्य

प्रान्तीय नेता, जिन्हों ने स्वतन्त्रता के लिये निःशस्त्र संग्राम में अच्छा काम किया और विविध प्रकार की बहुत-बहुत हानि उठाई, कारावास भोगा, धन खोया—इन सब के गुणो का तथा दोषों का विवेचन बहुत उचित है, क्योंकि बहुत शिक्षाप्रद है। एक और नाम लिख देना चाहिये, श्री रफ़ी अहमद किदवई; किन्तु इन मे गुण ही गुण थे, समग्र भारत के प्रत्येक प्रान्त मे नितान्त लोक-प्रिय थे; सच्चे अजात-शत्रु थे; यदि दोष था तो केवल एक, कि अति उदार थे; हिंदू, मुस्लिम, ईसाई को नहीं पहिचानते थे; यह मनुष्य है, इतना ही देखते थे; दिल्ली मे केन्द्रीय मन्त्री थे; बदल-बदल कर, कई विभाग उनको सौंपे गये; प्रत्येक का कार्य अच्छे से अच्छा किया; मंत्री के विशाल वास भवन मे, छोटे-छोटे दो-तीन कमरों मे अपना गुजर करते थे; निहायत सादा भोजन, निरामिष; अन्य कमरों मे, दालानों मे विविध सम्प्रदायों के मनुष्य, दरिद्र बनाकर पाकिस्तान से भगाये गये, भरे रहते थे; उनको खिलाते-पिलाते थे। जब उनका देहान्त हुआ, सहसा हृदय की गति बंद हो जाने से, तब अस्सी हजार रुपया ऋण छोड़ गये' उनके मित्रों ने सहर्ष चुकाया। लखनऊ के पास उनके जन्म-स्थान, मसौली ग्राम में, सरकार ने उत्तम स्मारक, मर्मर का बनवा दिया है; और एक पाठशाला भी, उन्ही के नाम पर स्थापित कर दी है।

गुण-दोश विवेचन से यह शिक्षा मिलती है कि, इन्हों ने यह भूल की, इस से देश की प्रगति मे बाधा हुई; यह काम अच्छा किया, अतः प्रगति को सहायता मिली। इसी लिये, महाभारत नामक 'इतिहास' मे, पचासों बार, समय-समय पर, कोई वृद्ध अनुभवी कहते हैं, "अत्रऽपि उदाहरंति इदं इतिहासं पुरातनं"; अमुक राजा ने ऐसा किया, मारा गया; ऐसा किया, विजयी हुआ। उक्त नेताओं में जैसा ऊपर कहा, बड़े गुण भी थे, बड़े दोष भी, कोई ईर्ष्यालु, कोई अभिमानी गर्वालु, कोई यशस्कामी, कोई प्राथम्येच्छु, पर सभी बड़े त्यागी, तन के भी, धन के भी; कोई-कोई ऐसे भी थे जो, भीतर-भीतर, स्वार्थ भी साध लेते थे।

एक अमेरिकन लेखक, फ़ोर्ड, ने लिखा है कि ईर्ष्या से जैसी हानि देशों की हुई है वैसी अन्य किसी 'पैशन' (passion) राग-द्वेष के प्रकार से, क्षोभ, संरंभ, से, हुई है, वैसी और किसी क्षोभ से नहीं हुई। दो देशों के बीच युद्ध हो रहा है; एक सेनापति को ईर्ष्या हुई कि अपने पक्ष के दूसरे को यदि उसकी इच्छा और प्रकार के अनुसार सहायता देता हूँ, तो उसकी सेना जीत जायगी, यश उस सेनापति का होगा, मेरा नाम नहीं होगा, अतः सहायता नहीं भेजी, दोनों ही हारे, देश की भारी क्षति हुई। ऐसे कितने ही उदाहरण इतिहास मे हैं। अथवा, जैसा विद्वद्वर श्री चिंतामणि विनायक वैद्य ने अपने रचे "मध्यकालीन भारत का इतिहास" (Decline and Fall of the Hindu Empire) मे लिखा है, जब 'सिंधु' देश पर, उस स्थान के पास जहाँ अब कराची नगर है, अरब देश के मुसलमानो ने समुद्र से आकर आक्रमण किया, महाराज हर्षवर्धन के देहावसान के प्रायः पैंसठ वर्ष बाद, तब वहाँ बड़ा नगर बसा हुआ था; चारों ओर दृढ़ और ऊँचा प्राकार था, बहुत भारी-भारी फाटक बने थे, जिनका उस समय के अस्त्र-शस्त्रों से तोड़ना कठिन था; दाहिर नाम का शूर-वीर राजा था; स्वयं, सेना सहित, नगर से बाहर निकल कर, अरबों से उसने संग्राम किया, और उनको मार भगाया' पर वे, अपने समुद्रयायी वहित्रों मे दूर जाकर, बैठ गये; राजा दाहिर के पास नौसेना नहीं थी, अतः उनका पीछा न कर सका। वैद्यजी ने लिखा है कि स्वयं अरब इतिहास लेखकों ने जो, सेना के साथ आये थे, लिखा है, कि दाहिर के सैनिक चक्रों का प्रयोग करते थे, दूर से फेंकते थे, और अरबी घोड़े की मोटी गर्दन को, हड्डी सहित साफ़ काट देते थे; अकाली सिख भी ऐसे चक्रों का प्रयोग करते थे, पञ्जाब मे महाराज रंजीतसिंह के राज के समय मे; अब बहुत परिष्कृत, बहुत बलवान् , बहुमारक तोप, बन्दूक, आदि के सामने ये व्यर्थ हो गये हैं; मुसलमानो मे सदा यह विशेष गुण था, कि इतिहास लिखा करते थे, और उनकी उनकी आक्रामक सेनाओं के साथ; एक-दो ऐसे लेखक सदा रहते थे; यथा महमूद

ग़ज़नी के साथ उतबी; यद्यपि झूठ भी बहुत लिख देते थे; यथा, यदि पराजित शत्रु के पाँच सहस्र सैनिक मारे गये, तो पचास सहस्र लिखते थे। हिन्दुओं में इतिहास खिलने की ओर सदा उपेक्षा थी, रामायण, महाभारत, पुराण, "इतिहास-पुराणं च पंचमो वेद उच्यते" यही सदा के लिये पर्याप्त हैं! इधर, राजस्थान मे, चारणों ने, अपने-अपने समय के राजाओं का वृत्तान्त लिखा है; चांद बर्दाई का 'पृथ्वीराज रासो' अधिक प्रसिद्ध है।

दाहिर के सेना विभाग के मंत्री क्षत्रिय थे, कोश विभाग के वैश्य थे; क्षत्रिय मंत्री, वैश्य मंत्रियों का तिरस्कार करते थे; वैश्य भी, भीतर भीतर, उनसे द्वेष करते थे। अरबों ने, रात मे आकर, लम्बी सीढ़ियाँ लगा कर, प्राकार पर चढ़ने का यत्न किया। पर कृतार्थ नहीं हुए। वैश्य मंत्रियों को यह भय हुआ कि, किसी न किसी दिन, ये नगर मे घुस आवैंगे, और हमारा धन सब लूट लेंगे। अरब सेनापति मुहम्मद बिन क़ासिम के पास गुप्त रूप से दूत भेजा कि, हम लोग अँधेरी रात मे, नगर का एक फाटक खोल देंगे, तुम लोग भीतर चले आना, हमारे प्राण और धन की, तथा यथा-संभव नगर-निवासियों के प्राण और धन की रक्षा करना, क्षत्रियों के साथ, जैसा तुम्हारा मन चाहे, व्यवहार करना। अरब सैनिक नगर के भीतर आये, वैश्य मंत्रियों को, अन्य सब से पहिले लूटा और मारा, फिर क्षत्रियों को, और सब नगर को। अब भी कराची से कुछ दूर, 'देबल' नाम का स्थान है, जहाँ समृद्धि के समय मे विशाल 'देवालय' था, जिसके भग्नावशेष अब भी वहाँ पड़े हैं, ऐसा सुना जाता है।

ऐसे ही, एक राजा, महाराज, नवाब, बादशाह, के जब कई बेटे हुए, तब पिता के मरने के बाद, वा उनके जीवन-काल मे ही, बेटों मे युद्ध होने लगता था, 'मै सिंहासन पर बैठूँगा, तुम नहीं'; कभी कभी तो पिता को भी मार डालने का यत्न होता था; यथा, कालिदास ने 'रघुवंश' मे लिखा है, "दुरितैः अपि कर्तुं आत्मसात् प्रयतंते नृप-सूनवो

हि यत्, तद् उपस्थितं अग्रहीद् अजः, पितुः आज्ञा इति, न भोगतृष्णया।" भारत के मुग़ल बादशाहों के वंश मे तो यह बहुत होता रहा। पच्छिम मे भी ; वहाँ, अंग्रेज़ी मे, ऐसे युद्धों को 'वौर्स औफ़ सक्सेशन' (Wars of Succession) कहते थे। इन से जन और धन का बड़ा नाश होना था। भारत मे, कौरव-पांडवों का 'प्रजाविनशन' घोर युद्ध इसी हेतु से हुआ।

और पास आइये। सत्रहवीं शती ईसवी मे, शिवाजी महाराज का का उदय भी हुआ और अस्त भी हो गया। १६२८ ई० मे जन्म और १६८० मे मृत्यु। बड़े काम किये, और बड़ी भूल की। भगवद्-अवतार कृष्ण ने आठ विवाह किये, आपने भी आठ विवाह किये, अत्यल्पायु हुए। उनकी रानियों मे भी प्रसिद्ध सापत्न्य, परस्पर ईर्ष्या द्वेष। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात्, उनके सेनापति, राजधानी पूना मे स्थित, पेशवाओं की आज्ञा, मानते थे। अहमद शाह दुर्रानी के साथ, पानीपत मे, मराठों का अंतिम बड़ा युद्ध हुआ, जनवरी, १७६१ ई० मे। मराठा सेना के मुख्य सेनापति, सदाशिव भाऊ, ब्राह्मण थे; भरतपुर के राजा सूरजमल जाट को भाऊ ने बुला लिया था; अपनी सेना सहित आये। दुर्रानी के पास ४१८०० सवार और ३८००० पैदल सैनिक थे। भाऊ के पास ५५००० सवार, १५००० पिंडारी, १५००० पैदल सैनिक। इब्राहीम खाँ गर्दी, बहुत सी तोपों के साथ (artillery), तथा १०००० पैदल सैनिक भी, (जिन्हों ने यूरोपीय प्रकार की शिक्षा पाई थी) भाऊ के साथ थे; एवं, आमा जी गायकवार, (बरोदा) शिवदेव पटेल, जसवंत राव, शमशेर बहादुर, मल्हार राव (होलकर, इंदोर), जनको जी सेंधिया (ग्वालियर)। यह सब वर्णन, सर् विंसेंट स्मिथ की रची, बहुत प्रामाणिक, 'औक्सफ़ोर्ड हिस्टरी औफ़ इंडिया', (Oxford History of India, pub. 1919) से लिया गया है।

श्री स्मिथ ने लिखा है कि दोपहर तक, मराठा सेना की जीत रही; पर उस के बाद दुर्रानी ने बलवान् आक्रमण किया। पेशवा के पुत्र

विश्वास राव, जो भी भाऊ के साथ आये थे, मारे गये। तत्काल मराठी सेना भागी, दुर्रानी ने पीछा किया, भाऊ भी मारे गये, तथा प्रायः दो लाख मराठे सैनिक और उनके सेवक, नौकर चाकर, मारे गये। भाऊ के पराजय का मुख्य कारण यह था कि उन्हों ने अपने सामंत सेनापतियों, ग्वालियर, होल्कर आदि का कहना नहीं माना, जिस प्रकार से सेना का व्यूहन करने को उन्हों ने कहा, नहीं किया। सेंधिया और होल्कर, तथा नाना फ़र्नवीस, बच कर भाग गये। किंतु इन सब उक्त कारणो से विशेष बलवान् कारण दूसरा था। महाराष्ट्रीय इतिहास-लेखकों ने लिखा है, और आज तक भी पूना प्रांत में जनश्रुति है, कि भाऊ ने सूरजमल, गायकवार, आदि के परामर्श को अस्वीकार करते समय, यह भी कहा कि 'मुझे जाट गड़ेरियों का परामर्श नहीं चाहिये'। इस पर, सूरजमल तो अपनी सेना लेकर लौट ही गये ; अन्य सेनापतियों ने युद्ध किया, पर दुःखित मन से, आधे जी से, अतः हार गये। और भी; दिन मे अहमद शाह दुर्रानी की कुछ हार हुई, तब, रात आने पर; अपने कुछ सर्दारों के साथ, एक ऊँचे टीले पर, घोड़ों पर सवार हो कर गया, वहाँ से मराठी सेना देख पड़ती थी ; देखा कि सैकड़ों चूल्हे जल रहे हैं ; पूछा यह क्या हो रहा है ?; एक सर्दार ने, जो हिंदुओं की रीतियों को जानता था, कहा कि इन लोगों मे बहुत जाति उपजाति हैं, और अपनी अपनी जाति का ही पकाया अन्न खाते हैं, दूसरों का नहीं। दुर्रानी ने कहा "बस, अब हमारी विजय निश्चित है, अपनी सब सेना बुला लो, और इसी समय इन पर धावा करो ; कपड़े उतार कर, धोती पहिन कर, खाना बना रहे हैं, अस्त्र शस्त्र सब अलग रख दिया है।" धावा हुआ ; जब शत्रु सिर पर आ गया तब चूल्हे छोड़ कर अस्त्र शस्त्र खोजने लगे, सब मारे गये, जैसा ऊपर लिखा।

यह सब लम्बा ऐतिहासिक आख्यान केवल इस बात को पुष्ट करने के लिये लिखा गया कि, ब्राह्मणता का गर्व, और जात्युपजातियों का परस्पर द्वेष, अतितरां हेतु-शून्य 'छूत-छात' का रोग, ही

हिंदू-समाज के अधःपात का मुख्य कारण है; और इस की चिकित्सा, और समाज के उद्धार, का उपाय एक ही है, अर्थात् 'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः' के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य के अनुसार समाज-व्यवस्था करना।

यह बात पुनः पुनः कही जाती है, और कहना आवश्यक है, क्योंकि जब तक रोग बना है तब तक औषध देना भी आवश्यक है।

'लीडरी' की इच्छा; स्वार्थ-साधन की इच्छा

कांग्रेस के प्रमुख नेताओं के अन्य दोषों का भी उद्घाटन करना उचित है। कुछ को 'लीडर', नेता, बनने की इच्छा होती है, मैं वाग्मी हूँ, बड़े-बड़े भाषण करूँ, श्रोता प्रसन्न हो कर ताली बजावैं'। जैसा एक स्यात् जीवत् कवि ने बहुत अच्छा कहा है, 'दस बोतलों का नशा है इस वाह्-वाह में'। यह इच्छा स्वतः निंदनीय नहीं है, 'यशसि चाऽभिरुचिः, व्यसनं श्रुतौ', यदि वक्ता महाशय जो उपदेश जनता को देते हैं तदनुसार स्वयं भी आचरण करें; "पर उपदेस कुशल बहुतेरे, आपु करैं ते नर न घनेरे", ऐसे न हों। किंतु प्रायः ऐसे ही होते हैं; निर्वाचन के समय बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञा कर देते हैं, 'जनता की समृद्धि बढ़ाने के लिये हम यह काम करैंगे;' परंतु, जब निर्वाचित हो गये तब सब प्रतिज्ञाओं को भूल गये, और विविध प्रकार के उपायों से रुपया सिझाने लगे।

एक विश्वसनीय पुरुष से सुना है कि एक सज्जन ऐसे थे जो केन्द्र की विधान सभा मे विधायक थे, अतः उप-राज (वाइस्राय) तक उनकी पहुँच थी, तथा राजस्थान के राजा महाराजों से विविध-कार्य-वश मिलना होता था। बीच-बीच मे जब किसी राजा वा महाराज को इच्छा होती थी कि मेरा यह काम हो जाय, तो इन सज्जन के पास दूत भेजते थे, क्योंकि उन्हें विदित था कि इनकी पहुँच उप-राज तक है। तब यह सज्जन उस दूत से कहते थे कि एक, या दो, वा तीन

लाख रुपया लगैंगा; सो आधा तो पहिले दे देना होगा, आधा काम हो जाने पर। यदि सौभाग्य से काम हो गया, तो शेष रुपया भी मिल गया; यदि नहीं, तो दूत से कह दिया कि 'भाई, यत्न तो बहुत किया, नहीं हो सका, और जो रुपया तुमने दिया था, वह, बीच के, नीचे अधिकारियोंको देने दिलाने मे व्यय हो गया'। व्यय हुआ वा नहीं, यह कौन जानता जाँचता है! । कभी-कभी, उक्त सज्जन, दूत से कह देते थे कि मेरे पुत्र को, वा अन्य समीपी बंधु को, किसी राज रियासत मे, ऊँचे वेतन के अच्छे पद पर नौकर रखवा देना; और एक दो बार, रखा भी दिये गये।

अन्य नेता

ऊपर अन्य कई प्रमुख नेताओं का नाम लिखा है। श्रीमती ऐनी बिसेंट ने जो काम हिंदू धर्म और हिंदू समाज के उद्धार के लिये किया, वह किसी दूसरे ने नहीं किया। १८९२ के अंत में मद्रास पहुँची; १८९२-१८९३ के जाड़े मे प्रयाग, कर्नल औलकौट के साथ, आईं। रेलवे स्टेशन पर मै ने उन को प्रथम वार देखा। उन के और मेरे साथ को कथा मै ने, Annie Besant and the Changing World नाम की पुस्तिका में, विस्तार से लिखा है। 'सेंट्रल हिंदू कालेज' के स्थापन का वृत्तांत प्रथमाध्याय में लिखा है। जिस समय वे भारत में आईं, अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए सभी हिंदू भारतीयों मे 'जड़वाद', 'मैटीरिया-लिज्म' (materialism) फैला हुआ था, यद्यपि यह कथमपि अंग्रेज़ी शिक्षा का दोष नहीं था। उक्त हिंदुओं मे ऐसे विचार फैल रहे थे कि मद्य पीने मे कोई दोष नहीं, गो-मांस और अन्य मांस मे कोई भेद नहीं, इत्यादि; यह मानना पड़ता है कि यह विचार, उन्होंने अंग्रेजों के आचरण से सीखा। पादरी मिशनरियोंने, जिन्हों ने ही, प्रथम प्रथम, भारत में स्कूल (पाठशाला) और कौलेज (विद्यालय) स्थापित किये, उन्होंने भी, जिन हिंदुओं को ईसाई बनाया, उनको मदिरा और गोमांस पिलाया खिलाया। मुसल्मान, बहुत कम, ईसाई बने; उनको भी मदिरा और

शूकर मांस खिलाया पिलाया होगा; क्योंकि भय रहता है कि अपने पुराने धर्म-सम्प्रदाय मे लौट जायँगे; और यह भय मिट जाता है जब वे ऐसे काम कर लेते हैं जो उनके पुराने सम्प्रदाय मे सर्वथा अक्षम्य हैं।

श्रीमती बेसेंट ने, इन पुरुषों को यह सिखाया समझाया कि "यहाँ के प्राचीन ऋषियों और मनु ने, उपनिषदों और मनु-स्मृति मे, ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मविद्या, 'मेटाफ़िज़िक', 'फ़िलासोफ़ी' (Metaphysic, Philosophy) की बातें कही हैं, उनका बड़ा सम्मान आदर पश्चिम के विद्वानो ने, मैक्सम्युलर, सर मोनियर विलियम्स, शोपेनहावर, गइटे, तथा अमेरिका के प्रसिद्धतम कवि और निबंधलेखक ईमर्सन ने किया है; तुमलोग उन्हें तुच्छ क्यों समझते हो ?" शीत ऋतु मे, भारत मे, और ग्रीष्म मे यूरोप के कई देशों मे, तथा अमेरिका मे, यह संदेश भारत के प्राचीन ऋषियों का, सुनाती फिरती थी। इस प्रकार से यहाँ के मनुष्यों मे उनके लिये आदर जगाया; और पश्चिम में, जहाँ इन बातों को कुछ थोड़े से इने गिने विद्वान् जानते थे, वहाँ पचासों लाख ने कुछ न कुछ सुना और समझा। यह सब, विस्तार से, मै ने अपने रचे अंग्रेज़ी ग्रंथ 'एसेन्शल युनिटी औफ़ रिलिजन्स्' (Essential Unity of All Religions') की भूमिका मे लिखा है, तथा अपने रचे वृहद्ग्रंथ, तीन जिल्दों के 'दि लौज औफ़ मनु' (Science of Social Organisation or The Laws of Manu) के उपोद्घात मे लिखा हैं।

श्रीमती बेसेंट से भी बड़ी भूलें हुईं; इस हेतु से, उनसे मेरा मतभेद हुआ; उन्होंने अपनी मासिक पत्रिका 'थियोसोफ़िस्ट' (Theosophist) मे, मेरे ऊपर आक्षेप किया; उनका खंडनात्मक उत्तर मैंने प्रयाग के दैनिक 'लीडर' में छपाया। इस प्रकार से उत्तर-प्रत्युत्तर चलते रहे, सन् १९१२ से आरम्भ होकर सन् १९२८ तक। १९२८ ई० में उन्होंने अपनी भूल मुझसे काशी मे स्वीकार की, जैसे श्री मालवीय ने; पर तब क्या हो सकता था ? बिगड़ी बात बन नहीं सकती थी। इसकी चर्चा मैंने उक्त पुस्तिका मे कर दी है। सन् १९३३ में आड्यार, मद्रास में

उनका देहान्त हुआ; हिन्दू विधि से उनकी अन्त्येष्टि हुई; क्योंकि उनको एक ब्राह्मण सज्जन ने यज्ञोपवीत दिया था, और रुद्राक्ष की माला धारण करती थीं; तथा, जब वे काशी वा आडयार में पन्द्रह-पन्द्रह, बीस-बीस दिन, ठहर जाती थीं, तब नियमेन, सवेरे और संध्या समय, संध्या-वंदन, ध्यान, माला पर जप, किया करती थीं। जैसे मैडम ब्लावाट्स्की और कर्नल ऑलकौट अपने को बौद्ध कहते थे, और सीलोन (सिंहल द्वीप) के सर्वोच्च बौद्ध गुरु से उन्होंने दीक्षा ली थी, वैसे इन्होंने ब्राह्मण से और अपने को हिंदू मानती और कहती थीं। आडयार, मद्रास में, २० सितंबर १९३३ के दिन, देहावसान हुआ; दस दिन और जीतीं तो ८६ (छयासी) वर्ष पूरे हो जाते। शरीर का अग्नि संस्कार आयार के ब्राह्मण पंडितों ने हिंदू विधि से कराया; अस्थि आदि अधिकांश का सर्व-नदी-पति समुद्र में प्रवाह कर दिया गया; कुछ थोड़ा भस्मावशेष, उनकी इच्छा के अनुसार, काशी आया, और मैंने, थियोसाफ़िकल सोसायटी के भवन से, उस अवशेष को बहुत से सोसायटी के सदस्यों, तथा नगर के सज्जनों और सेंट्रल हिंदू कालेज और पाठशाला के अध्यापकों, के साथ जाकर दशाश्वमेध घाट पर, गंगा माता को समर्पण कर दिया। उसी दिन, संध्या समय टौनहाल में नगरवासियों का बड़ा समागम हुआ, मैंने तथा अन्य सज्जनों ने, माता बेसेंट के जीवन चरित पर, और जो कार्य उन्होंने भारत के, और अन्य देश के, निवासियों के उपकारार्थ किया, उसका वर्णन किया, और काशी की नगरपालिका से अनुरोध किया कि कमच्छा की चौमुहानी 'वाटर-वर्क्स' और शंखोद्धार ('संखूधारा') की तिमुँहानी तक की सड़क का नाम 'ऐनीबेसेंट रोड' रख दिया जाय। नगरपालिका ने सहर्ष स्वीकार किया।

ऊपर कहा कि मत-भेद हुआ, इतना और कहना है कि हृदय-भेद कभी नहीं हुआ। चालीस वर्ष उन्होंने भारत में काम किया; आदि से अन्त तक मेरे ऊपर अनुग्रह करती रहीं, और मैं भी उन से, स्नेह करता रहा। मैं, उन को, सदा मातृवत् मानता था, और वे भी मुझे पुत्रवत्।

यदि 'नेता जी' श्री सुभास चन्द्र वसु का, जिस वायुयान पर वे वर्मा से जापान जा रहे थे, बीच ही मे गिर जाने और जल उठने से, उन का अ-सामयिक देहान्त न हो गया होता, तो स्वराज-प्राप्ति के बाद प्रायः वे ही भारत के प्रधान मन्त्री होते। कलकत्ते मे, अपने गृह मे, नज़रबन्द थे, बड़ी चतुरता से वहाँ से भाग निकले, जर्मनी गये, हिट्लर से मित्रता की, उस के विश्वासपात्र बने, उस से सहायता करने की प्रतिज्ञा ले कर वर्मा आये; हिन्दू, मुसलमान, बर्मी पुरुषों की सेना बनायी; सब को इन पर इतना विश्वास और स्नेह था कि हिंदू और मुसलमान, अपना साम्प्रदायिक द्वेष भूल कर, एक साथ खाते-पीते थे। अंग्रेज़ी सर्कार की सेना के कप्तान शाहनवाज़ खाँ, अपनी सेना के साथ, बर्मा पर आक्रमण करने गये, तब श्री वसु ने, सेना को हरा कर उन्हें पकड़ लिया, और उन को अपनी सेना मे काम करने को विवश किया; आज श्री खाँ, केन्द्रीय मन्त्री-मण्डल मे, रेलवे विभाग के उप-मन्त्री हैं। सैन्य-संचालन और युद्ध विभाग के वर्तमान किसी केन्द्रीय वा प्रांतीय मन्त्री ने नहीं किया। जापानियों से सहायता ली, उनकी सेना ने भारत पर आक्रमण किया, उनसे श्री वसु ने प्रतीज्ञा करा ली कि कलकत्ता पर, तथा सामान्यतः, बंगाल पर बम न गिरावेंगे; केवल एक दिन, निदर्शनार्थ, कलकत्ते की तर्कारी मण्डी पर, हल्का बम गिराया; कोई हताहत नहीं हुआ। बर्मा मे बैठे बैठे, रेडियो द्वारा भारतीयों को शिक्षा देते थे, कि अंग्रेज़ी शासन के साथ ऐसा व्यवहार करो। एक बार अंग्रेज़ी गवर्मेंट ने भारतीयों को रेडियो द्वारा यह आदेश उपदेश दिया कि जापानियों की आक्रामक सेना से इस इस प्रकार से युद्ध करो; श्री सुभाष वसु ने रेडियो से भारतीयों को उपदेश दिया कि जो प्रकार अंग्रेजी शासक, तुम को जापानियों के साथ बर्तने का बतलाते हैं, वही प्रकार तुम अंग्रेज़ों के साथ बर्तो; अंग्रेजी शासन ने भारतीयों को पुनः उपदेश नहीं दिया।

श्री सुभास वसु मे ऐसे बड़े गुण होते हुए, दो बड़े दोष थे, (१) बहुत हठ, (२) इन्द्रिय-निग्रह का अभाव। सन् १९२९ के दिसम्बर मे,

कलकत्ते मे, कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन भी हुआ, और 'औलपार्टीज़ कन्वेंशन', सर्व-दल-समागम, भी हुआ। महात्मा गाँधी, तथा अन्य नेताओं, ने उनसे बहुत कहा कि 'स्वतन्त्रता के लिये भारत-व्यापी निःशस्त्र युद्ध' आरम्भ करने को सन् १९३१ के अन्त तक की अवधि हो, कि समग्र देश को उचित शिक्षा दी जाय, कि किन किन प्रकारों से निःशस्त्र युद्ध चलाना चाहिये; नहीं माना, 'सन् १९३० ही के अंत तक हो'; सब को विवश हो कर मानता पड़ा; किन्तु जैसी भारत-व्यापक शिक्षा और तयारी समग्र भारत की होना चाहता था, नहीं हो सकी; अतः कार्य में त्रुटि हुई।

(२) श्री सुभास वसु ने, जर्मनी मे, एक जर्मन स्त्री से विवाह कर लिया, और उससे एक पुत्री भी हुई, यद्यपि उनकी बंगाली पत्नी, बड़ी सती साध्वी, जीवित थी, और उससे संतति भी थी !

श्री सुभास वसु को, मैंने तीन वार देखा; प्रथम वार वे मेरे पास, 'सेवाश्रम' नाम के, मेरे पुराने वास-स्थान मे, स्वयं आये; दूसरी वार, मेरे आजीवन प्रिय मित्र, श्री उपेंद्रनाथ वसु के, घर पर; उपेंद्र बाबू इनके मौसा होते थे; तीसरी वार, श्री शिवप्रसाद गुप्त जी के वासस्थान, 'सेवा-उपवन' मे।

'लोकमान्य' और 'पंजाब केसरी'

दो व्यक्ति निर्दोष कहे जा सकते हैं; लोकमान्य तिलक की चर्चा ऊपर की गई; आगे, पुनः की जायगी; शिव-पार्वती के पुत्र श्री गणेश जी को, महाराष्ट्र प्रांत की जनता प्रायः भूल ही गई थी; लोकमान्य ने उनकी पूजा को फिर से चलाया, और विशेष पर्वों पर, यथा गणेश चतुर्थी, बड़े धूम-धाम से की जाती है। शिवाजी महाराज के स्मारक भी उन्होंने पूना में बनवाये, और उनकी सेना मे जिन प्रकारों के अस्त्र-शस्त्रों का तथा कवच का, प्रयोग-उपयोग किया जाता था, उनको खोज खोज कर एकत्र किया, और एक प्रेक्षागृह (म्यूज़ीयम, museum) मे

रक्खा; सन् १९३२ के सितंबर मास में, श्री राजगोपालाचारी द्वारा, महात्मा गाँधी जी ने मुझे निमन्त्रण भेजा; वे उस समय, पूना मे यरोदा जेल में बंदी थे, किंतु सम्मान्य अतिथिवत् रक्खे जाते थे, मैं गया। दस दिन पूना में रहा। निमन्त्रण इस हेतु दिया गया था कि 'हरिजनो' को मन्दिरों में देव-दर्शन के लिये अनुमति देना चाहिये, वा नहीं, इस पर वाद-विवाद होने को था, पक्षियों और प्रतिपक्षियों मे। दस दिन, तर्क-प्रतितर्क होते रहे; किसी पक्ष ने दूसरे पक्ष की बात नहीं माना; कुछ निर्णय नहीं हो सका; मै काशी लौट आया। आज तक वह झगड़ा चल ही रहा है। जब साबरमती छोड़ कर, गाँधी जी वर्धा और सेवाग्राम मे आ बसे, तब, उनकी इच्छा से, श्री जमनालाल बजाज ने एक मंदिर बनवाया और डिंडिम करा दिया कि इस मे जिसका जी चाहे, हरिजन हो चाहे अन्य कोई, देव-दर्शन के लिये आ सकता है। मुझको लिखा कि प्राचीन श्लोक, इस कार्य के समर्थक, दो-चार ढूँढ़ कर लिख भेजो। मैने नीचे लिखे दो श्लोक नये बना कर, लिख भेजे; नये, किंतु आशय उनका सर्वथा प्राचीन स्मृतियों के अनुसार था,

मले तु अस्पृश्यता नूनं, न शरीरे कथंचन;
देहः स्नानादिभिः येषां, मनश्च श्रद्धया तथा,
पावितं, ये च नाऽऽक्रान्ताः रोगैः संचारिभिः खलु,
ते सर्वे स्वागताः संति देव-दर्शनकांक्षिणः।
देवो भक्तिं, न वै जातिं, जनस्य संप्रतीक्षते।

ठीक येही शब्द थे वा नहीं, यह तो याद नहीं, किंतु आशय यही था। श्री बजाज ने लिखकर पूछा, कि ये किस प्राचीन पुस्तक के श्लोक हैं। मैने उत्तर भेजा कि 'जिसको आप अब प्राचीन समझते हैं, वह भी एक दिन नये थे, जब प्रथमवार लिखे गये; मेरे श्लोक भी सौ दो-सौ वर्ष बाद प्राचीन हो जायँगे।' गीता का श्लोक लिखना उचित था, पर उस समय, उसकी ओर ध्यान नहीं गया, "मां हि, पार्थ !, व्यपाश्रित्य, येऽपि स्युः पापयोनयः, स्त्रियो, वैश्याः, तथा शूद्राः, तेऽपि यांति परां गतिं।"

श्री कृष्णजी महाराज, ऐसा कहते हुए, भूल गये कि उनके पालक-पोषक पिता-माता, नंद-यशोदा, वैश्य थे, तथा देवकी, रुक्मिणी, सत्यभामा आदि, स्त्री थीं !

डाक्टर भीमराव अम्बेदकर, जिनका अभी, कुछ महीने हुए, दिल्ली मे देहांत हो गया, एक दिन मेरे 'पास, काशी मे, आये; उन दिनों वे केंद्रीय मंडल मे मंत्री थे, विधान-विधायक विभाग के लौ-मेम्बर, (Law Member); अपने को जाति का महार (चर्मकार) कहते थे; बम्बई के बड़े विश्व-विद्यालय मे, प्राचीन-नवीन, भारत तथा अन्य देशों के, क़ानूनों के विषय के प्राध्यापक थे; उत्कृष्ट विद्वान् थे; वेदों का, स्मृतियों का, मूल संस्कृत में अध्ययन किया था; मेरी अंग्रेज़ी संस्कृत पुस्तकें उन्होंने पढ़ी थीं । हरिजन-विषयक बात चली; बात अंग्रेज़ी मे हुई, उसका आशय हिन्दी मे लिखता हूँ; मैने कहा, "आप कहते हो कि जब चाहो तब करोरों हरिजनों को मुसलमान या इसाई, या सिख बनवा दूँ; किंतु मुझे इसमे संदेह है; तौ भी यदि सबको सिख बना दो, जो संभव है, तो बहुत अच्छा हो, क्योंकि मुसल्मान तो यों ही सैकड़ों, प्रतिदिन हो रहे हैं, अपने को ऊँची और उनको नीची और अस्पृश्य मानने कहनेवालों से द्वेष के हेतु । पर मै आपको बहुत सरल उपाय बताऊँ, जिसको काम मे लाओ तो यह सब झगड़ा शीघ्र ही शांत हो जाय; आप अध्यापन करते रहे हो, उसके वेतन से जीविका चलती रही, अपने को ब्राह्मण क्यों नहीं कहते ? मनुस्मृति आपने पढ़ी है, मेरा अंग्रेज़ी ग्रंथ लौज़ औफ़ मनु (Laws of Manu) आपने पढ़ा है, 'जीविका-कर्मणा वर्णः' के सिद्धांत पर सब हरिजन कहलानेवालों को, आदेश दो कि अपने-अपने जीविका-कर्म के अनुसार अपनी जाति मानै; ९० (नब्बे) प्रतिशत कृषक हैं, गाय, भैंस, बकरी, भेंड़ आदि पालते हैं, इनको बेचते खरीदते हैं, गीता मे कहे, 'कृषि-गोरक्ष-वाणिज्यं वैश्य-कर्म स्वभावजं' के अनुसार अपने को वैश्य कहैं, जो सेना वा पुलिस मे काम करते हैं वे अपने को क्षत्रिय, जो अध्यापन करते हैं वे अपने को ब्राह्मण कहैं, जो अन्यों की नौकरी करते

हैं वे शूद्र, और जो मद्य बनाने बेंचने का निकृष्ट काम करते हैं वे ही ठीक-ठीक, अस्पृश्य हों।" डा० अम्बेदकर ने मेरी बात सुनी, कुछ उत्तर नहीं दिया, चले गये। अब, कई वर्ष बाद, हरिजन-नामवालों को बौद्ध बनाना आरंभ किया। नया झगड़ा खड़ा हो गया। हिंदू मंदिरों मे ये नये बौद्ध बलात् प्रवेश करते हैं, और इतने ही पर सन्तोष न करके, मूर्तियों को तोड़ते हैं, बाहर फेंक देते हैं, हिंदुओं से मार पीट होती है, पुलीस और मजिस्ट्रेटों का काम बढ़ गया। अम्वेदकर, अपने अनुयायियों को यह न समझा पाये कि बुद्धदेव ने अहिंसा की शिक्षा दी है।

लोकमान्य और पंजाबकेसरी की बात चली थी; ऊपर लिखी, अम्वेदकर-विषयक वार्ता कुछ अ-प्रसक्त सी जान पड़ती है; पर ऐसी अप्रसक्त नहीं; सब बातों का एक दूसरे से कुछ न कुछ सम्बन्ध है ही।

लोकमान्य की प्रकांड विद्वत्ता पंजाब-केसरी में नहीं थी; संस्कृत का ज्ञान उन्हें प्रायः नहीं था; किंतु वाग्मिता उनकी, लोकमान्य से बहुत अधिक थी; तथा, उनका कार्य बहुमुखीन था; उन्होंने पाठशालायें, पंजाब मे, स्थापित कीं; पहिला गैरसर्कारी बैंक, 'पंजाब नैशनल बैंक' स्थापित किया। उनके अंग्रेजी भाषणों के अंश, जो मेरे देखने मे आये, उनकी अंग्रेजी, बहुतेरे विद्वान् अंग्रेजों की भाषा से अच्छी है। 'पञ्जाबी' नाम का समाचार पत्र चलाया, फिर 'पीपल' नाम का साप्ताहिक। मांडाले से लौटने के बाद, अमेरिका चले गये, और प्रथम विश्व-युद्ध के समय मे, वहाँ ही रहे। मुझे कुछ ऐसा स्मरण होता है कि १९१२ ई० मे वे लौटे, तब बनारस आये; रायबहादुर लाला बैजनाथ के साथ, जो उन दिनों बनारस में डिस्ट्रिक्ट और सेशन्स जज थे, उनको लेने, कंटूनमेंट रेलवे स्टेशन गया; वहाँ उनको देखा, वहाँ से वे स्वनाम-धन्य श्री शिवप्रसाद गुप्त जी के वासस्थान मे ठहरे; दूसरे दिन, वहाँ जाकर, मैंने उनका दर्शन किया। एक समय (वर्ष भूलता हूँ, स्यात् १९२० था) प्रयाग के ऐल्फ्रेड पार्क में उनका भाषण सुना; हिन्दी मे बोले; शौकत अली, मुहम्मद अली, भी थे। उसी वर्ष, स्यात् सितम्बर मास मे, नागपुर मे, कांग्रेस के

विशेष अधिवेशन मे, सभापति नियुक्त हुए। सन् १९२० के फ़र्वरी मास मे अखिल-भारतीय-कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति की बैठक काशी मे हुई; श्री मोतीलाल नेहरूजी, लोकमान्य जी, गाँधी जी, आदि प्रमुख नेता उपस्थित थे। किसी कारण से, पुराने सेन्ट्रल हिन्दू कालिज मे वह समागम नहीं होने पाया; अतः थियोसोफ़िकल सोसायटी के भवन मे किया गया। श्री लाजपत राय ने वहाँ, एक घन्टा, अंग्रेज़ी मे भाषण किया। लाहौर मे 'दयानन्द-ऐंग्लो-वेदिक कौलेज' की स्थापना की। नागपुर मे, पुनः दिसम्बर मास मे कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। उसके सभापति स्यात् गाँधी जी हुए। लाजपत राय जी ने उनकी अ-सहयोग नीति का समर्थन किया। नवम्बर, १९२१ मे, 'प्रिंस् औफ़ वेल्स्' (जो, पीछे, एड्वर्ड अष्टम होकर, अमेरिकन स्त्री से, जो दो बार विवाहित होकर, पतियों द्वारा 'डाइवोर्स', अलग, कर दी गई थी; विवाह करने के कारण ब्रिटेन के राज-पद से निकाल दिये गये) बम्बई आये; बड़े उपद्रव हुए, पुलिस की गोलियों से ५३ (तिर्पन) मनुष्य मारे गये; गाँधी जी घर मे बैठे रहे, "हिंसा मत करो", "हिंसा मत करो", ऐसा लोगों को और पुलिस को समझाने के लिये, बाहर नहीं निकले। लाजपत राय जी भी जेल मे बन्द कर दिये गये। उन्ही दिनो नवम्बर में 'मोप्ला' लोगों का भारी उपद्रव हुआ। उसके पहिले, मार्च मे, नानकाना में घोर हत्याकाण्ड हुआ। सन् १९२८ मे, जैसा ऊपर लिखा, पुलिस की लाठियों की मार से, लाहौर मे, उनका देहान्त हुआ। बँटवारे के बाद पाकिस्तानियों ने, लाहौर-स्थित दयानन्द-ऐंग्लो-वेदिक विद्यालय को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। 'गुरुदत्त भवन' के नाम से एक विशाल गृह में स्वामी दयानन्दजी के, तथा आर्यसमाज के अन्य वीरों के, जो मुसलमानो द्वारा मारे गये थे, स्मारक, और स्वामी जी के वेद-भाष्य की लिखित प्रतियाँ, श्रद्धानन्द जी ने सन् १९३७ मे दिखाया, जब मै अंतिम बार लाहौर गया; वह सब भी पाकिस्तानियों ने तोड़ डाला और जला दिया।

लाजपतराय जी को चार-पाँच बार मैने देखा, ठीक स्मरण नहीं

होता कि कब-कब; जब उनको देखा, उस समय के स्थान का चित्र मन के सामने आ जाता है; एक बार तो काशी के रेलवे स्टेशन पर, जैसा ऊपर लिखा, लाला बैजनाथ, वेदान्त के रसिक, मेरे पुराने मित्र; गवर्मेंटी नौकरी के दिनो, सन् १९०४ मे, मै आगरे मे डेप्युटी कलेक्टर था, वे सब-जज; तब से मेरी उनकी जान-पहिचान हुई। श्रीमती ऐनी बिसेंट आगरा आईं; राय बैजनाथ की कोठी मे टिकीं। मै नौकरी त्याग कर काशी मे सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के काम मे लग गया। राय बैजनाथ काशी आये, तब उनसे बहुधा मिलना होता था; वरणा के किनारे एक बड़ा बँगला, किराये पर लेकर, उसी मे रहते थे; कभी वे मेरे पास, "सेवाश्रम" मे, पैदल चले आते थे, कभी मै उनके स्थान आता था। अद्वैत वेदान्त की चर्चा हुआ करती थी; 'योगवासिष्ठ' की ओर मैने उनका ध्यान दिलाया; फिर तो उस अद्भुत ग्रन्थ से ऐसे प्रसन्न हुए कि उसका फिर फिर पाठ किया, एक अच्छे पण्डित से उसका हिन्दी मे अनुवाद कराया और बम्बई मे उसे मूल सहित छपवाया। काशी मे वे प्रायः सन् १९०८ से १९१२ तक रहे। १९११ वा १९१२ मे, लाजपत राय जी काशी आये, कहाँ से, यह मुझे स्मरण नहीं; राय बैजनाथ और मैं उनको लेने को स्टेशन गये; हम लोगों को कुछ मिनिटों का विलम्ब हो गया; लाला जी, 'ओवर ब्रिज' पर आ रहे थे। उनको लेकर, मैं श्री शिवप्रसाद गुप्त जी के स्थान 'सेवा-उपवन' मे गया। वे वहीं टिके; दूसरे दिन मैं पुनः वहीं उनसे मिला; कविराज उमाचरण उस समय वहीं थे, शिवप्रसाद जी की चिकित्सा के लिये; लाला जी भी, दुर्बल, आनुवंशिक रोगों के कारण, थे; उनके लिये भी उमाचरण जी ने उपाय बताये। इसके बाद, प्रथम विश्व-युद्ध जब आरम्भ हुआ, तब लाला जी अमेरिका चले गये; उसकी समाप्ति तक वहीं रहे। अमेरिका मे; उन्होंने मेरी लिखी पुस्तकों को, थियोसोफ़िकल सोसायटी के सदस्यों के घरों मे, आदर से पढ़ी जाती हुई देखा; तब से उनका ध्यान 'थियो-सोफ़ी', (ग्रीक शब्द 'थियोस', देवः, 'सोफ़िया', ज्ञान, देव-विद्या, आत्म-विद्या, ब्रह्म-विद्या) की ओर

गया; उन्होंने 'अन्-हैपी इण्डिया' के नाम से एक ग्रन्थ छपाया, मिस् मेयो के 'मदर-इण्डिया' नाम के ग्रन्थ के उत्तर में; उस ग्रन्थ मे, मेरे लिखे 'लौज़् औफ़् मनु' नाम के अंग्रेजी ग्रन्थ से कुछ उद्धरण, प्रशंसा के साथ, छापे। विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात्, वे भारत लौटे। सन् १९२०–२१ के दिसम्बर या जनवरी मास मे, प्रयाग आये; पं० मोतीलाल नेहरू के गृह मे, मैंने उनको देखा; पुनः नहीं देखा; 'साइमन कमिशन' जब भारत आया, और समग्र भारत मे उसका बहिष्कार हुआ, तब लाहौर मे, वे एक दल को ले कर सड़कों पर घूमे, और पुलिस की लाठियों की चोट खाकर, चारपाई पर पड़े, और फिर नहीं उठे। सन् १९१८ की 'अमृतसर की घोर हत्या' के समय वे भारत मे ही थे, पर तत्काल अमेरिका चले गये, क्योंकि वह जानते थे कि जब तक सर् मैकेल ओ-ड्वायर, पञ्जाब का गवर्नर, जिसी ने वह हत्या कराई, उनके पीछे पड़ा रहेगा; उसके, गवर्नरी से हटने के बाद, वे पुनः भारत आये।

एक बात और लिख देना उचित होगा; यद्यपि लालाजी, अग्रवाल उपजाति के, जो ही मेरी भी जन्मना उपजाति है, वैश्य थे, जो निरामिष भोजी होते हैं, उन्होंने आमिष खाना आरम्भ किया; कुछ तो चिकित्सकों के उपदेश से, शरीर मे बल लाने के लिये; कुछ अंग्रेज़ी राज्य के विरुद्ध, सशस्त्र युद्ध में, अग्रसर होने के लिये; क्रूरता का आवाहन करने के लिये; वे गाँधी जी की आत्यन्तिक-अहिंसा-नीति नहीं मानते थे, यद्यपि अ-सहयोग के सह-योगी समर्थक थे, इस विषय मे, श्रद्धानन्द जी से और लाला जी से मत-भेद रहा; इस हेतु, श्रद्धानन्द जी के अनुयायी 'घास-पार्टी' और लाला जी के 'मांस-पार्टी' कहलाने लगे। ऐसे ही, दाक्षिणात्य महाराष्ट्र ब्राह्मण, जो शुद्ध निरामिष-भोजी होते हैं, हो कर, डाक्टर बी. एस्. मुंजे ने भी आमिष भोजन आरम्भ किया, क्योंकि वे भी अंग्रेज़ों के विरुद्ध स-शस्त्र युद्ध करना चाहते थे और नासिक में उन्होंने एक सैनिक-शिक्षा-विद्यालय भी स्थापित किया। बहुत आदरणीय

वीर पुरुष थे; पर गाँधी जी की सरल अहिंसा-नीति को ही देश ने अपनाया, अतः उनको जनता भूल गई। अब लाला जी की पुत्री के पुत्र, श्री भारतभूषण, स्टेट बंक के 'एजेंट' हैं; काशी मे भी कई मास, यहाँ के एजेन्ट रहे; एक बार, कृपा करके, मेरे घर पर आये। लाला जी को अन्य कई अपत्य हुए, पर सब अल्पायु हुए, उनके सामने ही, उन्ही आनुवंशिक रोगों के कारण, परलोक को चले गये।

वीर महापुरुष लाजपत राय जी का जीवन-चरित, एन्. बी. सेन द्वारा सम्पादित, 'पञ्जाब्-स् एमिनेंट हिन्दूज़' नामक ग्रन्थ मे (जो लाहौर मे, सन् १९४३ मे प्रथम बार छपा) संक्षेप से दिया है। एवं नगेन्द्र नाथ गुप्त लिखित 'नोबल् लाइव्ज़' नामक ग्रन्थ मे, जो बम्बई के 'हिन्द किताब्ज, लिमिटेड्' छापाखाने मे, प्रथम बार, सन् १९५० मे, छपा।

अब इन दो प्रायः निर्दोष महापुरुषों से, लोकमान्य और पञ्जाब केसरी से, बिदा लेकर, दूसरी ओर प्रवृत्त होता हूँ। लोकमान्य की चर्चा एक बार और भी, पुनः, की जायगी, उनके रचित गीता-रहस्य के सम्बन्ध मे।

हवा बदल कर भी नहीं बदली है।

पहले लिखा गया है कि 'अब हवा बदली है'। लिखते लिखते स्मरण हुआ कि 'सर्वथा नहीं बदली'। समुद्र-यात्रा के विषय मे तो निश्चयेन, सभी स्तर के भारतीय 'हिन्दुओं' मे सर्वथा बदल गई है; पर 'जन्मनैव वर्णः' के दुराग्रही लोगों मे विशेष कर ब्राह्मणम्मन्यों मे, तथा अनपढ़ कुपढ़ जनता मे, विशेष कर 'हरिजन' कहलाने वाली दो सहस्र से ऊपर जातियों मे, तनिक भी नहीं बदली है। ब्राह्मण वर्ग तो, अब्राह्मणो से पैर पुजवाने, धन लेने, सैनेमा थियेटर आदि देखने के लिये, और अभिमान अहङ्कार के रसास्वादन के लिये; अन्य उपजाति के ब्राह्मणों

के साथ सह-भोज, सह-विवाह नहीं करते। एवं 'हरिजनों' की भी जात्युपजातियाँ परस्पर सहभोज, सहविवाह नहीं करतीं; गाँधी जी की आशा और उनका परिश्रम सब व्यर्थ रहा। ऊपर कह आया हूँ, पुनः कहता हूँ, मै ब्राह्मण-द्वेषी स्वप्न मे भी नहीं हूँ, सद्-ब्राह्मण का दर्शन करने, उनकी पद-धूलि सिर पर चढ़ाने, को तरसता हूँ, "अपार-संसार-समुद्रसेतव:, समुत्थितऽापत् कुलधूमकेतव:, समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतव, मां पान्तु सद्-ब्राह्मण-पाद-पांसव:" (मत्स्य पुराण); पर ऐसे सद्-ब्राह्मण इस कलियुग मे देख नहीं पड़ते; कहीं जंगलों मे, पर्वतों मे, अवश्य, छिपे हुए, तपस्या कर रहे होंगे, जिसी तपस्या के हेतु, और उन सद्विप्रों के शुभानुध्यान से, अभी भी, 'हिन्दू' कहलाने वाली 'आर्य' जनता सर्वथा निरय मे नहीं गिर गयी है। महाभारत, शान्तिपर्व, के अध्याय २५१ और अध्याय २७५ में सद्-ब्राह्मण के लक्षण कहे हैं—

येन पूर्ण मिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा,
शून्यं येन जनऽाकीर्णं, तं देवा: ब्राह्मणं विदु:।
येन केन चिद् आच्छन्नो, येन केन चिद् आशित:,
यत्र क्वचन शायी च, तं देवाः ब्राह्मणं विदु:।
अहेरिव गणाद्भीत:, सम्मानात् मरणाद् इव,
कुणपाद् इव च स्त्रीभ्य:, तं देवा: ब्राह्मणं विदु:।
जीवितं यस्य धर्मार्थं, धर्मो ह्यर्थमेव च,
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं, तं देवा: ब्राह्मणं विदु:। इत्यादि

वनपर्व मे भी ऐसे ही श्लोक आये हैं। स्वयं भगवान् मनु ने लिखा है,

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यं उद्विजेत विषाद् इव,
अपमानस्य चऽाकांक्षेद् अमृतस्य इव सर्वदा ;
सुखं शेते हि अवमत:, सुखं च प्रतिबुध्यते,
सुखं चरति लोकेऽस्मिन् ; अवमन्ता विनश्यति,

दैवहत: इत्यभिप्राय:। ऐसे प्राय: बीस श्लोक महाभारत मे सब

स्थानो के मिलकर होंगे, जिनका अन्तिम पाद वही है, जो ऊपर लिखा।

ऐसे ब्राह्मण, आज काल, भारत मे कहाँ देख पड़ते हैं; प्रायः स्वार्थी, लोभी, सम्मानऽकांक्षी ही देखे जाते हैं।

एक बात और लिख देना आवश्यक है; स्वराज सर्कार ने हिन्दुओं के लिये जो विशेष विधान बना दिया है, उसके अनुसार न केवल अन्तर्वर्ण और अ-स-वर्ण कहलानेवाले विवाह वैध हो गये हैं, अपि तु भारतीय स्त्री-पुरुषों के, पाश्चात्य विदेशीय श्वेत जातियों के स्त्री-पुरुषों के साथ विवाह वैध हो गये हैं। मेरी जानकारी मे ऐसे कई हुए हैं, किन्तु भारतीय स्त्रियों से पाश्चात्य पुरुषों ने बहुत कम, स्यात् तीन चार ही; पर भारतीय पुरुषों ने पाश्चात्य स्त्रियों से कई ने किये, कारण यह कि, ब्रिटेन मे, और अमेरिका मे, स्त्रियों की संख्या अधिक है, पुरुषों की कम, और स्त्रियाँ स्वभावतः, प्रकृत्या, सहारा चाहती हैं, ऐसे पुरुष की जो उनकी रक्षा कर सकें, और अन्न वस्त्र दे सकें, जिसके बदले मे उनको केवल गृहस्थी का काम करना पड़े। यद्यपि समय बदलने से भारत की कन्याएँ भी और पाश्चात्य भी आजीवन कुमारी रहकर स्वयं अन्न वस्त्र कमा लेती हैं। उक्त नये विधान जो केन्द्रीय लोक सभा और राज्य सभा के सदस्य विधायकों ने, बना दिये हैं, उनमे कुछ तो अच्छे और जनता के उपकारक हैं, कुछ बहुत अपकारक और निकृष्ट हैं, जिनका परिणाम हिन्दू समाज को, आगे चल कर, सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। इसका कारण यह है कि विधायकों मे दूर-दृष्टि नहीं, समीप ही के गुण-दोष-रूप फलों को विचारा, और अतित्वरा से ऐसे विधान बना दिया जिनको उन्होंने तत्काल अधिक गुणऽधायक जाना। इन विषयों पर स्यात् पुनः इस ग्रन्थ मे लिखा जायगा।

महात्मा गाँधी जी

सभी दिवंगत प्रमुख नेताओं की चर्चा हो चुकी, गाँधी जी की भी; किंतु गाँधी जी के गुणों और दोषों का विवेचन नहीं हुआ; वह अब करता

हूँ। इससे पहिले मै अपनी धृष्टता के लिये भारत-जनता से पुनः पुनः क्षमा माँगता हूँ। उन जनता ने ऐक्यमत से उनको 'महात्मा' की उपाधि से विभूषित किया; निश्चयेन बड़े महा पुरुष थे; शूरवीर भी, इस अर्थ मे कि उन्होंने अंग्रेज़ी साम्राज्य से निर्भीक निःशस्त्र युद्ध किया, और उसको हिला दिया, तथा भारत छोड़ने को विवश किया। किंतु उनके दोषों का विवेचन इस लिये उचित, अपितु आवश्यक है, कि 'हिन्दू' मे अंध-श्रद्धा अतिमात्र है, उसको दूर करने का यत्न तो करना ही चाहिये, चाहे यत्न सफल हो वा न हो; "विद्वांस्तु गुण-दोष-ज्ञः", सच्चा विद्वान् वही जो गुणो को भी, दोषों को भी, जानै पहिचानै। महात्मा गाँधी वाग्मी नहीं थे, किंतु अंग्रेज़ी लिखते वे लाजपतराय जी से भी, रवीन्द्र ठाकुर से भी, अच्छा। 'भारत' को पुनर्जन्म देने वाले महापुरुषों की जीवनी और बड़े कार्य का बहुत अच्छा वर्णन श्री डी० एम्० शर्मा ने, अपने रचे, 'The Renaissance of Hinduism' मे, बहुत योग्यता से लिखा है। यह उत्तम ग्रंथ, बनारस हिंदू युनिवर्सिटी से, सन् १९४४ मे प्रकाशित हुआ। गाँधी जी मे बड़े गुण थे, बड़े गुण थे, क्या कहना है; बिना उनके दिखाए मार्गों पर चले, बिना उनके सुझाए उपायों से काम लिये, भारत-जनता कथमपि स्वराज के समीप न पहुँचती; अहिंसात्मक असहयोग, शांतअवज्ञा, विनीत विरोध, विदेशी वस्तु तथा मद्य आदि बेचनेवाली दूकानों के आगे धरना, आदि। किंतु समीप पहुँचाया ही, अपने शौर्य-वीर्य के कर्म से अंग्रेज़ों के हाथ से स्वराज छीन नहीं लिया; अंग्रेजों ने ही, कारणेन, स्वयं स्वराज भारतीयों को दे दिया। कारण यह कि, बढ़ते बढ़ते, फैलते फैलते, ऐसा साम्राज्य बना लिया कि 'उस पर सूर्य कभी अस्त होता ही नहीं'। फल वही हुआ जो युधिष्ठिर को, राजसूय यज्ञ करके साम्राज्य पाने का हुआ, महाभारत का संग्राम और कौरव-पांडवों, दोनों, का विनाश; आध्यात्मिक हेतु स्पष्ट है, चारो ओर के राजों महाराजों से युद्ध किया, उनको मारा, उनके दर्प का भंग किया, अपना गर्व बढ़ाया, बचे हुए सब राजे महराजे और उनकी प्रजा, जिनको

लूट कर युधिष्ठिर का कोष भरा गया था, घोर द्रोह ईर्ष्या से, भर गये, और अवसर पाते ही, दुर्योधन के साथ हो कर युधिष्ठिर पर टूट पड़े। एवमेव, अंग्रेज़ी साम्राज्य के शत्रु चारो ओर पृथ्वी पर भर गये। अवसर पाते ही जब महामूढ़ राजस-तामस-भाव-पूर्ण कैसर विल्हेल्म ने, सार्वभौम चक्रवर्तित्व प्रेप्सा से, प्रथम विश्व-युद्ध आरंभ किया, तब सब उसके साथ हो लिये, अंग्रेज़ों पर टूट पड़े, और इनको मार ही लिया था, कि इन के सौभाग्य से, 'मौनूरो'-कृत अपने पुराने नियम को छोड़ कर, यु० स्टे० अमेरिका इनके साथ हो गया; जर्मनी हार गया। सभी की धन जनकी, बड़ी हानि हुई, प्रायः दो कोटि मनुष्य हत और आहत हुए, योद्धा भी, बड़े बड़े, लंदन, बर्लिन, वियेना, रोम, ऐसे नगरों के अ-योद्धा काम करने वाले, पुरुष, स्त्री, बच्चे, मारे गये, वा सारे जीवन के लिये, अंधे, लूले, लंगड़े हो गये। कुछ दिनो के लिये मानव जगत् मे शांति हुई; पर शांति, मन की, तो हुई नहीं, थकावट की ही हुई; सन् १९१८ मे प्रथम विश्व युद्ध बंद हुआ; बीस बाईस वर्ष सुस्ता कर, जब पुनः जन-संख्या बढ़ कर पूरी हुई, धन भी, अंग्रेज़ों के पास, भारत को लूट लूट कर, टैक्स पर टैक्स लाद लाद कर जमा हो गया, तब सन् १९३९ में, पुनः द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ हुआ। प्रथम विश्व युद्ध मे दो कोटि हतऽहत हुए, तो इसमे प्रायः तीन कोटि। अब तक जो सभी देशों के अति धनाढ्य क्रूर तामस-बुद्धि महोदय 'पेट्रियोटिज़्म', स्वदेश भक्ति, को दूर फेंक कर, अपने भी और प्रतिद्वंदी देशों को भी युद्ध की सामग्री दे कर, और लागत से दस बीस गूना मूल्य उनसे लेकर, अपने धन की राशि को नित्य बढ़ाते जाते थे, उन महोदयों को भी अपने पापों का फल भोगना पड़ा। प्रथम विश्व युद्ध मे भी युद्धक विमान नगरों पर बम-वर्षा करने लगे थे; पर दूसरे में, अधिक कुशलता से, बम गिराने लगे, और नये नये प्रकार के। इन से बहुकोटिपतियो के बड़े बड़े राज-प्रासाद सदृश भवन भी टूटे और जल गये; स्वयं, कितने ही, परिवार सहित मारे गये; इन के बड़े बड़े कारखाने, मिल, फ़ैक्टरी, आदि नष्ट

भ्रष्ट हुए। अब इन को विदित हुआ कि जो दूसरों के घर मे आग लगाता है, उसी आग के फैलने से उस का भी घर जल जाता है। तब परस्पर संधि कर के शांति स्थापन की इच्छा तीव्र हुई। संधि हुई। शांति हुई। पर सच्चे मन से संधि नहीं हुई भीतर भीतर द्वेष बना ही रहा, और तृतीय विश्व-युद्ध की तयारी हो रही है। इस द्वितीय विश्व युद्ध से लाभ हुआ, यु० स्टे० अमेरिका को और सोवियेट रशिया को। इन दोनों के पास अपार धन, कुप्य भी और अकुप्य भी एकत्र हो गया है। तृतीय विश्व युद्ध मे येही दोनों महारथी भिड़ेंगे, और ए-बम् और एच-बम् और इन से भी शत-सहस्र-गुणाधिक शक्तिशाली और विनाशकारी 'स्प्लिट्-ऐटम्' का प्रयोग होगा। वैज्ञानिक कह रहे हैं कि यदि इनका प्रयोग हुआ तो स्यात् पृथ्वी तल पर एक भी प्राणी, मनुष्य वा, पशु वा, जीता न बचैगा। अत; चारो ओर से शोर हो रहा है और कहा जा रहा है कि, जो सैंकड़ों, सहस्रों, बमो के ढेर सभी देशों मे एकत्र हो गये हैं, उन को गहिरे समुद्र मे फेंक दिया जाय। किंतु इस प्रार्थना की सुनवाई अभी तक किसी देश मे नहीं हुई है, और होने की आशा भी नहीं है।

ऐसी अवस्था मे गाँधी जी की अहिंसा-नीति को कौन मानता है ?

गाँधी जी की प्रकृति मे भारी दोष था कि किसी मत पर वह कुछ काल तक स्थिर नहीं रह सकते थे, और सर्वथा विरुद्ध पक्षों को भी स्वीकार कर लेते थे, यथा 'जन्मना वर्णः' भी ठीक है, 'कर्मणा वर्णः' भी ठीक है; हिन्दू धर्म भी सत्य है, मुस्लिम धर्म भी सत्य है, मै पक्का हिंदू हूँ, मेरे मुस्लिम मित्र पक्के मुस्लिम हैं, पर हम दोनों गले गले मिलैं, और परस्पर स्नेह प्रीति से जीवन निवाहैं, और देश मे शांति फैलावैं। अबुल्-कलाम 'आजाद' (अस्ल नाम अब्दुल क़ादिर) उनके परम-प्रीति-पात्र श्रद्धा-भाजन थे, यहाँ तक कि उन्होंने श्री जवाहरलाल नेहरू से कहा कि अबुल्-कलाम महोदय को प्रथम राष्ट्रपति बना दो; जवाहरलाल ने नहीं माना; कैसे मानते ? गाँधी तो मुस्लिमो के मा-बाप बन गये थे, चाहते थे कि समग्र भारत मुस्लिमो को दे दिया जाय, मुग़ल राज गया तो

उसके स्थान मे मुस्लिम राज्य हो सही, उस के पहिले बादशाह अबुल्-कलाम हों, इसी का परिणाम यह हुआ कि उनकी मुस्लिम-परस्ती नीति से ऊब कर एक महाराष्ट्र ब्राह्मण युवा ने उन की हत्या कर दी। जवाहरलाल जी ने 'अति' बात नहीं मानी, पर आँसू पोंछने के लिये अबुल्-कलाम को शिक्षा मन्त्री बना दिया। जहाँ तक मै जानता हूँ, अबुल्-कलाम संस्कृत नहीं जानते; भारत मे, जहाँ अब भी पैंसठ (६५) प्रतिशत हिंदू हैं, और यदि 'हरिजन' का नाम, व्यर्थ ही, जिनको गांधी जी ने दिया, वे भी हिंदुओं मे गिने जाय (वे अपने को हिंदू कहते ही हैं), तो ७५ प्रतिशत हिंदू हैं, और पाठशालाओं, विद्यालयों, विश्व-विद्यालयों मे स्यात् ९० (नब्बे) प्रतिशत हिंदू ही बालक बालिका, युवा युवती, शिक्षा पाते हैं. विविध शास्त्रों की, कारीगरियों शिल्पों की, डाक्टरी की; ऐसे देश का शिक्षा मन्त्री अबुल्-कलाम, और उसका मन्त्री सय्यदैन, और सहायक मन्त्री भी दो मुस्लिम, जो संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ। जवाहरलाल जी ने केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय को ऐसे मनुष्यों से भर दिया, यह बहुत अन्याय किया। मेरे बहुत कहने लिखने पर, उन्होंने पहिले एक, पुनः एक और, हिंदू को शिक्षा विभाग का उपमन्त्री बनाया, पर ये भी कुछ ठोस काम, संस्कृत प्रचार, सतसनातन-धर्म-प्रचार, आदि के लिये, कर नहीं रहे हैं।

और देखिये। गाँधी जी ने अपनी पुस्तिका, 'हिंदस्वराज' मे लिखा है, कि प्रकृति की आज्ञा के अनुसार मनुष्य को सूर्य के साथ सो जाना और सूर्य के साथ जाग कर दैनिककृत्यों मे लगना चाहिये। पर स्वयं, पश्चिम की-बनी छोटी घड़ी कमर मे लटकाये रहते थे, और आधीरात तक जागते रहते थे, लोगों से मिलते थे, बात करते थे, पुनः कठिनाई से दो घंटा सोकर, दो बजे उठकर अपने निजी मंत्रियों को चिट्ठियाँ, वा 'यंग इण्डिया' साप्ताहिक के लिये लिखवाने लगते थे! इसी से पुनः पुनः रुग्ण होते थे, पर अपने अद्भुत संयम नियम से, भोजन पान बँधे समय पर, बँधी मात्रा मे, करने से, विविध प्रकार की प्राकृतिक चिकित्सा से ही,

अच्छे हो जाते थे। यह तो निश्चय से मानना पड़ता है कि यदि असमय उन की हत्या न हुई होती, तो निश्चयेन शतायु होते।

थोड़े मे, गाँधीजी के विचार और काम मे तीन मुख्य त्रुटि थी, (१) आत्यंतिकता, extremism, (२) अस्थिरता, (३) स्व-राज्य का अर्थ स्पष्ट न करना।

(१) अहिंसा, अहिंसा, पुकारा करते थे, किंतु जब, एक समय उन के, पहिले वास-स्थान, साबरमती के पास के बड़े नगर अहमदाबाद मे कुत्तों की संख्या बहुत बढ़ी, और मनुष्यों को काटने लगे, तब नगर पालिका के सदस्यों ने उनसे पुछवाया, और उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि मार डालना चाहिये। अन्य समय एक बछवा, किसी उदर-रोग से पीड़ित, छटपटा रहा था, तब गाँधी जी की आज्ञा से किसी डाक्टर ने वैज्ञानिक उपाय से उसको मार दिया। महामूढ़ हिंदू-दासों ने बड़ा हो-हल्ला मचाया, 'बड़ा पाप किया,' 'गो-हत्या किया'; अन्ततः, सब पटा गया! और उनके परम श्रद्धेय अबुल्कलाम, उन के मुह पर कहते थे, 'आप अहिंसा अहिंसा पुकारा करें, पर मेरा मज़हब कहता है कि जो इस्लामधर्म पर, वा मुस्लिमो पर, हमला करै उस को मार ही डालौ, काफ़िरों पर रहम करना गुनाह है'। सन् १९३६ मे, गाँधीजी के आफ़्रिकी मित्र, श्री पोलाक ने, उनसे, एक खुले पत्र मे, जो भारत के दैनिकों में छपा था, पूछा कि स्वराज मिलने पर आप पुलिस और सेना रक्खोगे या नहीं, ? तब उन्हों ने उत्तर दिया, 'अवश्य, भारत के भीतर, साहसिकों, अपराधियों, लुटेरों, हत्यारों, को रोकने, पकड़ने, दंड दिलवाने के लिये, तथा विदेशियों के आक्रमणो से भारत की रक्षा के लिये, सेना को'। जब पुलिस और सेना रक्खा, तब अहिंसा कहाँ रही ? जब कश्मीर पर पाकिस्तानियों ने हम्ला किया, तब जवाहरलाल ने इनसे पूछा कि लड़ना चाहिये या नहीं, और इन्हों ने उत्तर दिया 'अवश्य'। भारत से सेना भेजी गई, परमेश्वर ने सहायता की, ठीक समय से पाँच सहस्र भारतीय सैनिक वहाँ पहुँच गये, मुख्य नगर श्रीनगर से तो पाकिस्तानी

सेना को मार भगाया, पर बाहरी देहाती कुछ भागों पर उन की सेना आज तक जमी हुई है; और कुछ भारतीय सेना भी तब से आज तक, दस वर्ष हो गये, ठहरी हुई है; अन्यथा, वे दुष्ट पाकिस्तानी पुनः श्रीनगर मे घुस आवें।

(२) ऊपर, गाँधीजी की, कमर से लटकती घड़ी की चर्चा की गई। सब पाश्चात्य मशीनरी द्वेषी होते हुए भी, गाँधीजी ने पैर गाड़ी 'बाइ-सिक्ल' और कपड़ा सीने की कल, 'स्युइङ्ग मशीन' को पसंद किया। जब इनको स्वीकारा तब सभी मशीनो, मिलों, फैक्टरियों कोयले की, लोहे की, ताम्बे आदि की खानो को स्वीकार किया, क्योंकि बिना उनके ये दो वन नहीं सकती। रबर के ही बल साइकल, मोटर-कार, एयरोप्लेन आदि चल सकते हैं; अन्यथा नहीं। आज, लाखों, स्यात्, कोटियों, साइकल और रिक्शा भारत के नगरों मे दौड़ रही हैं। एवं लाखों मोटर-कार। इस समय काशी मे छः सहस्र से अधिक और सत्ताइस सौ मोटर कार, बस, ट्रक आदि दौड़ रही हैं।

(३) तीसरा भारी दोष यह रहा कि 'स्व-राज' शब्द का अर्थ उन्होंने कभी अपने अनुयायियों तथा भारत जनता को नहीं समझाया। पंजाब-केसरी लाजपतराय जी के संबंध मे इस विषय पर भी ऊपर लिखा गया है; पुनरपि लिखना आवश्यक है। सन् १९२१ मे, मै, अखिल-भारतीय-कांग्रेस की कार्य-कारिणी समिति, 'वर्किङ् कमिटि', के सदस्य के रूप से, बंबई गया। गाँधी जी के उत्तम वास-स्थान के तृतीय भूमि, (खंड, मंज़िल्) मे, बड़े आवसथ, कमरे, मे, कमिटी की बैठक हुई। मैने गाँधी जी से कहा कि स्व-राज की व्याख्या कीजिये। उत्तर दिया 'जो पूछै उससे कहो, राम-राज्य'। मैने कहा 'स्व-राज' तो कुछ समझ भी पड़ता है, 'अपना राज', राम-राज तो अधिक कठिन है; रामजी तो पुनः अवतार लेकर आवैंगे नहीं, यद्यपि इस कलियुग के पाप-व्याप्त समय मे उनके अवतार का उत्कट प्रयोजन है। कुछ उत्तर नहीं दिया। उन्ही दिनो, बंबई मे, विदेशी वस्त्रों के ढेर के ढेर जलाये गये।

पुनः पुनः मैं, उनको लिखता रहा, और अंग्रेज़ी हिंदी-दैनिकों में पचासों, सैकड़ों, बार स्व-राज के अर्थ के स्पष्टीकरण की आवश्यकता दिखाई; पर न गाँधीजी ने, न किसी अनुयायी ने, इस ओर ध्यान दिया। मैंने स्वयं दैनिकों मे लिखा कि व्याख्या सहज और स्पष्ट है और प्राचीन स्मृतियों के अनुकूल है, यथा, प्रजा के उत्तम, निस्स्वार्थी, पक्षपात-रहित, चारो वर्णों के हितचिंतक जो हों, वे ही 'उत्तम स्व' समझे जायँ और उन्ही को विधान सभाओं और परिषदों मे भेजा जाय, तभी देश का हित होगा।

सर्वेषां यः सुहृन् नित्यं, सर्वेषां च हिते रतः,
कर्मणा, मनसा, वाचा, सः धर्मान् वक्तुं अर्हति।

इसी आशय के श्लोक मनुस्मृति में, याज्ञवल्क्य स्मृति मे, तथा अन्य स्मृतियों मे, मिलते हैं। पर किसी ने नहीं सुना। फल वही हुआ जो होना था, ज़मीदार ने समझा ज़मीदार-राज, खेतिहर ने खेतिहर-राज, ब्राह्मण ने ब्राह्मण-राज, क्षत्रिय ने क्षत्रिय-राज, हिंदू ने हिंदू-राज, मुस्लिम-राज, और आपस में मारा-मारी, अदालत-बाज़ी, आदि। यहाँ तक बात बढ़ी कि जिन्ना ने, गाँजी जी की बहुतेरी प्रार्थना और खुशामद और आश्लेषण को कुछ नहीं गिना, माना, और अंग्रेज़ों की सहायता से भारत के, तड़फड़ाते हुए, तीन टुकड़े कर ही डाला, और उसके पहिले और पीछे के चार-पाँच वर्षों मे पन्द्रह-सोलह लाख हिंदुओं की और मुस्लिमों की भी हत्या करा डाला, और कई सौ कोटि की संपत्ति, जो अधिकांश हिंदुओं ही की थी, नष्ट भ्रष्ट किया। यह सब उस घोर उपद्रव के समय का वृत्तांत किसी भी अच्छे इतिहास-ग्रंथ मे पढ़ा जा सकता है। मैंने अपने अंग्रेजी ग्रंथ, World War and its Only Cure मे, तथा डाक्टर राधाकृष्णन् ने, गाँधीजी की सत्तरवी (७० वीं) वर्षगाँठ पर अभिनंदन ग्रंथ उनको दिया, उस मे, डा० राधाकृष्णन् की इच्छा से जिसे लिखा, उस मे सविस्तार इस त्रुटि को दिखाया है।

सन् १९३५ से १९३८ तक मैं भी केन्द्रीय विधान-सभा (लेजिस्लेटिव्

असेम्बली) की कांग्रेस पार्टी का एक सदस्य था, और जिन्ना भी मुस्लिम् लीग के मुखिया के रूप मे। बीच-बीच मे, 'लौबी' मे, उन से समागम होता था; मैने उनसे कहा 'आप लोग भी स्व-राज चाहते हो, हम लोग भी; स्वराज, स्व-तंत्रता, का क्या अर्थ समझे हो'; तो 'हम अपने मनमाने क़ानून बनावैं'; मै, 'कैसे क़ानून ? जिन से रियाया की बेहबूदी हो या ख़राबी' ? 'नहीं, बेहबूदी'; 'तो ऐसे क़ानून कौन बना सकता है; जो खुदग़रज़ नहीं, सबका मुनासिब भला चाहै, वही न ?'। इस का कुछ उत्तर नहीं। मै, सन् १९३८ मे, त्याग पत्र देकर घर लौटा, क्योंकि देखा कि कोई ठोस काम, प्रजा की उन्नति के लिये नहीं हो रहा है, अनंत बक्-बक् और हँसी-मज़ाक़, और एक दूसरे पर बौछार ही होती हैं। यह सब मै ने, अपने अंग्रेजी ग्रंथों मे, स-विस्तर लिखा दिया है (Sience of Social Organisation; World War and its only Cure, आदि मे)।

अब दिवंगत प्रमुख नेताओं की चर्चा हो चुकी, विद्यमान स्वराज की नौका के कर्णधारों के विषय मे लिखना चाहिये; वह घूमफिर के, एकमात्र जवाहरलाल जी ही, भारत के शासक सिद्ध होते हैं। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद जी के हाथ, संविधान ने बाँध दिये हैं, वे प्रधान मंत्री के उपस्थित किये हुए अध्यादेशों और विधानों पर स्वीकृति के हस्ताक्षर कर देने के सिवा और कुछ कर नहीं सकते। उपराष्ट्रपति डाक्टर राधाकृष्णन् ने, आध्यात्मिक क्षेत्र मे, बड़ा काम किया है, पृथ्वी के सब अन्य देशों मे, भारत के अध्यात्म विद्या, आत्म-विद्या, ब्रह्म-विद्या के विषय का, प्राचीन ऋषियों का संदेश सुनाकर, भारत के लिये आदर सम्मान जगाया। इस विषय मे, यदि इन से अधिक काम किसी ने किया तो श्रीमती डाक्टर ऐनी बेसेंट ने, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है। किंतु राजनीतिक क्षेत्र मे, ये अब तक कुछ नहीं कर सके हैं।

श्री जवाहरलाल ने, निस्संदेह, राजनीतिक क्षेत्र मे, भारत का सिर बहुत ऊँचा किया है। पृथ्वी के बड़े राज्यों में अब, इन्ही के कार्यों से,

इसकी गणना होने लगी है । चारो ओर कहा जाता है कि शांति, 'पीस', पृथ्वी पर बनाये रखना, श्री नेहरू जी ही कर सकते हैं । दो राज्यों मे जब कोई विवाद उठ खड़ा होता है, तो ये पंच मान लिये जाते हैं, और जो निर्णय कर देते हैं उसको दोनों वादी मान लेते हैं । वर्तमान काल का इतिहास इसका साक्षी है । किंतु दुष्ट पाकिस्तानियों और अति दुष्ट पोर्चुगीज़ गोआवालों का ये कुछ नहीं कर सकते । आये दिन भारत की सीमा के भीतर घुस आते हैं, लूट-पाट करते हैं, भारतीय पुरुषों को, सैनिकों को भी, मार डालते हैं । अथक परिश्रम करते हैं; भारत मे, जहाँ कहीं प्रकृति-कृत वा मनुष्य-कृत विशेष आपत् विपत् होती है, विमान से पहुँच जाते हैं, और यथा-सम्भव प्रतीकार कराते हैं । एवं, आज बम्बई मे तो कल लंदन मे, और परसों न्युयोर्क और वोशिङ्गटन मे पहुँच जाते हैं, वहाँ वहाँ के प्रधान मंत्रियों वा राष्ट्रपतियों से गंभीर राजनीतिक उलझनो को सुलझाने मे उपायों के विषय मे विचार-विनिमय करने को । अभी, प्रायः एक वर्ष न हुए होंगे, पाँच सात सप्ताह मे रूस, युगो-स्लाविया, बल्गेरिया, ज़ेको-स्लोवाकिया आदि के प्रधान मंत्रियों से मिले, और पृथ्वी पर शांति बनाये रखने के उपायों पर परामर्श करते रहे । अंग्रेज़ी राज मे, कभी दूसरे देश के बादशाह सम्राट् , नहीं आये; जब आये तब मंत्री आदि ही । स्वराज के बाद, ईरान के बादशाह, साऊदी अरब के बादशाह इब्नसऊद, ईथियोपिया के सम्राट् आदि आये । नेहरू जी भी इब्न सऊद की राजधानी रियाज़ उनके निमंत्रण से, गये, और वहाँ बड़े धूमधाम से इन का स्वागत हुआ, इन के लिये एक नया उत्तम भवन बनाया गया था, उस मे ठहराये गये; जो बात कभी, इब्न सऊद के लिये भी नहीं की गई वह इन के लिये की गई, बुर्क़ा पहिन कर सैकड़ों स्त्रियाँ अमीर घरों की, अपने भवनो से बाहर आँई, इन को फूल की माला पहिनाई, अरबी भाषा के शब्दों मे 'स्वागतं, स्वागतं' पुकारा । यह सब नेहरू जी के अद्भुत गुणों का फल है ।

अब दोषों को देखिये; श्लोक प्रसिद्ध है,

यौवनं, धन सम्पत्तिः, प्रभुत्वं, अविवेकिता,
एकैकमपि अनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयं।

यौवन तो नेहरू जी के पास अब नहीं रहा, अड़सठ (६८) वर्ष पूरा कर चुके; धन सम्पत्ति भी नहीं; व्यापार कौशल भी प्राय: नहीं, जैसा बिड़ला-बंधुओं और टाटा बंधुओं को है; राजनीति के झमेलों से अवकाश भी नहीं कि बैरिस्टरी करके धन कमायें; उसकी रुचि भी नहीं। इनके पिता श्री मोतीलाल जी के समय मे, राज-प्रासाद-सदृश एक भवन बना, चौरासी सहस्र रुपयों के व्यय से; अब स्यात् दो ढाई लाख मे भी न बने। उस से कुछ आय नहीं, प्रत्युत उसपर व्यय बहुत; कई नौकर मालियों का वेतन और नगरपालिका को गृह-कर, जल-कर आदि। हाँ, प्रभुत्व बहुत और तज्जनित अविवेकिता भी। इतिहास साक्षी है कि, जब किसी एक पुरुष के हाथ मे समग्र और सम्पूर्ण शासन शक्तियाँ एकत्र हो जाती हैं, तब वह उन शक्तियों का मनमाना प्रयोग करने लगता है; यह नहीं देखता कि ऐसे प्रयोगों से प्रजा को हानि होगी वा लाभ। नेहरूजी ने, बिना लोकसभा और राज्यसभा की स्वीकृति के, केवल अपनी आज्ञा से, दशमलव गणना मुद्राओं को चला दिया; एवं शालिवाहन शाका; एवं तापमान, फ़ाह्लेनहाइट के स्थान मे सेंटिग्रेड। इस सब से देश मे, वस्तु खरीदने बेचने में बड़ा उथल पुथल हो गया; सब वस्तुओं का मूल्य अधिक देना पड़ता है; यथा, पहिले, तीन रुपये मे तीन पैसे वाले चौसठ (६४) पोस्टकार्ड मिलते थे, अब साठ (६०) ही। गाँधी जी से भी एक समय श्री नेहरू ने पूछा था; उन्हों ने स्पष्ट मना किया, और कहा कि अंग्रेजों ने, ब्रिटेन में दशमलव मुद्रा नही चलाया, न भारत मे, अपने राज्य के समय मे; पर, गाँधी जी के उठ जाने के बाद अपना मनमाना कर डाला। पर अन्य सब कामो से अधिक अनुचित काम इन्हों ने यह किया कि 'हिन्दू कोड' मे जिसको मृत अम्बेदकरने इन्हीं की आज्ञा से बना दिया, पैत्रिक दाय मे भाई और बहिन को तुल्य भाग दे दिया। कई बात हिन्दू कोड में, यथा गोत्र सम्बन्धी, अच्छी भी हैं, यथा असवर्ण कहलाने वाले विवाहों को वैध बना दिया, तथा भारतीय हिन्दुओं के, विदेशी श्वेत

स्त्रियों, पुरुषों से, विवाह को भी; पर यह, भाई और बहिन को समान भाग देना, नितान्त निकृष्ट है; इस से, हिंदू कुलों का जीवन सर्वथा अस्त-व्यस्त हो जायगा। स्वयं गण्य मान्य स्त्रियों ने, यथा राज घराने की राज कुमारी प्रभावती राजे ने, इस का बड़ा विरोध किया, भारत मे बहुत से बड़े नगरों मे घूमकर, सार्वजनिक सभाओं मे व्याख्यान दिये; कुछ न हुआ। भारत जनता ऐसी मूढ़ है कि अपना भला-बुरा कुछ विचार ही नहीं सकती। "अंधेनैव नीयमाना यथांधाः" (उपनिषत्)।

मैने, अंग्रेज़ी और हिन्दी दैनिकों मे, बहुत बार, इसके अनर्थ दिखाये; प्रयाग उच्चतम न्यायालय के प्रधान जज ने मुझसे कहा कि, 'मैने आजीवन क़ानून का अध्ययन, किया, वकालत के दिनो मे उपयोग किया, जजी के वर्षों में प्रयोग किया, सभी शिष्ट देशों के विधानों का अध्ययन किया, किसी मे भी, ब्रिटेन के भी, दाय-विभाग संबंधी विधानो मे, बराबर भाग तो दूर रहा, कुछ भी भाग बेटी को नहीं दिया है'। सन् १९४८ मे 'हिंदू कोड बिल' दैनिकों में छापा गया, प्रमुख स्त्रियों पुरुषों से राय मागी गई; एक कमिटि, छोटी, बनाई गई, कि जो राय आवैं उन पर विचार करके रिपोर्ट दें, उसमे अनंत शयनं अयंगर और पंजाब राव देशमुख भी थे; इन दोनो ने इस अंश का घोर विरोध किया; किंतु जब स्वीकृति के लिये लोक सभा और राज सभा मे उपस्थित किया गया, उस समय अनंतशयनं लोक सभा के 'स्पीकर' और पंजाब राव एक विभाग के मंत्री बन चुके थे, बड़े बड़े वेतन पाते थे, रुपये ने उनका मुह बंद कर दिया, चुप रहे; कोड स्वीकार हो गया।

हाँ, इस्लामी शरियत मे, पैत्रिक रिक्थ मे, भाई को दो भाग, बहिन को एक भाग, दिया है; साथ ही इस मे, पिता को अधिकार है कि वह अपना सब धन वक़्फ़ (इस्लामी 'देवत्र', 'धर्मत्र',) कर दे, वा शराब कबाब और वेश्याओं पर व्यय कर दें, और बेटी बेटों के लिये कुछ भी न छोड़ै; और ऐसा कितने अमीर मुसलमान करते ही हैं; मेरी जानकारी मे कई हुए हैं, फल यह होता है, कि दो तीन पुश्त तक भी, अधिकांश मुस्लिम घरानो मे धन नहीं रहता।

'मृत्यु कर', 'एस्टेट ड्यूटी', भी पापिष्ठ कर है। अँग्रेज़ों ने ब्रिटेन मे बहुत पहिले से लगा रक्खा था, विश्वयुद्ध के अपार व्यय के लिये धन चाहता था; और इसके कारण, कोटि-कोटि रुपये की वार्षिक आय वाले ड्यूक, मार्क्विस, अर्ल आदि दरिद्र हो गये। पर यहाँ, भारत मे, अंग्रेजों ने नहीं लगाया।

लिखने को तो बहुत है, कहाँ तक लिखा जाय, सब इतिहास दोहराना पड़ैगा; यह अध्याय बहुत लंबा हो गया है, अब समाप्त करना चाहिये। एक बात और लिखना आवश्यक है; नेहरू जी का मत है कि धर्म, 'रिलिजन', वैयक्तिक ('पर्सनल्') है अपनी अपनी रुचि के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति, परम ईश्वर मे, पुनर्जन्म आदि मे, विश्वास करै वा न करै। यह बड़ी भारी भूल है; सत्य सनातन धर्म, Law-Religion, तो नितरां सार्वजनिक पदार्थ है, 'धर्मो धारयति प्रजाः', अधिकार-और-कर्तव्य, 'राइट्स-ऍड्-ड्युटीज़', Rights and Duties, के बंधनों से मनुष्य-मात्र को, एक दूसरे से बाँधे रहता है; बिना इसके समाज एक दिन रह नहीं सकता, मात्स्य-न्याय से नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, "जले मत्स्याः इव ऽभक्षयन् दुर्बलान् बलवत्तराः" (म० भारत)। अस्तु।

अंत मे, पुनरपि यही कहना है कि जवाहरलाल ने बड़े काम, भारत की उन्नति के लिये, किया और कर रहे हैं। जो बड़े काम करता है, उस से कभी बड़ी भूल भी हो ही जाती है। मै हृदय से प्रार्थना करता हूँ कि परमात्मा जगदात्मा इनको शतायु बनावैं, और इनको, समय-समय पर, सद्बुद्धि देता रहै, जिस के बल, भारत की प्रगति के लिये, ये उत्तम उपाय जानैं और उनका प्रयोग करें।

इन के विषय मे, पुनः आगे चर्चा की जायगी, तथा भारत-भाग्य-विधाता' विधायकों की भी, जो इस समय, केंद्रीय तथा 'स्टेटीय' विधान सभाओं और परिषदों में, कई सहस्र, भरे हैं, और भारत की उन्नति के लिये कुछ भी नहीं करते, केवल बँधे वेतन, और प्रत्येक अधिवेशन मे, जिस मे वे सम्मिलित हों, बीस, पचीस, पैंतीस, पैंतालीस, रुपये पाते हैं।

बुद्धि प्रबल वा शास्त्र ?

(यह छोटा निबंध पहले 'शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद' के नाम से छपा था; वह उपयुक्त नहीं था, अतः बदल दिया गया।)

[नोट—गाँधी जी के और द्वितीय विश्व-युद्ध के कार्य को कुछ शूर युवकों ने पूरा किया, Terrorist, भयकारिणी, नीति आरंभ किया; प्रायः बीस अंग्रेजों को मार डाला, कलकत्ता के मंत्रालय मे, मेदिनीपुर मे, नागपुर मे, दिल्ली मे, इत्यादि। तब अंग्रेजों को बड़ा भय हुआ कि यहाँ रहैंगे, तो स्यात् क्रमशः सभी मार डाले जायँ, "देश को छोड़ देना ही अच्छा है।"]

हमारी समस्याएं

भूमिका

[प्रथम संस्करण को]

गये जाड़े में (सन् १९४३-४४ ई० के चार-पाँच महीने) दिल्ली, कानपुर, प्रयाग में 'होम-हवन-यज्ञ' आदि की बहुत चर्चा और बड़ी धूम रही। काशी में भी, तथा अन्य दो-तीन छोटे नगरों में, उनका अनुकरण करने का यत्न किया गया; पर प्रायः वैसे अग्रणी, उतने श्रद्धालु, और उतने रुपये, एकत्र न हो सकने से यत्न फीका रहा। उन दिनों समाचार-पत्रों में, इनके बारे में, खबरें छपा करती थीं; कुछ सज्जनों ने यह आपत्ति भी छपाई कि "ऐसे समय में, जब लाखों प्राणी अन्न के अभाव से मर रहे हैं, तब धर्म के नाम पर यज्ञ करके अन्न और घी जलाना पाप है"; कुछ ने तो यह भी इच्छा प्रकट की, कि गवर्मेण्ट को, मनुष्य के भोज्य पदार्थों का ऐसा संहार रोकना चाहिए। दूसरे पक्ष का कहना है कि यह कर्म नितान्त धर्म है, 'शास्त्र'-विहित है, किया जाना ही चाहिए। तर्क-प्रतितर्क होता रहा। बीच-बीच में, मेरे पास, कुछ छपे, कुछ लिखे, पत्र आते रहे, तथा दूसरों के पत्रों की प्रतिलिपियाँ भी भेजी गईं। मुझसे यह भी कहा गया कि इस विषय पर, जनता के सामने जो विचार तुमको समयोचित जान पड़े उनको रखो।

उमर अधिक; शक्ति क्षीण; जो कुछ थोड़ी बची है उसको, इधर पाँच छः महीने से, अपने श्लोकबद्ध संस्कृत ग्रंथ "मानव-धर्मसारः" के नये परिबृंहित संस्करण छपाने में लगा रहा हूँ। मेरे हिन्दी ग्रंथ "पुरुषार्थ" के पुनर्मुद्रण के लिए भी, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, का तक़ाज़ा हो रहा है। इस कारण मै हिचका। पर फिर सोचा कि यह

कार्य भी उसी उद्देश्य के मुख्य अंश का सहायक है, जिसके साधन के लिये संस्कृत और हिन्दी के वे ग्रंथ लिखे गये। प्रस्तुत अति संक्षिप्त निबन्ध लिखने का निश्चय किया।

पाठक सज्जन प्रायः जानते होंगे कि ४०-४५ वर्षों से, शिक्षा संस्थाओं, लेखों, और व्याख्यानों के द्वारा, जैसी भी समझ, गलत या सही, परमात्मा ने मुझको दी है, उसके अनुसार, प्रत्यक्ष क्षयरोग से ग्रस्त हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की चिकित्सा करने-कराने में लगा हुआ हूँ। ऐसे सज्जन प्राय; यह भी विश्वास करते होंगे कि मेरी नीयत नेक और सच्ची है, चाहे मेरी बुद्धि को कच्ची ही जानें। मैं आशा करता हूँ, और प्रार्थना करता हूँ, कि जो पाठक इस लेख को पढ़ें, वे ऐसे ही विश्वास से इसे पढ़ें।

काशी,
जून, १९४४ भगवान्‌दास

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तिका को, भारत की जनता ने, प्रसन्न दृष्टि से देखा। प्रथम, संस्करण की २००० प्रतियाँ, तीन-चार महीनों ही में उठ गईं। शोधन मार्जन, उपबृंहण करके, यह नया संस्करण जनता के सामने रक्खा जाता है। शंका और प्रश्न, कुछ हिन्दी पत्रों मे छपे, कुछ हस्त-लिखित पत्रों में, प्रस्तुत लेखक के पास आये। उन के समाधान के लिये एक परिशिष्ट जोड़ दिया गया है; कई टिप्पणियाँ (फुट-नोट) भी लिख दी गई हैं।

काशी
फर्वरी, १९४५ भगवान्‌दास

बुद्धि प्रबल वा शास्त्र ?

विषय प्रवेश

प्रस्तुत विषय के प्रतिद्वन्द्वियों का नाम 'बुद्धि और शास्त्र' रख दिया जाय, तो इस लेख में सुविधा होगी । वैयक्तिक नाम लेने से क्षोभ, राग-द्वेष के बढ़ने का सम्भव रहता है, आर्ष सूत्रादि ग्रंथों में नामोल्लेख कर के भी कभी-कभी प्रतिवाद किया है, पर वे नाम प्रायः दिवंगत पूर्वकालीनो के हैं; समकालीनो के नहीं । पक्षों का उद्देश कर के प्रायः खंडन मंडन किया है, यथा अद्वैतिन; वदन्ति', 'आरम्भवादिनस्तु एवं ।'

'शास्त्र-वादी' सज्जन, पद-पद पर, 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग करते हैं—'शास्त्र' यह कहता है, शास्त्र वह कहता है, जब 'शास्त्र' परस्पर-विरुद्ध वाक्य कहें तब 'शास्त्रीय' पद्धति से ही 'शास्त्रीय' विरोधों का परिहार करना और 'शास्त्रीय' सिद्धांत को समझना चाहिये, 'शास्त्र'-विरुद्ध मत चिरस्थायी नहीं रह सकते, इत्यादि । 'बुद्धि'-वादी सज्जन, 'बुद्धि' 'विवेक' 'विचार' पर जोर देते हैं । यह हुज्जत बड़ी पुरानी है । प्रत्येक धर्म-मजहब-'रिलिजन' के और प्रत्येक साक्षर, लिखे-पढ़े, समाज और देश के इतिहास मे देख पड़ती है; पुनः पुनः दबाई जाती है, शांत की जाती है; पुनः पुनः, नये-नये बहाने से, उभरती है । क्या किया जाय, मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है ! विश्वास, श्रद्धा, बढ़ते-बढ़ते, अति-विश्वास, अंध-श्रद्धा, हो जाती हैं; तब प्रतिक्रिया जागती है, चक्कर घूमता है, अविश्वास बढ़ने लगता है। क्रमशः अंधा-धुन्ध अविश्वास हो जाता है; तब पुनः विवेकवती श्रद्धा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न होने लगता है । बहुकालव्यापी इतिहास का सविशेष सूक्ष्म अध्ययन करने से यह सिद्ध होता है । भारतवर्ष मे वास्तविक इतिहास लिखने-पढ़ने की रुचि हजारों वर्ष से उच्छिन्नप्राय हो रही है । संस्कृतज्ञ विद्वान् प्रायः संस्कृत ग्रंथों

ही को पढ़ना लिखना चाहते हैं; संस्कृत मे लिखे रामायण और महा-भारत ही मानव जाति के, और पुराण समस्त जगत् के, इतिहास को ही इतिहास-पुराण मानते हैं । नये पाश्चात्य ज्ञान का तिरस्कार करते हैं; इस लिये दृष्टियाँ संकुचित हो रही हैं, 'बहुश्रुतता' लुप्त हो रही है, समयोचित व्यवहार के ज्ञान की कमी हो गई है, और जनसाधारण को समझाना बहुत कठिन हो रहा है। यूरोप मे, शास्त्रवादी 'रोमन कैथलिक' और बुद्धिवादी 'प्रोटेस्टंट' आदि के वाग्युद्धों, फिर दारुण शस्त्रयुद्धों, का इतिहास भारत की जनता यदि जानती होती, तो यहाँ ऐसी हुज्जतें प्रायः बन्द हो गई होतीं (जैसे यूरोप मे बंद हो गई हैं), या जब कभी उठतीं तो सहज मे निपटा दी जातीं । यह बात, धर्म, मज़हब, शास्त्र के नाम से की गई लड़ाइयों की है। जो विश्वयुद्ध आज काल यूरोप मे आरम्भ हो कर जगद्व्यापी हो रहा है, उसके कारण दूसरे हैं, उनकी चर्चा यहाँ नहीं है । इस सम्बन्ध मे याद रखना चाहिये कि महामहर्षि वेदव्यास जी के ही वंश मे और उनके सामने ही प्रजा-विनाशक कौरव-पांडव युद्ध हुआ, पाँच हजार वर्ष पहिले, जब 'शास्त्र' और 'वेद' और 'सनातनधर्म' का निर्द्वंद्व राज्य था । ऐसी कठिनाइयाँ होते हुए भी, जब हुज्जत आज चल पड़ी है, तब उसको निपटाने का यत्न करना ही चाहिये ।

कचहरी मे जब कोई मुकद्दमा पेश होता है तो न्यायाधीश का पहिला काम यह होता है कि 'तनक़ीह', संशय-स्थान, 'मुख्य प्रश्न', 'पॉइंट्स इन इशू' को स्थिर कर दे, और दूसरा काम यह होता है कि जो गवाही, साक्षी, दी जाय, वह अप्रसक्त न होने पावे, मुख्य प्रश्न से सदा प्रसक्त ही रहे । वकील का भी काम होता है कि प्राड्विवाक को, मुख्य प्रश्न स्थिर करने मे सहायता दे, और बाद मे, उन्हीं प्रश्नो से प्रसक्त साक्ष्य और तर्क-प्रतितर्क उपस्थित करे; अप्रसक्त अप्रासंगिक बातें न आने दे । यहाँ भारत जनता ही न्यायपति प्राड्विवाक है, और मै

बुद्धिवादी की ओर से वकालत का काम करना चाहता हूं, किन्तु 'फ़ीस' ले कर नहीं, प्रत्युत 'बुद्धिवादी' का श्रद्धालु होने के कारण ।

मुख्य और अवान्तर प्रश्न

इस दृष्टि से देखने से, स्पष्ट है कि प्रस्तुत विषय मे, मुख्य प्रश्न यह है कि (१) जब लाखों प्राणी, इस देश मे, अन्न बिना मर रहे हैं, तब अन्न और घी का, किसी तथाकथित शास्त्र के अनुसार, आग मे जलाना पाप है, अधर्म है, अकरणीय है, या नहीं ? अवान्तर प्रश्न, जो मुख्य प्रश्न से निकटतर सम्बन्ध रखते हैं, ये हैं—(२) इस मुख्य प्रश्न का निर्णय, लौकिक मानव 'बुद्धि' से होना चाहिये या किसी तथाकथित 'शास्त्र' से ? (३) 'शास्त्र' क्या वस्तु है ? बुद्धि क्या वस्तु है ? शास्त्र और बुद्धि मे कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यदि है तो क्या ? (४) किसी तथाकथित शास्त्र और बुद्धि मे जब विरोध हो, तब कौन प्रबल माना जाय ? (५) यदि वह 'शास्त्र' प्रबल माना जाय, तो उसके अनुसार मुख्य प्रश्न का उत्तर क्या होता है ? (६) यदि बुद्धि, तो क्या ? इन सभी प्रश्नों पर विचार, "मानव-धर्म-सारः" मे आर्ष, ऋषि-कृत, ग्रंथों से सैकड़ों वाक्यों का उद्धरण कर के, मैने विस्तार से किया है; तथा हिंदी ग्रंथ 'पुरुषार्थ' के पांचवें और छठवें अध्यायों में भी, थोड़ा । यहाँ पर उस का निश्च्योत, निचोड़, मात्र बहुत संक्षेपसे लिखा जा सकता है ।

यह स्यात् किसी का भी आशय न होगा कि शास्त्रवादी सर्वथा बुद्धिरहित हैं, वा बुद्धिवादी सर्वथा शास्त्रविरोधी हैं । यहाँ आशय यही है कि किसी तथाकथित 'शास्त्र' को बुद्धि से, अन्ततः, ऊपर स्थान देने वाला 'शास्त्रवादी' है; एवं अन्ततः, 'बुद्धि' पदार्थ को शास्त्र से ऊँचा स्थान देने वाला 'बुद्धिवादी' है ।

शास्त्र क्या है ?

अवान्तर प्रश्न '(३) शास्त्र क्या वस्तु है ?' इस को पहिले देखना चाहिये । स्यात् इसमे किसी को आपत्ति न होगी, यदि कहा जाय कि

'शास्त्र' शब्द से जो ग्रंथ आज काल समझे जाते हैं, वे सब, किसी न किसी मानव की 'बुद्धि' से ही उत्पन्न हुए हैं।

न जातु जनयन्तीह शास्त्राणि मनुजान् कचित्,
मनुजाः एव शास्त्राणि रचयंति पुनः, पुनः।
बुद्ध्यैव रचनाकार्यं तत्र संपाद्यते सदा।

शास्त्र को पुरुष उत्पन्न करते हैं; पुरुष को शास्त्र नहीं।

न बुद्धिरस्तीत्यपि बुद्धिसाध्यं, न तत्प्रभुत्वं तु कदापि बाध्यं।

'बुद्धि' की गति यहाँ नहीं है—यह निर्णय भी हमारी आपकी बुद्धि ही करती है। बुद्धि के प्रभुत्व का बाधक कभी हो नहीं सकता; यदि है, तो वह भी बुद्धि ही है। यदि कहा जाय कि हमारी बुद्धि से अमुक सज्जन विद्वान् ऋषि महर्षि की बुद्धि अच्छी है, मान्य है—तो यह निर्णय भी हमारी ही बुद्धि करती है।

यथैव कश्चित् स्वां छायां नहि लंघयितुं क्षमः,
तथैव नहि कश्चित्स्वां बुद्धिं लंघयितुं क्षमः।

कोई भी अपनी छाया को नहीं डांक सकता, न अपनी बुद्धि को।

विचारस्य खण्डनमपि विचारेणैव क्रियते।

विचार का खंडन भी विचार ही करता है।

यदि कहा जाय कि 'वेद' नामक 'शास्त्र' मानवकृत नहीं है; 'अपौरुषेय' है, तो इस का क्या प्रमाण? यदि कोई प्रमाण कहे जायँ, तो उन प्रमाणों को तोलने, जांचने, मानने, न माननेवाली 'बुद्धि' ही है। और भी, जो लोग वेद को अपौरुषेय मानते हैं वे भी कहते हैं कि मंत्रों को ऋषियों ने देखा; बनाया नहीं, ऋषयो मंत्रद्रष्टारः, न तु कर्त्तारः। इसका अर्थ तो यही है कि ज्ञान के जो भी विषय हैं उन को मनुष्य देखते हैं, बनाते नहीं। आग मे लकड़ी डाल देने से जल कर राख हो जाती है—इस वास्तविक तथ्य को किसी ऋषि ने 'बनाया' नहीं, 'देखा' ही। विज्ञान के सच्चे 'सायंस' के जो भी तथ्य हैं, सब की यही कथा है। और भी; 'वेद' के 'अपौरुषेयत्व' के विषय मे तथाकथित शास्त्रों मे

ही आपस में मतभेद है। मीमांसा-शास्त्र 'ईश्वर' पदार्थ को नहीं मानता, पर वेद को 'अपौरुषेय' मानता है; विपरीत इसके, न्याय-शास्त्र 'ईश्वर' पदार्थ को मानता है, और वेद को 'पौरुषेय' बताता है। और भी; गीता का यह श्लोक अकसर सुनने में आता है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ,

क्या कार्य है, क्या अकार्य—इस के निर्णय के लिये शास्त्र प्रमाण है। इस स्थान पर गीता के पढ़ने वाले के मन में शंका उठ सकती है—

किंतु किं मे प्रमाणं स्यात् शास्त्राशास्त्रविनिर्णये ?

माना कि शास्त्र से निर्णय करो, पर किस शास्त्र से ? कौन शास्त्र है, कौन अशास्त्र है, कौन मानने योग्य है, कौन नहीं ? इस का निर्णय कौन करे ? यहूदियों के लिए 'ओल्ड टेस्टामेण्ट', 'बाइबल' का पूर्वार्द्ध, परममान्य अपौरुषेय ब्रह्मवाक्य है; ईसाइयों के लिए 'न्यू टेस्टामेण्ट', 'बाइबल' का उत्तरार्ध; मुसलमानो के लिए कुरान; बौद्धों के लिए 'त्रिपिटक'; जैनो के लिए 'जैनागमसुत्त', इत्यादि। सभी अपने-अपने को परम महामान्य शास्त्र बताते हैं। कौन निर्णय करे, सिवा अपनी 'बुद्धि' के, कि किस के पीछे चलना, किस के नहीं ? और भी; स्वयं वेदानुयायियों मे बड़े मतभेद हैं, कोई ऋग्वेदी, कोई यजुर्वेदी, कोई सामवेदी, कोई अथर्व-वेदी है; अन्य तीन अथर्व को बहुत अपवित्र मानते हैं, यहां तक कि 'चार वेद' की पंक्ति मे से वह उठा ही दिया गया, और 'त्रिवेदी' ही भारत मे मान्य रह गई; (कोई कहते हैं कि 'ईरानियों', 'ऐर्यानियों', 'आर्यानियों', 'आर्यों', की 'जिंद आविस्ता' नामक धर्म-पुस्तक, अथर्व-वेद का ही रूपांतर है); ऋक् और यजुः वाले, साम को भी अशुचि मानते हैं, यहां तक कि मनुस्मृति के प्रचलित पाठ में भी लिखा है,

सामवेदः स्मृतः पित्र्यः, तस्मात् तस्य अशुचिर् ध्वनिः।

(कहना कठिन है कि यह क्षेपक है या सचमुच मूल ग्रंथ में था)। प्रत्युत इस के, गीता में कहा है, 'वेदानां सामवेदोऽहं'। इस का निर्णय

कौन करे, सिवा बुद्धि के ? 'शास्त्र' माने हुए भिन्न-भिन्न ग्रंथों मे लिखे हुए को ऐसे विरुद्ध वाक्यों की समरसता को, 'अवसर-भेद प्रसंग-भेद आदि कह कर, व्याख्याता लोग, अपनी बुद्धि ही के द्वारा, स्थापित करते हैं। गीता का द्वितीय अध्याय तो एकमात्र 'बुद्धि' के महिमा का गीत है। जितनी बेर बुद्धि शब्द का प्रयोग गीता मे हुआ है, उतनी बेर केवल 'आत्मा' और 'अहं' (मा, मे, मम) का हुआ है; अन्य किसी शब्द का नहीं (अव्ययों को छोड़कर)। महामान्य गायत्री मंत्र मे 'धियो नः प्रचोदयात्', बुद्धियों की प्रेरणा करै, सद्बुद्धि परमात्मा दे—ऐसी प्रार्थना की है; शास्त्र दे—नहीं; सद्बुद्धि मिलेगी तो हम स्वयं शास्त्र बना लेंगे। यह भी वैदिक मंत्र की प्रार्थना है—'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु'; 'शास्त्रेण संयुनक्तु' नहीं; इत्यादि।

और भी, 'वेद-वेद-वेद' एक शब्दमात्र रह गया है। तीस करोर 'हिन्दू' कहलाने वालों मे, क्या तीन हजार भी, क्या तीन सौ भी, ऐसे हैं जो, चारों को जाने दीजिये, एक वेद को भी समग्र, अर्थ-सहित, सांगोपांग, सकल्प, सरहस्य, जानते हैं, जैसा जानने के लिये मनु आज्ञा देते हैं ? डिंडिम बहुत है, पर ढोल मे पोल है। और भी देखिये। यदि हम मान भी लें कि 'वेद-शास्त्र' 'शास्त्र' है, तो वेदों में बहुतेरी बातें परस्पर विरुद्ध लिखी हैं; किस को मानें, किस को न मानें ?

'शास्त्रवादी' कहते हैं कि 'शास्त्रीय' विरोधों का परिहार, 'शास्त्रीय' पद्धति से कर के 'शास्त्रीय' सिद्धान्त का निर्णय करना चाहिये। ठीक है; पर कौन करे ? आपकी और हमारी और सज्जन मित्रों की 'बुद्धि' ही न ? जो दशा 'श्रुति' की (चिरकालीन परम्परा से 'सुनी' हुई बात की), 'वेद' पदार्थ की, है, उस से भी अधिक बिगड़ी दशा 'स्मृतियों' की (वृद्धों द्वारा 'याद' की हुइ बातों की) और अन्य 'धर्म-शास्त्रों' की है। यहाँ तक कि वेदव्यास ने यक्ष-युधिष्ठिर सम्वाद में युधिष्ठिर के मुख से कहलाया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः, श्रुतयो विभिन्नाः
नैको ऋषिः, (स्मृतिकर्त्ता) यस्य वचः प्रमाणं;
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां;
'महाजनो' येन गतः स पन्थाः ।

तर्क की कहीं समाप्ति नहीं; श्रुतियां विविध, परस्पर भिन्न; एक भी स्मृतिकार ऋषि नहीं, जिस की बात मानी जाय; धर्म का तत्त्व तो (मनुष्य की हृदय-) गुहा मे (उस की बुद्धि के प्रेरक आत्मा के रूप मे) छिपा हुआ है। जिस 'महा-जन' समूह मे जनता मे, समाज मे, रहना हो, वह जन-साधारण, 'लोकमत' भूयसीयन्याय से, 'मेजारिटी ओपिनयन', कसरत राय से, जिस रास्ते पर चले, वही रास्ता ठीक है, धर्म है। महाजन शब्द का अर्थ 'महापुरुष', 'बड़ा आदमी', नहीं है; जैसा, भ्रांति से, बहुधा समझा जाता है; अपि तु 'जनता', 'जनसमूह', 'पब्लिक', जो ही अर्थ आज तक गुजराती भाषा मे, इस शब्द का चला आता है। ('मानव-धर्म-सार' मे, इस के समर्थक, कई पुराने संस्कृत ग्रंथों से बहुतेरे उद्धरण दिये गये हैं)। "नैको ऋषिर्यस्य मतं न भिन्नं" ऐसा भी पाठ है; अर्थ वही निकलता है। जितने ऋषि, उतने मत; प्रत्येक ऋषि का मत दूसरों से भिन्न होता है, विवाद-ग्रस्त विषयों मे। जब ऋषियों की प्रामाणिकता, इस प्रकार, संशयित हो गई, तब 'महाजन' शब्द का अर्थ 'महा-पुरुष' कर के, उस को प्रामाणिक निर्णायक कहना, कैसे उचित हो सकता है? क्या ऋषि महर्षि भी 'महा-पुरुष' नहीं? तो और कौन?

बुद्धि ही निर्णायक है

निष्कर्ष यह कि, कितना भी अधिक पूजित वा पूजनीय, 'शास्त्र' नामक कोई ग्रन्थ हो, जब उलझन पड़ती है तब, अन्ततो गत्वा, किसी न किसी मनुष्य की बुद्धि ही उस को सुलझाती है। 'शास्त्र' से ऊपर 'बुद्धि' है; शास्त्र का निर्माण 'बुद्धि' करती है; बुद्धि का निर्माण शास्त्र नहीं

करता। और भारतवर्ष की 'महा-जन-बुद्धि' ने निर्णय कर रक्खा है कि,

शास्ति यत् साधनोपायं चतुर्वर्गस्य निर्मलं,
तथा तद्बाधनापायं, एषा शास्त्रस्य शास्त्रता।
तस्मात्, कौन्तेय !, विदुषा, धर्माधर्मविनिश्चये,
बुद्धिमास्थाय लोकेस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना।
धर्मः प्रतिविधातव्यो बुद्ध्या राज्ञा ततस्ततः।
बुद्धेः समवहारोयं, कविभिः संभृतं मधु।

(म० भा० शां० अ० १४१; १४२)

उत्सर्गेणापवादेन, ऋषिभिः कपिलादिभिः,
अध्यात्मचिंतामाश्रित्य, शास्त्राण्युक्तानि, भारत ! (अ० ३६०)

वही सच्चा शास्त्र है जो मनुष्य को चतुर्वर्ग, अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, चारो पुरुषार्थों के साधन का उपाय, और उनके बाधकों का अपाय (दूर करने का प्रकार) सिखावे, 'शासै'। धर्म क्या है, अधर्म क्या है, इस का निर्णय निश्चय, बुद्धि से कर के, कृतात्मा कृतबुद्धि आत्मवान् स्वावलम्बी स्वयं-प्रज्ञ मनुष्य को लोक-व्यवहार निबाहना चाहिये। राजा का कार्य है कि बुद्धियुक्त 'धर्म' बनावै, ऐसे धर्म का विधान करै, जिस से प्रजा का 'धारण' हो, सब प्रकार का भला हो,

धारणाद् धर्मः इत्याहु, धर्मो धारयति प्रजाः।

इस लिये कपिल आदि महर्षियों ने 'अध्यात्मज्ञान' को, जीवात्मा-रूपी मनुष्य के चित्त और देह की प्रकृतियों के ज्ञान को, अपनी बुद्धि में रखकर, शास्त्र रचे, और उन मे उत्सर्ग अर्थात् सामान्य नियम, और अपवाद अर्थात् उत्सर्गों के बाधक विशेष नियम भी, कहे। जैसे मधुमक्खी शहद इकट्ठा करती है, वैसे ही, कवियों ने, अपनी बुद्धियों से जो तत्त्व-तत्त्व बातें एकत्र कर दिया है, उसी समूह को, अपनी बुद्धियों के समवहार को, शास्त्र कहते हैं। ऐसे शास्त्र का, 'बुद्धि-निश्चित' सिद्धान्त यह है कि,

देश-काल-निमित्तानां भेदैर्धर्मो विभिद्यते,
अन्यो धर्मः समस्थस्य, विषमस्थस्य चापरः ;
न त्वेवैकान्तिको धर्मः, धर्मो हि आवस्थिकः स्मृतः ।
(म० भा० शां०)

देश-काल-निमित्त के भेद से धर्म मे भेद होता है; धर्म ऐकान्तिक, आत्यंतिक, एकाकार, एकरूप, अत्यंत अटल अचल अपरिवर्ती नहीं है; प्रत्युत, आवस्थिक है, अवस्था बदलने से बदलता रहता है। प्रत्यक्ष ही, फ़ौजी सिपाही का धर्म दूसरा, किसान का दूसरा, अध्यापक का दूसरा, दूकानकार का दूसरा; एक ही आदमी का, अच्छे दिनों में दूसरा और मुसीबत के दिनों मे दूसरा। किस अवस्था में क्या धर्म है, इसका निर्णय सात्विकी बुद्धि ही ठीक-ठीक कर सकती है, ऐतरेय आरण्यक मे आख्यानक है कि, जब ऋषि लोग इस लोक से जाने लगे तब मनुष्यों ने उन से पूछा कि अब हम लोगों को, कठिनाई के समय, उपदेश देनेवाला ऋषि कौन होगा; तब ऋषियों ने उन को 'तर्क' दिया, और कहा कि 'यही तुम लोगों का ऋषि होगा'। अर्थात्, तर्क करना बुद्धि का काम है, अपनी बुद्धि पर भरोसा रखो, अपने पैरों पर खड़े हो, दूसरों का ही मुह मत ताकते रहो, यह मत चाहो कि पुराने लोग सदा तुम को गोद मे लिये रहें, अपने लिये समयानुसार, नये-नये शास्त्र रचते रहो। आखिर यूरोपीय मानव, जो भी ब्रह्मदेव के संतान हैं, जैसे भारतीय, पर अधिक बुद्धिमान् हैं, नये-नये आश्चर्यकारी शास्त्र बना ही रहे हैं, जिन के आगे यह सब होम-हवन-यज्ञ आदि का कर्म-काण्ड थोथा लड़कों का खेल जान पड़ता है, जिन के बल से उन की गति वैसी अप्रतिहत हो रही है, जैसी एक ओर रावण आदि की, और दूसरी ओर, कृष्ण, साल्व, आदि की; जिनके बल से ऐसे आश्चर्य के काम कर रहे हैं, जिनके समान कार्य पुराणो मे भी जल्दी नहीं मिलते हैं।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किं ?
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ?

जिस को स्वयं प्रज्ञा नहीं, बुद्धि नहीं, जो विवेक विचार से शास्त्र को पढ़ और जाँच नहीं सकता, उस को शास्त्र से क्या लाभ होगा? जिस को आंख नहीं, वह आईना लेकर क्या करेगा? यह पुराना वाक्य भी परम शास्त्र ही है।

यज्ञो से विश्वशांति नहीं होगी

इस दृष्टि से, ऊपर कहे 'अवांतर प्रश्नो' का उतर क्रमशः यों होता है—(३) शास्त्र क्या वस्तु है? 'सात्विक बुद्धि' से निर्णीत, निश्चित, जीवनोपयोगी, उपकारक बातों का प्रतिपादक ग्रंथ 'सात्विक शास्त्र है'। 'राजस-तामस बुद्धि' से प्रतिपादित, जीवन-व्यवहार-बाधक 'राजस-तामस शास्त्र'। बुद्धि क्या वस्तु हैं? आत्मा की प्रभा है जैसे सूर्य की ज्योति; मनुष्य की वह शक्ति है जो ज्ञान का संग्रह करती है; आगा-पीछा विचारती है, क्या सत्य है, क्या असत्य है, इस का निश्चय करती है, किस कार्य से सुख उत्पन्न होगा, किस से दुःख, क्या मानना या करना चाहिये, क्या नहीं, इस का निर्णय करती है। बुद्धि ही शास्त्र की रचना करती है, यही इन दोनो का, बुद्धि और शास्त्र का, संबंध है। (४) 'शास्त्र' और 'बुद्धि' में जब विरोध होता है तब बुद्धि ही प्रबल ठहरती है, (किसी न किसी की; अन्ततो गत्वा, मानने या न माननेवाले की)। 'शास्त्र' और 'बुद्धि' का विरोध भी दो 'बुद्धियों' का ही विरोध है, अर्थात् शास्त्र-वक्ता-व्याख्याता-समर्थक की बुद्धि; और उस शास्त्र के समीक्षक-परीक्षक-अपलापक की बुद्धि। (५) यदि शास्त्र प्रबल माना जाय, तो भी मुख्य प्रश्न (१) का उत्तर यही होता है कि कोई भी निर्विवाद शास्त्र ऐसा नहीं कहता कि इस प्रकार के होमो-हवनो-यज्ञो से विश्व-शांति सिद्ध होगी, जो ही विश्व-शांति इन का लक्ष्य घोषित किया गया। मै स्वयं कर्मकांड के ग्रंथ अधिक नहीं देख पाया हूँ, पर जानकर पंडितों से पूछने से विदित हुआ कि जिस प्रकार के होम-हवनादि आजकाल किये कराये जा रहे हैं. उन के लिये प्राचीन वैदिक ग्रन्थों मे विधिविधान नहीं है;

"अर्थस्य पुरुषो दासः" की नीति से सभी आदमी, राष्ट्राधीश, जमीदार, काश्तकार, पूंजीपति, डाक्टर, वैद्य, वकील, दूकानदार, वैसे ही कर्मकांडी लोग, अपनी जीविका, अपने रोजगार, की वृद्धि चाहते हैं, और अक्सर अनुचित रीतियों से वृद्धि करते हैं; सो कर्मकांडी लोगों ने इसी हेतु से बहुत से नये-नये कर्मकांड मनमाने गढ़ लिये हैं, और गढ़ते जाते हैं। पर इन मिथ्या प्रकारों से अब बहुत दिन काम चलता नहीं देख पड़ता। बेकारी, बेरोजगारी, दूर करने के, सब को पर्याप्त अन्न-वस्त्र मिलने के, नये और अच्छे सच्चे प्रकार पहिचानिये और चलाइये। सच्ची 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था मे ये सच्चे प्रकार सब विद्यमान हैं। महाभारत के ऐसे युद्ध के निवारण के लिये, कौरव-पांडवों और उनके सहायकों मे शांति-स्थापन के लिये, सर्वज्ञ, सर्व शास्त्र-कारक, महर्षियों ने अन्य प्रकार के बहुत यत्न किये, पर अन्न-घी के यज्ञ नहीं किये। (६) यदि बुद्धि प्रबल मानी जाय, जैसा मानना (ऊपर कही युक्तियों से) अनिवार्य है तब यही उत्तर होता है कि वर्त्तमान अवस्था मे, जब लाखों प्राणी भूख से मर रहे हैं तब अन्न और घी का आग में जलाना, यह पाप ही है। सात्विक-बुद्धि-निर्णीत सद्बुद्धि-प्रेरित सत् 'शास्त्र' ही का कथन है कि

परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नं।

चारो ओर भूखे आदमी पड़े हैं, उन को न दे कर, आग मे अन्न फेंकना यह तो तीव्र 'पर-पीड़न' है।

अन्य शंका

शास्त्रवादियों की कुछ अन्य दलीलों का भी निवारण कर देना उचित होगा। एक 'शास्त्रवादी' सज्जन ने लिखा है कि "आर्य समाजी भाई भी अग्निहोत्र का बड़े बलसे प्रचार करते हैं"। किंतु जहाँ तक मुझे मालूम हुआ, किसी आर्यसमाजी संस्था या व्यक्ति ने, दिल्ली, कानपूर, प्रयाग आदि के 'यज्ञों' का समर्थन नहीं किया, न उन मे किसी प्रकार का भाग लिया। विपरीत इस के, कुछ आर्यसमाजी सज्जनो का छपाया

हुआ एक पत्र मेरे पास आया, जिस में उन्होंने इन यज्ञों पर आपत्तियां कीं। आर्यसमाज की 'अग्निहोत्र-विधि' दूसरी है, सनातनधर्मियों की दूसरी। आर्यसमाजी सज्जन जो दैनंदिन हवन करते हैं, वह तो प्रायः उसी हेतु और उद्देश्य से करते हैं, जिस से लोग अगुरु, लोहबान, गुग्गुल आदि की चुटकी चार अंगारों पर रख कर घर में घुमाते हैं, कि उस के सुगंध और धूएं से हवा साफ़ हो। उस से विश्व-शांति हो जायगी, यह उन का विश्वास नहीं; न वे हज़ारों मन अन्न और घी आग मे जलाते हैं।* शास्त्र-वादी सज्जन लिखते हैं, "वेदोक्त यज्ञ मे, वेदोक्त मंत्रों का उच्चारण करते हुए भगवान् अग्निदेव के मुख में जो आहुति दी जाती है, उस मे तो पाप की कल्पना हो ही नहीं सकती। वेद-स्मृति-पुराणो से प्रतिपादित जो मार्ग हमारे लिये ठहरे, हम को मानना ही चाहिये। जिस यज्ञ को आप बड़ा पाप कहते हैं वह बड़ा पाप किस शास्त्र मे किस प्रकार वर्णित है, कृपया लिखिये"। तो देखिये, स्वयं भगवान् मनु कहते हैं।

> विद्या-तपः-समृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु,
> निस्तारयति दुर्गात् च, महतः च एव किल्बिषात् ;
> नश्यन्ति हव्यकव्यानि, नराणां अविजानतां,
> भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद् दत्तानि दातृभिः (म०३-९७-९८)

विद्या और तपस्या से सम्पन्न जो सच्चे 'ब्राह्मण' हैं, उन के मुख-रूपी अग्नि मे जो हवन किया जाय, वही दुर्गों से, आपत्तियों से, और बड़े पापों से, बचाता है; तपो-विद्या-शून्य, भस्मतुल्य, राखी के ढेर ऐसे ब्राह्मण-

---

* यहां यह लिख देना उचित है कि, मैने आर्यसमाज का साहित्य विशेष रीति से नहीं देख पाया है। स्वामी दयानन्द जी का 'सत्यार्थ-प्रकाश' तथा एक या दो 'संस्कार-विधि' की पुस्तकें, तथा संस्कृत पद्यों में लिखी स्वामी जी की दो जीवनी, पढ़ी हैं। पर इस को भी कुछ काल हो गया, और सब बातें उस की याद नहीं हैं।

नाम-धारियों को नादान मूढ़ आदमी जो दान देते हैं, वह दान सब नष्ट हो जाता है, अपितु पाप बढ़ाता है

न स्कंदते, न व्यथते, न विनश्यति कर्हिचित्,
वरिष्ठं अग्निहोत्रेभ्यो, ब्राह्मणस्य मुखे हुतं। (म० ७, ८४)

योग्य विद्वान्, ज्ञानोपजीवी, तपोविद्या-युक्त, अध्यापक-वृत्ति वाले मनुष्य के (जो ही सच्चा, कर्मणा, 'ब्राह्मण' पदार्थ है) मुख मे हुतं, अन्न का हवन करना, उस को भोजन देना, अन्न-वस्त्रादि से उस का पोषण करना जिस में सत्ज्ञान का प्रचार, शांत स्वस्थ चित्त से, करे—सब अग्निहोत्रों से यह 'वरिष्ठ' है, बहुत बहुत अच्छा है, यह कभी व्यर्थ नहीं जाता, कभी बिगड़ता नहीं। और भी,

शक्तः, परजने दाता, स्वजने दुःखजोविनि,
मध्वापातो विषास्वादः, सः धर्म-प्रतिरूपकः।

(म० अ० ११. ९)

शक्तिमान्, सम्पन्न मनुष्य, अपने दुःखी दरिद्र असम्पन्न बन्धु-बांधव सज्जनों को न दे कर, यदि 'पर-जन' को, परायों को देता है, तो यह धर्म नहीं है, प्रत्युत धर्म का प्रतिरूपक है, झूठी नक़ल है, दम्भ है, पाप है, ऊपर से तो मधु, शहद, के ऐसा जान पड़ता है, पर भीतर विष ही होता है। ऐसे कार्यों के भीतर प्रायः छिपी हुई कोई गूढ स्वार्थी वासना, झूठा विश्वास, लोभ-लालसा रहती है, चाहे स्वर्ग-सुख की ही हो चाहे इसी लोक में वाह-वाही की, और 'हुकूमत के रस' की, कि हमारे इशारे पर हजारों आदमी दौड़ते हैं। एक विद्यमान हिन्दी कवि ने बहुत अच्छा कहा है, 'दस बोतलों का नशा है इस वाह वाह में'। जीव जब तक शरीर मे बंधा है, तब तक लोकैषणा, वित्तैषणा, दार-सुतैषणा, उस को लगी ही रहती है; पर निवृत्तिमार्ग पर पैर रखे हुए जीव को, इन्हें, विपरीत क्रम से, पहिले दार-सुत की, तब वित्त की, तब लोक की, एषणा को, अधिकाधिक छोड़ते ही जाना चाहिए; संन्यासी को लोकैषणा, मान-प्रतिष्ठा की चाह, सब से अधिक सताती है, ऐसी उपनिषदों में

सूचना की है। दांभिक मिथ्या वेशधारी दुराचारियों का तो कहना ही क्या है, सच्चे भी निवृत्ति मार्ग पर चलने का यत्न करने वाले भी, संन्यासी को दार-सुत-एषणा, भी, अपना रूप बदल कर, शिष्य-एषाण, पादपूजक-एषणा, मंडली-ईशता-एषणा के रूप मे घेरती है, और बहुधा गिरा देती है। वित्तैषणा भी मठ-संपत्ति-एषणा का रूप धारण कर लेती है।[1]

लकीर के फ़क़ीर

प्रस्तुत विषय मे, 'अग्निदेव' तो नितरां 'पर-जन' है। आज काल ऐसे यज्ञों के याजक, प्रेरक, अग्रणी, प्राय: ऐसे ही सज्जन देखे जाते हैं, जिन्हों ने सांसारिक ज़िम्मेदारियों से अपने को बचा लिया है; इन में से कोई कोई संस्कृत 'शास्त्रों' के बहुत अच्छे विद्वान् भी हैं। और 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत्'', बिलकुल चुप तो बैठा जाता नहीं, कुछ करने की उत्सुकता इन को होती ही है; पर, खेद है कि, व्यवहार-शोधक, समाज-बोधक, संघता-पोषक, स्वावलम्बन-वर्धक सत्ज्ञान का प्रचार तो ये विद्वान् करते नहीं; मूढ़ग्राहों को ही और दृढ़ करते हैं, 'लकीर के फ़क़ीर' बने हैं, 'लकीर पीटते' हैं; और अपनी और जनता की शक्ति का, श्रम का, धन का, समय का, बुद्धि का भी, अपव्यय करते-कराते हैं। काशी के किन्हीं-किन्हीं घाटों पर दस-दस बीस-बीस आदमियों की टोलियां शाम को बैठ जाती हैं, और "हरे राम, हरे राम, राम,राम, हरे हरे" ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला-चिल्ला कर रटते-रटते सवेरा कर देती हैं; मुझ से, उन घाटों पर रहने वाले आदमियों ने आ कर शिकायत की है, कि 'रात का सोना हम लोगों को हराम हो गया है; ये

---

१. किसी एक व्यक्ति-विशेष पर आक्षेप की इच्छा से ये वाक्य नहीं लिखे गये हैं। एक साधारण अनुगम की ओर, सामान्य बात की ओर, जो इस देश मे, तथा अन्य देशों मे बहुधा देखी जाती है, पाठक के विचार को आकृष्ट करने के लिए।

लोग तो बेकार आदमी हैं, दिन को कहीं सत्र आदि में खा लेते हैं और सोते हैं, रात को धर्मध्वजता दिखाते हैं, और हम लोगों को तकलीफ़ देते हैं; क्या म्युनिसिपैलिटी की, या मजिस्ट्रेट की, ओर से इस को रोकने का प्रबन्ध नहीं हो सकता ?' मैं उन से यही कह दे सकता था कि 'आप स्वयं म्युनिसिपैलिटी या मजिस्ट्रेट से पूछिए; यदि मेरी राय पूछते हो तो यह है कि अपने धर्माधिकारी पंडितों से कहिये कि जनता को उचित शिक्षा दें, कि ऐसा रटना व्यर्थ है'। विष्णुपुराण में लिखा है कि,

स्वधर्म-कर्म-विमुखाः, कृष्ण-कृष्णेतिराविणः'
ते हरेर्द्वेषिणो मूढ़ाः, धर्मार्थं जन्म यद् हरेः।

जो लोग अपना सच्चा धर्म कर्म तो करते नहीं, केवल 'कृष्ण, कृष्ण' की रट का हौरा, दुनिया को अपनी धर्मिष्ठता और कृष्ण-भक्ति दिखाने के लिये, करते हैं, भक्त नहीं; क्यों कि हरि का जन्म तो धर्म सिखाने के लिये हुआ, अपना नाम रटवाने के लिये नहीं।

इस प्रकार से दुनिया को दिखाने के लिये, चिल्लाती हुई 'राम-रट' मे, वा गांव-देहात के 'टोना-टोटका' और हिन्दू मन्दिरों के पुजारियों और मुसलमानी तकियों और मक़बरों की झाड़-फूंक मे, और ऐसे नुमाइशी होम-हवनो मे, तत्त्वतः क्या भेद है ? मेरी समझ मे तो यही भेद है कि इन यज्ञो मे भारी आडम्बर-आटोप होता है, बड़ा मेला लगता है, तमाशाई लोग टूटे पड़ते हैं, चारो ओर मल-मूत्र की गंदगी फैलती है, हैज़ा आदि बीमारी का भी प्रकोप होता है, न रामजी मिलते हैं, न विश्वशांति होती है। इस प्रकार की अन्धश्रद्धा के अन्धाधुन्ध पोषण का ही यह फल है कि साधारण 'हिन्दू-दास' की 'बुद्धि' ऐसी नष्ट हो गई है कि, वैसी ही अन्धश्रद्धा से वे 'गाज़ी मियां की क़बर' और 'इस पीर की तकिया' और 'उस औलिया की दरगाह' पर भी मुंह के बल गिरे पड़ते हैं।

सच्चे हृदय से सच्ची प्रार्थना, परमात्मा, अन्तरात्मा, जगदात्मा से,

एकान्त मे की जाती है, और उस का सुफल, कुछ न कुछ, होता ही है।

विश्व-शान्ति या बुद्धि-भ्रान्ति ?

हे भाई ! महाभारत की कथा देखिये । श्वेतकि राजा ने, बारह वर्ष तक, निरन्तर, अग्निदेव को इतना घी और अन्न पिलाया-खिलाया कि 'अग्नि' को 'मन्दाग्नि' 'अरुचि' का रोग हो गया, यकृत् प्लीहा बढ़ गई, कामला रोग की भी नौबत आई, मुंह और सब शरीर पीला हो गया,

पाण्डुवर्णो, विवर्णश्च, न यथावत् प्रकाशते,
अरुचिः चाऽभवत् तीव्रा, विकारः समजायत ।

पितामह, सब के परदादा जी, ब्रह्मदेव के पास जा कर, अग्निदेव रोना रोये । उन्होंने कहा, बहुत घी और अन्न पीने-खाने का यह फल है; क्यों ऐसा किया ? अब जंगल की लकड़ी और पशुओं की हड्डी चबाओ, यही दवा है; परहेज़ करो ।" सूखे-साखे, दुबले-पतले, नीले-पीले अग्निदेव ने कृष्ण और अर्जुन की खुशामद की, तुम इन्द्र के बादल पानी को दूर रक्खो, तो मै खाण्डव वन को, प्राणियों सहित, खाऊँ-पीऊँ ।" "अच्छा, पर मिहनताना क्या दोगे ?" तो "सर्व-सामग्री युक्त अद्वितीय रथ, गांडीव धनुष, और अक्षय तूणीर, अर्जुन को; सर्वचूर्णनी कौमोदकी गदा तथा सर्वास्त्र-शस्त्र प्रमाथी वज्रनाभ चक्र, कृष्ण को ।" बस, पंद्रह दिन मे (अन्य अध्याय मे इक्कीस लिखा है) अग्नि ने खांडव वन जला डाला, और चंगे हो गये । अग्नि को बहुत अन्न-घी खिलाने से उलटा फल होता है ।

हे भाई ! ज़रा विचारिये ! आप अग्निदेव का, अन्न और घी के अपव्यय से भी, क्या तर्पण आराधना करने चले हो ! कृष्ण और अर्जुन के बल पर तो उन्हों ने एक छोटे से जंगल झाड़ी को, इसी दिल्ली के पास, पाँच हजार वर्ष पहिले, दो या तीन सप्ताह मे जलाया । आज पाँच वर्ष से, हिटलर, चर्चिल, मुसोलिनी, स्टैलिन, तोजो, च्यांग काई

शोक, रूजवेल्ट के सप्तक सत्तारोहण की सहायता से, अग्निदेव, पचासों लाख मनुष्यों की हड्डी-चर्बी; कोटियों कोटिमन लोहा, लकड़ी, कोयला, तेल, खाते-पीते चले आ रहे हैं और तृप्त नहीं होते। आप उन को इस दस-बीस हज़ार मन अन्न और घी की घूस दे कर खुश कर लोगे ?

महाभारत के समय मे तो उनको मंदाग्नि रोग हुआ था, इस समय भस्माग्नि, भस्मक, रोग हुआ है; इस की चिकित्सा (अपेक्षया) मूठी भर अन्न-घी के होम हवनो से नहीं हो सकती। इस के लिये विष्णुदेव की बुद्धिमानी चाहिये। पुराण मे कथा प्रसिद्ध है कि रुद्रदेव जी से यह वर प्राप्त कर के कि जिस के सिर पर हाथ रखूं वह भस्म हो जाय, जब भस्मासुर जी रुद्रदेव के ही सिर पर हाथ रखने चले, और रुद्रदेव जी प्राण लेकर भागते फिरे, तब विष्णुदेव ने भस्मासुर को समझाया कि ज़रा अपने सिर पर अपना हाथ रख के परीक्षा तो लो, कि वर सच्चा है या नहीं, और भोले भाले भस्मासुर ने ऐसा ही किया, और भस्म हो गया। रुद्रदेव जी की जान बची। रुद्रदेव ऐसे घबरा गये कि उनको यह भूल गया कि भस्मासुर को पास आने से पहिले ही त्रिशूल या बाण वा परशु फेंक कर मार डाल सकते थे। सो सूत्रात्मा, अन्तरात्मा, जगदात्मा रूपी विष्णुदेव (विसिनोति व्याप्नोति, जगत्, इति विष्णु:) व्यापक महत्तत्त्व, बुद्धितत्व, ने इस समय, विश्व-युद्ध और अग्निशमन के लिये सुन्दोपसुन्द न्याय का प्रयोग कर रक्खा है। दोतरफ़ा भस्मासुर एक दूसरे के सिर पर हाथ फेर रहे हैं। चीथड़ा रूपी भारत भी, साक्षात् नहीं तो व्यवहित प्रकारों से, जल रहा है।

होम-हवन-यज्ञ के करने कराने वालों ने यही डिंडिम किया था कि 'विश्व-शान्ति' के लिये यह हो रहा है। क्या विश्व-शान्ति हुई ? क्या आप लोग अग्निदेव को राजी कर सके ? क्या उन्हों ने मानव-वसा और पृथ्वी-तैल (पेट्रोलियन) से अपनी जिह्वा, जो नगरों से हज़ारों फुट ऊपर तक आकाश मे लपलपाती हुई दौड़ती हैं, हटा ली ? आप के अन्न-घी-

यज्ञो को समाप्त हुए महीनो हो गये पर विश्व-व्यापी चर्बी-सम्पत्ति-यज्ञ, महा नरमेध, प्रतिदिन बढ़ते हुए वेग से चल रहा है। दूसरे देशों की कथा तो जाने दीजिये। भारत मे ही अग्निदेव ने आप की सेवा-शुश्रूषा से प्रसन्न हो कर, आप के यज्ञो के बाद, १४ अप्रैल, १९४४, को बम्बई मे कैसा ताण्डव किया! हज़ारों मनुष्यों को जान से मारा वा घायल किया, और अरबों, (सैकड़ो कोटि) रुपयों की सम्पत्ति को चाट गये। और छोटे मोटे अग्निकांडों की खबर दैनिकों मे बहुत छपती ही रहती हैं। लाखों रुपयों का कभी अन्न, कभी रुई, कभी तेल, आये दिन स्वाहा होता ही रहता है।

एक सूक्ष्म तर्क

एक 'शास्त्रवादी' लिखते हैं कि "जब भूख से लाखों प्राणी मर रहे हैं, ऐसे ही कठिन समय में शास्त्र ऐसे यज्ञो का प्रतिपादन करता है; उन सर्वज्ञ महर्षियों की बात ठीक मानी जाय या आप की? जैसे अकाल मे खेत बोते समय, मिट्टी मे गोधूम आदि बखेरते हुए देख कर, कोई अबोध बालक कहे, 'मेरे पिता अन्याय कर रहे हैं', इसका क्या उपाय है?"

इस पर यह वक्तव्य है कि, पहिले तो इसी का ठीक पता नहीं कि ऐसे यज्ञो का विधान किसी प्राचीन महर्षि ने लिखा; हाँ, आजकाल सभी काषायधारी, वेषधारी, लोग, महर्षि, महात्मा कहे जाते हैं—यह बात न्यारी। दूसरे, यदि किन्हीं महर्षियों ने लिखा भी, तो जिन्हों ने यह यज्ञ-विधान पोथियों मे लिखा, वे 'सर्वज्ञ' महर्षि थे, इसका क्या प्रमाण? और अकाल के समय मे भी खेत मे गोहूँ बोने के पीछे अच्छी फ़सल हुई, इसका तो प्रत्यक्ष प्रमाण मनुष्यों को, हज़ारों वर्ष से, प्रति वर्ष मिलता चला आ रहा है; ऐसे यज्ञ से विश्व-शान्ति हुई, इसका एक भी प्रत्यक्ष प्रमाण मनुष्यों को कहीं मिलता है? या किसी इतिहास पुराण मे मिलता है? इन ग्रन्थों मे तो यही देख पड़ता है कि आसुरी प्रकृति वालों के उपद्रवों से उत्पन्न घोर अशान्ति की शान्ति तभी हुई जब 'अवतारों' ने दंड का प्रयोग किया, यज्ञो का नहीं। "स्वर्गकामो यजेत"

वा 'पुत्रकामः', 'धनकामः', 'राज्यकामः', 'जयकामः' आदि किसी विशेष स्वार्थ की पूर्ति के लिये ही प्रायः यज्ञो का विधान है। "प्रत्यक्ष-परा प्रमितिः" "प्रत्यक्ष-पराणि प्रमाणानि" "नहि श्रुतीनां शतं अपि घटं पटयितुं ईष्टे"। सब प्रमाणो की जड़ बुनियाद 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है, जब पहिले महानस, अग्नि, धूम, पर्वत, प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं, तब "पर्वतो वह्निमान्, धूमात्" यह अनुमान चलता है। हमारे सामने घट रखा है, हम देख रहे हैं कि यह घट है, यदि सौ श्रुति, सौ वेद के वाक्य, आ कर कहें कि यह घट नहीं पट है, तो उन की बात सुनी-मानी नहीं जा सकती। वाचस्पति मिश्र ऐसे परमप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् ने, शंकर-भाष्य की अपनी टीका 'भामती' मे यह वाक्य लिखा है। कोई शास्त्र आठ प्रकार के प्रमाण मानते हैं, कोई पाँच, कोई चार, कोई तीन, कोई दो, कोई एक ही। ऐसा कोई शास्त्र नहीं जो प्रत्यक्ष प्रमाण को न मानता हो। 'नास्तिक' चार्वाकदर्शन भी, जो अन्य किसी प्रमाण को नहीं मानता, एक ही प्रमाण को मानता है, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता ही है। मनु (१२ अ० १०५ श्लोक) मे लिखा है—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमं,
त्रयं सुविदितं कार्यं, धर्मशुद्धिं अभीप्सता।
केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिश्चयः,
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥

(१२-११३, कुल्लूक-टीका)। पहिले प्रत्यक्ष से, तब अनुमान (तर्क, युक्ति, बुद्धि) से, तब विविध शास्त्रों से, जाँचने से ही शुद्ध धर्म का निश्चय हो सकता है; केवल शास्त्र का आसरा करने से, युक्तिपूर्वक विचार किये बिना, धर्म की हानि होती है। वेदव्यास ने महाभारत मे लिखा है,

सर्वः सर्वं न जानाति, सर्वज्ञो नास्ति कश्चन।

सब ज्ञान किसी एक मनुष्य के पास नहीं है, सचमुच 'सर्वज्ञ' कोई भी नहीं है।

पुराने समय मे भारत तथा चीन, ईरान, ग्रीस, रोम आदि 'पवित्र' देशों मे किस प्रकार के 'सर्वज्ञ' महर्षि रहे, यह तो हमको निश्चय से मालूम नहीं, पर आजकाल हमारी आँख के सामने यूरोप अमेरिका मे; सर्वज्ञ नहीं तो बहु-ज्ञ महर्षि प्रत्यक्ष हो रहे हैं, जिनके विज्ञान के बल से मनुष्य, स्थल-जल-अनिल तीनों मे अप्रतिहतगति से, महावेग से, दौड़ रहे हैं; आजकाल के प्रत्यक्ष 'महर्षि' तो ये ही हैं जो "श्रुति-प्रत्यक्ष-हेतवः", सुनी बातों को, पुराणो की, और 'सहस्र-रजनी-चरित्र' (अलिफ़-लैला) की, बातों को कर दिखाते हैं, और अन्न-घी के यज्ञो मे ही मग्न रहने वालों के ऊपर राज करते हैं। दुःख इतना ही है कि दुर्बल-पीड़क हैं। इस लिये दैत्यवत् हो रहे हैं, नहीं तो देववत् पूजे जाते। भारत-वर्ष मे तो कितने ही लोग इस प्रकार की कुछ भी शक्ति, कुछ भी सिद्धि, न रखते हुए, केवल वाक्छल के बल अपने को 'मही-देव' बताते और पूजा पाते हैं।

यज्ञ की करतूत

शास्त्रवादी सज्जन ने गीता के अ० ३ श्लोक १४ का हवाला दिया है; और "अन्नाद् भवन्ति......" ये दो शब्द भी लिख दिये हैं। यह भी लिखा है कि "अनेक संस्कृत भाष्य मैने देखे; महात्मा तिलक-कृत गीता-रहस्य भी; सब ने एक मत से अग्नि में हवन करना ही अर्थ किया है"। अच्छा माना, पर उस श्लोक को पूरा पढ़िये,

अन्नात् भवंति भूतानि, पर्जन्याद् अन्नसम्भवः,
यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, यज्ञः कर्मसमुद्भवः।

अन्न से भूतानि, प्राणी, मनुष्य, जीव-जन्तु होते हैं, बादल से अन्न, यज्ञ से बादल, और कर्म से, हाथ पैर चलाने से, वेद मे लिखे कर्मकांड के अनुसार कार्य करने से, यज्ञ होता है; जैसे आयुर्वेदाचार्यों, धन्वंतरि-दिवोदास, सुश्रुत, पुनर्वसु, अग्निवेश, चरक आदि ऋषियों की लिखी विधि के अनुसार कर्म करने से रोगनिवारक औषध बनते हैं। सो आप मान सकते हैं कि आप के यज्ञ से बादल हुआ; पर अन्न तो

नहीं हुआ। मार्च मास, १९४४ ई० के अन्त ने, भारत मे, बहुत जोर से पानी के साथ ओला पत्थर भी बरसा, जिस की चर्चा कृष्ण ने गीता मे नहीं की है, और ऐसे कुसमय गिरा कि जो अन्न खेत मे खड़ा था वह भी नष्ट हो गया। यह हुई 'यज्ञ' की करतूत। यज्ञ-संचालकों ने विश्वशांति का डिंडिम किया; हुई करका-क्रान्ति और अन्न-नाश-जनित अधिक अशांति। 'शास्त्र' के तात्विक आशय और प्रयोग मे भ्रांति का यह दुष्फल है।

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तं अर्थम् आह,
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथा इन्द्रशत्र; स्वरतोऽपराधात्।
(निरुक्त)

होम करने वाले सैकड़ों 'ऋत्विक् सज्जन जो दिल्ली, कानपुर, आदि मे एकत्र हुए, उन को तपोविद्या में क्या योग्यता थी, इस का मुझे निजी ज्ञान तो नहीं है, पर काशी के ही कई पंडितों से जो सुना वह कुछ सन्तोषकारक नहीं था।

रोग का रूप और निदान जाने बिना औषध का प्रयोग, वह भी कच्चे औषध का कच्चे वैद्य के हाथ से, हानिकारक ही होगा, रोग को बढ़ावेगा, घटावेगा नहीं। वर्तमान विश्व-उपद्रव, मानव-जगत-व्यापक उपप्लव-विप्लव, गवर्मेण्टों की आज्ञा से अन्न-वस्त्र का युद्धरूपी घोर आसुर यज्ञ मे ही होम हवन, तथा काग़ज़ी सिक्का छाप-छाप कर मिथ्या धन की बेहद वृद्धि, और उस से आवश्यकीय वस्तुओं के मूल्यों मे दिन-दूनी रात चौगुनी महगी—इस सब का निदान कारण राष्ट्रों के शासकों, नायकों, कोटपतियों, का अपरिमेय लोभ, ऐश्वर्य-तृष्णा, ऐयाशी, संघर्ष और सब देशों मे समाज की नितांत दुर्व्यवस्था, सैकड़ों की अति धनाढ्यता और कोटियों (करोरों) की अति दरिद्रता है। इस दारुण रोग का औषध एक ही है—समाज का पुनः सुव्यवस्थापन, 'कर्मणा वर्णः, 'वयसा आश्रमः' के सिद्धांत के अनुसार। इसी एक मंत्र से, इसी एक यज्ञ से, यह रोग साध्य है दूरी-कार्य है। हे भाई! इसी मंत्र

को, जो वैदिक सनातन आर्य मानव वर्णाश्रम धर्म का सार है, स्वयं अर्थ-भावन-सहित जपो; और चारो ओर, समग्र भारतवर्ष, मे इसी का जप और अर्थभावन कराओ, तथा तदनुसार आचरण करो कराओ। तब विश्व-शांति होगी; आग मे तिल और जौ आदि डालने से, और रुद्रादि देवता के कुछ वैदिक मंत्रों को ऊँचे स्वर से पढ़ने से नहीं होगी। इन विश्वयुद्धों और घोर साम्प्रदायिक कलहों की आपत्तियों को, लक्षणों से वा अन्तरात्मा जगदात्मा की सूचना से, आते जान कर, कुछ लोग, भारत मे आज से प्रायः ५० वर्ष पहिले से, 'कर्मणा वर्णः; वयसा आश्रमः; (बुद्धियुक्तो) धर्मो धारयति प्रजाः' की आवाज़ उठा रहे हैं और हिन्दू धर्म कहलाने वाला धर्म क्या वस्तु है, उस का तात्विक रूप और मर्म क्या है, इस को काशीस्थ 'सेण्ट्रल हिन्दू कालिज' के ऐसी संस्थाओं के द्वारा, जनता को समझाने का यत्न कर रहे हैं। पर हमारे अभागे देश मे अभी तक इसकी सुनाई और समझ नहीं हुई। हरीच्छा!

शास्त्रवादी सज्जनो ने एक बहुत बारीक तर्क किया है। लिखते हैं कि "गीता के चतुर्थ अध्याय मे अनेक प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं, 'द्रव्य-यज्ञास्तपोयज्ञा......' और सब से श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ बताया है, 'ब्रह्मार्पणं, ब्रह्महविः......'। परन्तु ज्ञानयज्ञ गौण यज्ञ है; मुख्य यज्ञ वही है जो प्रत्यक्ष अग्नि मे वेद-मंत्रों से आहुति दी जाय।...सब से श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ कहा है किंतु उस यज्ञ को उपमान बनाया है, जिस को आप पाप कहते हैं।...जब किसी को सिंह की उपमा दी जाती है, 'सिंहो माणवकः' तब बालक उपमेय है, सिंह उपमान है; उपमान मे, उपमेय से, अधिकता निश्चय से स्वीकार करनी होती है।"

जिस सज्जन ने यह तर्क किया है, वे निस्संदेह विद्वान् हैं, संस्कृत-ग्रंथों पर परिश्रम किये हैं, पर उन के विचारों को पढ़ कर यह अनुमान होता है कि उन्हों ने संस्कृत ग्रंथों के साथ-साथ यूरोपीय इतिहास के चुने-चुने थोड़े से भी ग्रंथों की ओर दृष्टि नहीं डाली। श्लोक प्रसिद्ध है, महाभारत मे तथा अन्य स्थलों मे भी मिलता है।

इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेद्;
बिभेति अल्पश्रुताद् वेदो, मां अयं प्रतरिष्यति ।

वेद' के तात्विक अर्थ को 'इतिहास' और 'पुराण' के ज्ञान से उपबृंहित कर के समझने का यत्न करे, तभी ठीक समझेगा । जो अल्प-श्रुत हैं, बहु-श्रुत नहीं हैं, इतिहास का, पुराण का, विविध शास्त्रों का ज्ञान नहीं रखते, उन से 'वेद' डरता है, कि ये मेरे अर्थ का अनर्थ कर डालेंगे, मुझ को धोखे मे डाल देंगे । यूरोप मे भी ईसाई मत के भीतर सैकड़ों सम्प्रदाय, परस्पर कलहायमान, समय-समय पर उत्पन्न होते रहे हैं; जैसे हिन्दू धर्म के भीतर, वैसे उन के विद्वान् भी, ऐसी ही सूक्ष्म दलीलों से, बाल की खाल निकालते हुए, एक-दूसरे के मतों पर आक्षेप करते रहे, और जबानी-खंडन करते-करते, हाथ-पैर से, शस्त्रास्त्र से परस्पर मारण-दारण करने लगते थे । भारत के इतिहास मे भी बौद्ध, जैन, कुमारिल, शंकर आदि की 'दिग्विजय' यात्राओं के संबंध मे ऐसी ही किवदंती चली आती है कि जो पक्ष दुर्बल पड़ता था उस को खौलते तेल के कटाह मे डाल देते थे, सूली पर चढ़ा देते थे, इत्यादि । यूरोप का इतिहास तो दूर रहा, भारत के भी, मुसलमानी राज से पहिले के, हिन्दू-राज के इतिहास की ओर हिन्दुओं का ध्यान नहीं गया, न अब भी, संस्कृत-विद्वन्मंडली मे जाता है । पर यूरोप के प्रामाणिक इतिहास से यह जान पड़ता है कि मतभेद और विवाद-जनित विद्वेष से साम्प्रदायिकों ने, अपने-अपने सहायक राजाओं के द्वारा, हजारों विरोधियों की हड्डियाँ एक-एक कर के जीते-जी तुड़वाईं, हजारों को जिन्दा जला डाला, और तरह-तरह की यातनाओं से मरवा डाला; तो भारत मे भी ऐसा होना अजब नहीं, और हुआ ही; शंकर के साथ, सुधन्वा राजा, सेना सहित, चलते थे, उन के संबंध मे भी, यथा मगध के गुप्त वंश के सम्राट् स्कंदगुप्त के भी संबंध मे, यह श्लोक प्रसिद्ध है,

आसेतोः आहिमाद्रेश्च बौद्धान् आवृद्धबालकान्
यो न हंति स हंतव्यः—भृत्यान् एवं सः आदिशत् ।

रामजी की सेना के बनाये समुद्र के सेतु से लेकर हिमालय-तक, जो मनुष्य वृद्ध और बालक तक बौद्धों को मार डालने मे हिचके उसको भी मार डालो, और बौद्धों को तो मारोही।

जो सज्जन, रामायण महाभारत को छोड़, दूसरे उन से अर्वाचीन इतिहासों को इतिहास ही नहीं मानते, और उनका पढ़ना निंद्य समझते कहते हैं, वे उपनिषद् मे ही कही कथा का स्मरण करें। जनक राजा की सभा मे याज्ञवल्क्य और शाकल्य का शास्त्रार्थ हुआ; याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को शाप दिया, 'मूर्धा ते निपतिष्यति', शाकल्य का सिर टूट कर गिर गया, और याज्ञवल्क्य जी एक सहस्र गाय को जिन्हें राजा जनक ने शास्त्रार्थ मे जीतने वाले के लिये इनाम रक्खा था, हांक ले गये। मालूम नहीं मौखिक शाप ही से सिर टूटा, या पुस्तक के पन्ने रखने के बाँस के चोंगे के प्रहार से। जो हो, विद्यारण्य ने, 'जीवन्मुक्ति-विवेक' नामक अपने ग्रंथ मे, याज्ञवल्क्य के इस दुष्कर्म की बहुत निन्दा की है। हाँ, एक और व्याख्या हो सकती है जिस की ओर उपनिषत् के व्याख्याता आचार्य पंडितों का ध्यान नहीं गया है, अर्थात् यह कि याज्ञवल्क्य ने यही कहा था कि 'शास्त्रार्थ मे हार जाओगे तो तुम्हारा सिर नीचा हो जायगा, लज्जा से' और ऐसा ही हुआ होगा। जनक के राजा होते हुए, उन के सामने, भरी सभा मे, एक ब्राह्मणब्रुव दूसरे ब्राह्मण को मार ही डाले, यह मन मे नहीं बैठता; यदि ऐसा सचमुच हुआ, तो वेदांती राजा भी और वेदांती महामहर्षि भी, सच्ची सभ्यता के मानदंड से असभ्य ही थे, गुण्डों की कोटि मे थे; और यदि केवल शर्माशर्मी की बात थी, जैसा मैं विश्वास करता हूँ, तब भी वेदांतब्रुवों को ऐसा विवाद शोभा नहीं देता। हाँ. याज्ञवल्क्य सदा से उद्दंड प्रकृति के रहे, अपने गुरु से लड़े, नया वेद भी कहीं पाये और लाये, या बना डाला। वह सब समय ही दूसरा था। धृतराष्ट्र की राजसभा में, ऋषियों महर्षियों के, और भीष्म, द्रोण कृप आदि के सामने दुर्योधन की आज्ञा से दुःशासन जी, अपनी भ्रातृजाया द्रौपदी को, बाल पकड़ कर खींच लाये, और उस का कपड़ा उतारने

लगे; कौरव-पांडवों के जन्म और विवाह आदि की कथा भी अद्भुत है; यह सब धर्म-शास्त्र-भूत महाभारत 'इतिहास' मे लिखा है। अर्वाचीन इतिहास को 'पंडित-मण्डल' क्यों तिरस्कार्य समझता है, और 'महा-भारत' की पोथी के आगे साष्टांग दण्डवत् करता है, मालूम नहीं।

किन्तु उक्त साम्प्रदायिक हुज्जतों से, जनसाधारण का, प्रजा का, न यूरोप में कोई उपकार हुआ, न भारत मे; प्रत्युत, बहुत अपकार हुआ, अन्धश्रद्धा, मूढ़ग्राह, धर्माभास ही बढ़ते-फैलते गये, हज़ारों-लाखों के प्राण गये, धन-जन का बहुत विनाश हुआ। यदि यह सब मनोबल और देहबल प्रजा के उत्कर्ष के कामो मे लगाया जाता, तो उन के प्रत्येक अङ्ग मे कितनी शोभा और समृद्धि आ गई होती; सारा भूतल सुन्दर भवनों से सुशोभित, हरा-भरा, लहलहाता उद्यान हो जाता। अस्तु।

सब से बढ़ कर आत्मज्ञान

उक्त सूक्ष्म तर्क का तो अर्थ यही होता है कि, कृष्ण ने 'ज्ञानयज्ञ' को सब से श्रेष्ठ बताया, सो ग़लत बताया, ठीक नहीं कहा; ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ नहीं; तत्त्वतः द्रव्ययज्ञ ही, अग्नि मे हवन ही, श्रेष्ठ यज्ञ है; ब्रह्म, परमात्मा गौण, है; अग्नि, मुख्य और श्रेष्ठ है। यदि आपका 'शास्त्र' यही कहता है तो आपके लिये अवश्य ऐसा ही होगा। हम लोग तो परमात्मा की अनन्त विभूतियों मे से अग्नि को एक विभूति ही मान सकते हैं। कृष्ण ने कई बेर इस आशय के शब्द कहे हैं, "श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः, परन्तप !" यह भी अति स्पष्ट कहा, "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि"; पतञ्जलि ने योगसूत्र मे 'जप' का अर्थ बताया है "तज्जपस्तदर्थभावनं"; और गीता के अन्त मे, पुनर्वार-कृष्ण ने कहा कि "हमारे-तुम्हारे इस संवाद को, जो सावधानी से पढ़ेगा, जो इस का अध्ययन करेगा, वह 'ज्ञान-यज्ञ' से मेरा, परमात्मा का, भजन करेगा, 'ज्ञानयज्ञेन तेन अहं इष्टः स्यां, इति मे मतिः"। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी स्पष्ट कहा है,

> इज्या-ऽऽचार दम-अहिंसा-यज्ञ स्वाध्याय-कर्मणां,
> अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनं। (अ० १, श्लो० ८)

भगवान मनु ने भी कहा है—

सर्वेषामपि चैतेषां आत्मज्ञानं परं स्मृतं,
तद्धि अग्र्यं सर्वविद्यानां, प्राप्यते हि अमृतं ततः।
(अ० १२, श्लोक ८५)

सब धर्म-कर्मों से बढ़ कर आत्म-ज्ञान है; वह मुख्य है; गौण नहीं। अति कर्मकांड की तो कृष्ण ने गीता मे स्पष्ट शब्दों मे निन्दा की है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति अविपश्चितः
'वेद-वाद'-रताः, पार्थ !, नान्यदस्तीतिवादिनः; इत्यादि।

भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के इक्कीसवें अध्याय मे गीता के इन श्लोकों का परिबृंहण किया है।

कामिनः कृपणाः लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः,
अग्निमुग्धाः, धूमतान्ताः, स्वं लोकं न विदन्ति ते।
न ते मां, अंग !, जानन्ति हृदिस्थं यः इदं यतः,
उक्थशस्त्राः ह्यसुतृपो, यथा नीहारचक्षुषः।

'वेद-वाद-रत लोग, वेद-वेद-वेद, शास्त्र-शास्त्र-शास्त्र, पुकारने वाले लोग, जो लच्छेदार, फूल-पत्ती-बेल-बूटा-दार बातें कहते हैं, कि इन यज्ञों के सिवा कोई और साधन है ही नहीं, वे अविपश्चित् हैं, नासमझ हैं, ये बातें भुलावा देने की बातें हैं; जो अग्नि पर मुग्ध हैं, जिन की आँखें धुएं से ढक रही हैं, वे मुझ को, परमात्मा को नहीं पहिचान सकते'। उपनिषदों मे भी यही बात कही है—"प्लवाः एते हि अदृढ़ाः यज्ञ-रूपाः" (मुंडक) 'ये कर्मकांडी यज्ञ सब टूटी नौका के ऐसे हैं, इन से उत्तम कार्य-सिद्धि नहीं'।

बुद्धि की शरण लो

सब का निश्च्योत निचोड़ यह है कि बिना 'बुद्धि' की शरण लिये काम नहीं चलता। यदि 'शास्त्र' शब्द ही पकड़ा जायगा, तो फिर अन्न और घी के ही 'यज्ञ' से संतोष क्यों ? अज-मेध, महिष-मेध, गो-मेध,

अश्व-मेध, नर-मेध भी क्यों नहीं ! सभी तो शास्त्र-विहित, वेद-विहित, हैं । और आज भी सनातन धर्म के, वेदशास्त्र के, श्रद्धालु 'हिन्दू' लोग काशी ऐसे मुख्य तीर्थस्थान मे ही, दुर्गा-मन्दिर में 'अज-मेध', और पास ही विन्ध्याचल मे 'महिष-मेध', आये दिन करते ही हैं, यद्यपि वेद-विहित आडम्बर के बिना । 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' यह भी वेद-विहित है । और यहीं समाप्ति क्यों ? वाम-मार्ग के उपासक अपने वाम-तंत्रों को महत्तम 'शास्त्र' बखानते हैं; उन के शास्त्र को भी शास्त्र मान कर पंच-मकार की सेवा क्यों न की जाय ? उन के शास्त्र को शास्त्र मानने को आप तैयार हैं ? यदि नहीं, तो क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देने का यत्न जब आप करेंगे, तब आप को विदित हो जायगा कि बुद्धि की शरण लेने के सिवा आप को कोई दूसरा उपाय नहीं।

हिन्दुओं की ढाई हज़ार जाति, उपजाति, उपोपजाति, उपोपोप-जातियों मे से प्रत्येक का अपना 'शास्त्र' अलग है*; भोजन के विषय में, विवाह के विषय में, दायभाग के विषय मे, अनन्त भेद हैं; सभी शास्त्रीय हैं; मनु ने आठ प्रकार के विवाह और बारह प्रकार के पुत्र कहे हैं; शास्त्र-वादी सज्जन इन मे से किन को शास्त्रीय मानने को तैयार हैं ?

* नवम्बर १९४४ के 'दि जर्नल आफ़ दि गंगानाथ रिसर्च इंस्टिट्यूट, (इलाहाबाद) के अंक मे, महाराष्ट्र, बरार, नागपुर, कर्णाटक आदि में फैली हुई 'साली' और 'पद्मसाली' और उन की अवांतर पर-स्पर अविवाह्य उपजातियों की चर्चा की है, और "साली-महात्म्य-पुराण" और 'मूलस्तम्बी-साली-माहात्म्य-पुराण' की भी, जिन को भानुदास ने १२१३ ई० के आस पास रचा, तथा गागाभट्ट रचित 'कायस्थ-धर्म-प्रदीप' की भी । थोड़े मे, बात यह है कि हिन्दू शास्त्र, पुराण, स्मृति, जाति, वर्ण आदि सब नितांत रोगग्रस्त, सदर्थ-रहित, दुरर्थ-पूर्ण-हो गए हैं। इन सब का आपाद-आमस्तक पुनः संस्करण, कायकल्प, हुए बिना, इन का जीते रहना असम्भव हो गया है ।

दाय के लिये मिताक्षरा कुछ कहती है, दत्तक-मीमांसा कुछ, जीमूतवाहन का मत कुछ है, अपरार्क का कुछ, दक्षिण मलाबार के नांबूदिरि श्रोत्रिय ब्राह्मणों का कुछ और ही, नितांत भिन्न; सभी शास्त्रीय हैं। 'शास्त्र-वादी' सज्जन किन का अनुकरण करते हैं ?

शास्त्रवादी सज्जन ने लिखा कि 'दिल्ली कानपुर के यज्ञो में लाखों भाई बड़े कष्ट कर सम्मिलित हुए; क्या सभी मूर्ख हो सकते हैं ?" बुद्धि-वादी सज्जन ने उत्तर दिया, "तो फिर ऐसा भी आप क्यों न कहें कि करोड़ों आदमी शराब पीते हैं वे क्या मूर्ख हैं ? किसी काम को लाखों करोरों आदमी करते हैं, केवल इस से वह धर्म नहीं बन जाता।" शास्त्रवादी ने प्रत्युत्तर दिया, "मद्य पीना भी शास्त्र-सम्मत है क्या ? यदि आप ने कहीं देखा हो तो लिखिये। आप के इस दृष्टांत से मैने यही लिया कि आप की सम्मति मे लाखों अज्ञो की सम्मति का मूल्य नहीं है, तत्वज्ञ थोड़े भी हों फिर भी उन की सम्मति का मूल्य है; यदि ऐसा ही है तो सर्वथा मान्य है, अन्यथा यज्ञ के उदाहरण मे मद्य का दृष्टांत तो परिहासास्पद है।"

'थोड़े भी तत्वज्ञों की सम्मति मान्य है; लाखों अज्ञो की सम्मति नहीं'—यह कहना तो 'बुद्धिवाद' को स्वीकार करना है; क्योंकि तत्वज्ञता तो बुद्धि ही से साध्य है, विवेक का, सत्य-असत्य के विवेचन का, फल है, जो विवेचन बुद्धि का कार्य है। मनु की आज्ञा ही इन्हीं शब्दों में है।

एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः,
स विज्ञेयः परो धर्मो, न अज्ञानां उदितः अयुतैः।

(अ० १२ श्लो० ११३)

एक भी सच्चा तपो-विद्या-युक्त विद्वान्, वेद-वेदान्त का मर्म जानने वाला, जो निर्णय कर दे, उस को धर्म मानना चाहिये; दस हज़ार भी अ-ज्ञ, अनजान, जो कहें वह नहीं।

किन्तु जब शास्त्रवादी ऐसा मानें, तब 'लाखों भाई यज्ञ मे सम्मिलित

हुए, क्या सब मूर्ख थे' ऐसा उन का कहना-पूछना, बेकार हो जाता है। विदुरनीति मे कहा है।

> द्वावेव, पुरुषव्याघ्र, परप्रत्ययकारिणौ !
> स्त्रियः कामितकामिन्यः, मूर्खाः पूजितपूजकाः;
> गतानुगतिको लोको, न लोकः पारमार्थिकः।

यदि एक स्त्री ने किसी पुरुष की सराहना, कामना की, तो और बहुत सी स्त्रियाँ उस की ओर दौड़ीं, (जैसे कृष्ण की ओर गोपियाँ), यदि एक पुरुष ने किसी की पूजा प्रशंसा की, कि अमुक बड़े संत-महंत हैं, तो झुन्ड के झुन्ड उन की पूजा करने के लिए टूट पड़े; इस प्रकार के जीव 'पर-प्रत्यय-कारी', दूसरे की बुद्धि से चलने वाले होते हैं, अपनी बुद्धि नहीं रखते।

बहुत वर्ष हुए काशी के बड़े प्रतिष्ठित, सच्चे बहुज्ञ विशेषज्ञ विद्वान्, स्वामी मनीषानन्द से, पहिले पहिले यह श्लोक सुना।

> घटं भिंद्यात्, पटं छिंद्याद्, उत्पतेन्निपतेद् अपि,
> येन केन प्रकारेण विख्यातिं प्राप्नुयान् नरः।

घड़ा फोड़ै, कपड़ा फाड़ै उपर-नीचे उछलै-कूदै, और प्रकार न बन पड़ै तो इसी प्रकार से ख्याति तो लोक मे हो; इस के साथ टीका रूप से इतना और उन्होंने कहा कि जो 'सन्त' 'साधु' लोग 'सिद्ध' बनना चाहते हैं, वे पहिले 'साधकों' को एकत्र करते हैं, जो उन की 'योग-सिद्धियों का', 'महात्मता' का, महिमा चारो ओर गाते फिरते हैं; तब, "मूर्खाः पूजित-पूजकाः' के न्याय से भीड़ उन के चारों ओर छोटा-मोटा उपहार, भेंट-पूजा, ले कर दौड़ने लगती है। उक्त 'श्लोक', 'श्लोक' होने के नाते, स्यात् 'शास्त्र' ही होगा ! मैने स्वामी जी से पूछा नहीं; पर उस के बाद कई पंडितों से, विशेष कर पद्मनाभ शास्त्री जी नैयायिक के मुख से, जो, स्पष्टवक्ता प्रसिद्ध थे, वह श्लोक अक्सर सुना; आज काल 'सिद्ध-साधकता', 'प्रोपेगेंडा', का परिष्कार और विस्तार, पश्चिम की नक़ल करके भारत में भी, नये-नये प्रकारों से बहुत हो रहा है; 'धर्म'—'मज़हब' के क्षेत्र मे भी,

राजनीति-'पालिटिक्स' के क्षेत्र मे भी, रोजगार-अर्थ-वार्ता-'ईकोनामिक्स' के क्षेत्र मे भी।

अर्थस्य पुरुषो दासो, नार्थो दासस्तु कस्यचिद्। (म० भा०)

घूम फिर कर सभी आदमी 'अर्थ' के गुलाम हैं; 'अर्थ' किसी का गुलाम नहीं। सब लोग अपना-अपना मतलब साधने के लिये, झूठी सच्ची 'प्रोपेगेंडा' की, विज्ञापन-'एडवर्टिज़मेंट' की, इतनी धूम मचा रहे हैं कि साधारण जनता बिलकुल विक्षिप्त हो रही है; सत्य और मिथ्या का विवेक करना नितान्त कठिन हो गया है। इस अभागे भारतवर्ष मे पर-प्रत्यय-कारिता' को, स्वार्थी होशियार लोगों ने इतनी बढ़ाई है—'पोथी मे लिखा है, इस को नहीं मानते तो नरक मे जाओगे, और मानो तो स्वर्ग पाओगे'—ऐसा कह कह कर, कि हिन्दुओं की प्रकृति का वाचक शब्द 'भेड़ी-धँसान' प्रसिद्ध हो गया है। ग्रहण तो, महावारुणी तो, लघुवरुणी तो, कुम्भ तो, अर्ध-कुम्भी तो, सोमवती अमावास्या तो, एकादशी तो, फ़लानी षष्ठी तो, ढिकानी अष्टमी तो, यह पर्व तो, वह पर्व तो, नित्य कहीं-न-कहीं, अत्यधिकांश अनपढ़ आदमियों की भीड़ लदी पड़ती है; गंदगी और बीमारी बढ़ती है। यह पूजित-पूजकों का प्रत्यक्ष दैनंदिन उदाहरण है। काशी आदि सभी तीर्थस्थानों की भारी दुर्दशा, ऐसे ही कारणो से हो रही है।

शास्त्रवादी सज्जन पूछते हैं कि, "शराब पीना भी शास्त्रसम्मत है क्या?" बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि, जिनको लोग 'शास्त्र' मान रहे हैं वे शास्त्र शराब के लिए सम्मति देते हैं। मद्य के, किन्हीं स्मृतियों मे ग्यारह, किन्हीं में बारह, भेद कहे हैं; गौड़ी, माध्वी, पैष्टी का 'ब्राह्मणों' को, अथवा तीनो द्विजों को निषेध किया है, अन्य प्रकार की शराबों के लिये अनुमति दी है; देखिये विष्णु-स्मृति आदि; यद्यपि "निवृत्तिस्तु महाफला" भी कहा है; शूद्रों के लिये पहिले तीन की भी मनाई नहीं है। "सौत्रामण्यां सुरां (पैष्टी अपि) पिबेद" यह वेदविधि ऊपर उद्धृत हो चुकी है; 'सोम' भी एक प्रकार का मद्य ही था;

'इन्द्रोऽमाद्यत सोमेन" ऐसा वाक्य महाभारत मे एक राजा की यज्ञ-समृद्धि के वर्णन मे आया है; कुछ अन्वेषकों का कहना है कि 'भङ्ग', भांग, ही 'सोम' है, वा इसी जाति की कोई दूसरी ओषधि। इत्यादि।

बलराम जी घड़े-के-घड़े शराब पी जाते थे; कृष्ण और अर्जुन को भी संजय ने 'क्षीब', शराब से मस्त, सत्यभामा और द्रौपदी की गोद मे पैरों को रख कर लेटे हुए रनवास मे देखा। कौरव, पांडव, यादव घरानो की स्त्रियों के शराब पीने का वर्णन महाभारत मे है। बहुत प्रसिद्ध, यद्यपि बहुत अश्लील भी, 'माघ' काव्य मे भी देखिए। यादव-वंश तो अतिमात्र शराब पीकर ही आपस मे कट मरा। यदि शास्त्रवादी सज्जन से पूछा जाय कि क्या ये सब ही मूर्ख थे, तो प्रायः उन को यह कहने के लिए विवश होना पड़ेगा कि इस विषय मे, मूर्ख ही नहीं, महामूर्ख थे। "शत्रोरपि गुणाः वाच्याः, दोषाः वाच्याः गुरोरपि"। मद्य का दृष्टान्त 'परिहासास्पद' नहीं, 'रोदनास्पद' है; विशेष कर मेरे ऐसे बूढ़े आदमी को तो भारतवासी हिन्दुओं की समग्र दशा 'रोदनास्पद' हो रही है; यद्यपि अन्य देश वालों को नितान्त 'परिहास' वा 'अपहास' वा 'अट्टहास' की आस्पद है। यही कथा बहु-विवाह की है; इतिहास-पुराण 'शास्त्र' ही नहीं, 'धर्म-शास्त्र' माने जाते हैं, स्मृति के कोटि मे हैं; ये कहते हैं कि कृष्ण की १६,१०८ पत्नियाँ थीं; इतने बड़े अवरोध से क्या-क्या आपत्तियाँ हुईं, उनकी भी चर्चा, यद्यपि थोड़े मे ही, भविष्यपुराण, भागवत, भारत आदि मे की है। अधिक विस्तार से दिखाई जातीं, तो अधिक लोक-शिक्षा होती।

इस अंध-श्रद्धा के अत्यन्त बढ़ाने का ही यह फल है कि हिन्दू-दास की दासत्व बुद्धि प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती जाती है; क़ब्रों, दरगाहों, का हाल लिखा; जो कुछ भी जिस किसी ने बता दिया उसी पर विश्वास कर लिया; 'सोने का सिक्का, वा गहना, और करंसी नोट दूना कर देंगे, लोहे तांबे को एक रत्ती भस्म से सोना बना देंगे, अपना माल थोड़ी देर के लिये हमारे सुपुर्द कर दो'—तो सुपुर्द कर देते हैं, और ठगे जाने पर

पीछे झींकते हैं और पुलिस के पास निष्फल दौड़ते हैं; लाट साहब से लेकर चौकीदार के आगे झुक-झुक कर सलाम करते हैं; यहाँ तक कि स्वराज्य खो दिया;* और उन के वापस लाने के एकमात्र उपाय, 'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः' की सच्ची व्यवस्था को नहीं सीखते-सिखाते हैं। काशी की पञ्चक्रोशी यात्रा में मै ने अपनी आँखों देखा है कि अपने को 'ब्राह्मण' बताते हुए एक आदमी के कहने से, देहातियों के एक झुंड ने, मील के एक पत्थर (माइल् स्टोन) को 'महादेव जी' मान कर, उस पर फूले पत्ते, पानी, और पैसे चढ़ाये, और उन पैसों को ले कर 'ब्राह्मण देवता' चल दिये। 'मन्दिर बनवा दो' 'मन्दिर बनवा दो' और 'पुजारी नियुक्त कर दो', यही शिक्षा श्रद्धालुओं को दी जाती है। काशी मे 'मन्दिर' के ऊपर 'मन्दिर' लद गये हैं; हर गली मे दो चार छोटे मोटे मौजूद हैं; बहुतेरे नये बनो मे न कोई दर्शनार्थी जाता है, न कोई पुजारी जी बैठते हैं; मै ने यह भी अपनी आँखों देखा है, एक नये ही बने, और अच्छे बड़े सुन्दर भी, मन्दिर मे, कुत्ते ने मूत्र से शिव-पिंड जी का अभिषेक किया; पुजारी जी का पता नहीं था; बड़ा दुःख हुआ, 'हिन्दू-धर्म' ऐसा अर्थरहित, दुरर्थपूरित, हो रहा है।

बुद्धिवादी सज्जन ने बहुत ठीक लिखा है कि, "आर्य लोग जब तक स्वतन्त्र विचार के रहे, तर्क के बल पर चले, तब तक आर्य जाति जीवित रही"; अर्थात् मूल सिद्धान्त स्थिर रहते हुए, विशेष आचार, धर्म, कर्म, विधि-निषेध, समय-समय पर अवस्था के अनुसार बदलते रहे। आख़िर यह भी विचारिये कि मनुस्मृति मूल स्मृति तो थी ही; फिर सत्ताइस और क्यों बनी? इस लिये न कि मनु के मूल सिद्धान्तों को अटल रखते हुए, थोड़ा-बहुत हेर-फेर गौण बातों मे समय-समय पर होता

---

* स्मरण रहे कि यह १५ अगस्त, सन् १९४७ से कई वर्ष पहिले का लिखा है; पर 'हिन्दू'-समाज की दुर्दशा अब भी पूर्ववत् है। मनु ने, कृष्ण ने गीता मे, 'चातुर्वर्ण्य' कहा, 'चातुर्जात्यं' नहीं।

रहा है ? "जब से हम अंधविश्वासी बने" (और धर्माधिकारियों द्वारा बनाये गये) तब से शास्त्रों की प्रगति रुक गई; अब उन प्रगतिशील ऋषियों की, हम ऐसी अकर्मण्य सन्तान हैं कि हमारे पास शास्त्र की दुहाई देने के सिवा और कुछ भी न रहा; विवेक को कोई स्थान देना ही नहीं चाहते......।" बुद्धि स्वातंत्र्य गया; उस के पीछे शासन-स्वातंत्र्य भी, स्वराज्य भी, अवश्यमेव गया।

बुद्धिवादी सज्जन ने लिखा कि, "यज्ञ मे पशुओं की बलि का विरोध बुद्ध भगवान् ने किया, तब धर्म के नाम पर उन का बहुत विरोध हुआ, पर अन्त मे विवेक की जीत हुई। शास्त्रों मे सैकड़ों वचन ऐसे मिलेंगे जो त्याज्य हैं, जिन्हें आप भी स्वीकार कहीं करेंगे।" शास्त्र-वादी, सज्जन ने उत्तर दिया कि "इतिहास बताता है कि भगवान् शंकराचार्य ने अवतीर्ण हो कर बौद्ध धर्म को परास्त कर, वैदिक धर्म का ऐसा प्रतिष्ठापन किया कि भारत मे बौद्ध रह न सके।" हां, बौद्ध तो रह न सके, पर मुसलमान और ईसाई आ धमके और बस गये, और 'भगवान्' शंकराचार्य के नवीन अवतार का तिरस्कार कर के ऐसे फूले-फले कि आज भारत की आबादी मे ६५ प्रतिशत 'हिन्दू' नाम-धारी रह गये हैं, २५ फ़ी सदी मुसल्मान हो गये हैं और १० फ़ी-सदी ईसाई आदि हैं। कुमारिल आदि के रटते रहने पर भी, वैदिक पशुयज्ञ भारत से उठ ही गया, और प्रति दिन लाखों हिन्दू तीर्थस्थानो मे स्नान करने से पहिले जो संकल्प पढ़ाये जाते हैं, उन मे "बौद्धावतारे कलि-प्रथम-चरणे" पढ़ते ही हैं; तथा बौद्ध धर्म के मूल उद्गम-स्थान, काशी के 'सार (ङ्ग) नाथ' नामक भाग मे, पुन: वह धर्म नई जड़ पकड़ने का यत्न कर रहा है, और भारी बुद्ध मन्दिरों और भिक्खु-गृहों का निर्माण कर चुका है। यदि यहाँ के 'भिक्खु' लोग बुद्ध-शासन का सच्चे हृदय से पालन करेंगे, तो वे पुन: भारत के विकृत 'हिन्दू' धर्म ही का संशोधन और जीर्णोद्धार कर सकेंगे जैसा ही और जो ही बुद्धदेव ने किया; उन्हों ने कोई नया धर्म नहीं चलाया। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, मुख्यत:, बौद्ध धर्म

अपने भिक्खुओं के दुराचारी और भ्रष्ट हो जाने से परास्त हुआ, तथा यह कि शंकर के शास्त्र से उतना परास्त नहीं हुआ जितना सुधन्वा के शस्त्र से। शास्त्र के विषय मे तो शंकर के अनुयायी 'प्रच्छन्न बौद्ध' ही कहलाये। बौद्ध (वा जैन) पंडित अमरसिंह के रचे 'अमरकोष' को सभी ब्राह्मण पंडित, आरम्भ मे ही, कम-बेश रटते हैं, उस के आदि मे ही पहिले बुद्ध के नाम गिनाये हैं, पीछे ब्रह्मा आदि देवताओं के नाम; और बुद्ध के नामों मे 'अद्वयवादी' भी लिखा है; जो ही अद्वैत वेदान्त के सार की सूचना करता है। मतलब यह है कि शंकर आदि बुद्ध को गाली भी दिये जाते हैं, और उन्हीं की नक़ल भी करते जाते हैं। "माया-वादं असत् शास्त्रं, प्रच्छन्नं बौद्धमेव च..." इत्यादि परस्पर एक-दूसरे के 'शास्त्रों' को 'असत् शास्त्र' कहते रहे; इस से विदित होता है कि अपने-अपने दही को मीठा कहते हुए भी 'सत् शास्त्र' और 'असत् शास्त्र' मे विवेक कराना चाहते थे। केवल 'शास्त्र' शब्द पर मुग्ध हो जाना ठीक नहीं। रही परास्त करने की बात; सो 'भगवान्' शंकराचार्य के मत को 'भगवान्' रामानुजाचार्य के नवीनतर अवतार ने परास्त किया, और उनके मत को 'भगवान्' मध्वाचार्य, और क्रमशः सर्व 'भगवन्तः' निम्बार्काचार्य, रामानन्दाचार्य, कबीराचार्य, चैतन्याचार्य, वल्लभाचार्य, नानकाचार्य, दयानन्दाचार्य, देवेन्द्रनाथाचार्य, केशवचन्द्रसेनाचार्य, इत्यादि ने। आज की दशा यह है कि इन सभी 'भगवानो' के परमश्रद्धालु अनुयायी 'श्री प्रभुवर १ लक्ष-कोटि-८, अथवा, श्री अनंत ८ श्री, श्री महा भगवान् अंग्रेज़ बहादुर' के आगे झुक-झुक कर नमस्कार-चमत्कार कर रहे हैं। शंकर और उन के शिष्यों-अनुयायियों की कृतियों, गर्वोक्तियों और प्रतिवादियों से विवादों मे परस्पर कुत्सनाओं और भर्त्सनाओं का हाल, माधव-लिखित 'शंकर-दिग्विजय' में देखिये, तथा अमरुक राजा की स्त्रियों के साथ 'भगवान्' शंकर के भोगविलास का वर्णन भी पढ़िये।[१] रामानुज के

१. उदाहरणार्थ, बीसियों में से दो-तीन श्लोक नीचे लिखे जाते हैं—

"यत्राऽरम्भजकाहलाकलकलैर् लोकायतो विद्रुतः,

अनुयायियों की एक प्रसिद्ध गर्वोक्ति यह है, जो शंकर-दिग्विजय मे लिखी गर्वोक्तियों की अपेक्षा बहुत हलकी है :

काणाः काणभुजास्तु सैन्यरजसा, सांख्यैर्धृताऽसंख्यवो,
युध्वा तेषु पलायितेषु, सहसा योगाः सहैवाद्रवन्,
को वा वादिभटः पटुर्भुवि भवेद् वस्तुं पुरस्तान् मुनेः!
बुद्धो युद्ध समुद्यतः किल पुनः स्थित्वा क्षणाद् विद्रुतः,
कोणे द्राक् क्रणभुग् व्यलीयत, तमःस्तोमाऽवृतो गौतमः,
भग्नोऽसौ कपिलोऽपलायत, ततः पातंजलाश्चांजलिं,
चक्रुस्, तस्य यतोशितुश्चतुरता केनोपमीयेत सा!
हस्तग्राहं गृहीताः कतिचन समरे वैदिकाः वादियोधाः
काण्वाद्याः, परे तु प्रसभं अभिहताः हन्त लोकायताद्याः,
गाढं बंदीकृतास्ते सुचिरं, अथ पुनः स्व-स्व-राज्ये नियुक्ताः
सेवन्ते तं, विचित्रा यतिधरणिपतेः शूरता वा दया वा!
स्कंदानुसारिणा राज्ञा, जैनाः धर्मद्विषो हताः,
व्यधाद् आज्ञा सुधन्वा च, वधाय श्रुतिविद्विषां,
आसेतोर् आहिमाद्रेश्च, बौद्धान् आवृद्धबालकं,
यो न हन्ति स हन्तव्यः—भृत्यान् इति अन्वशान् नृपः"
(माधवकृत शंकर दिग्विजये) ।

सुधन्वा राजा की सेना शंकराचार्य के साथ चलती थी ; उसके मारू बाजे के गर्जन से ही लोकायत मत वाले भागे; सेना की धूल से ही काणाद लोग (कणाद के अनुयायी) काने हो गये ; सांख्य ने युद्ध की बुद्धि छोड़ दी और योगवाले भी उन के साथ ही भागे ! कौन ऐसा वादी का बच्चा था जो इस (शंकर) मुनि के आगे ठहरता ! बौद्ध भी एक क्षण के लिए (वाग्) युद्ध मे खड़ा रहकर भागा ; जो वादी अपने को वैदिक मत के अनुचर बताते थे, वे तो हाथों से ही मारपीट कर अलग कर दिये जाते थे ; कोई कोई उन के साथी राजा

गाथा ताथागतानां गलति, गमनिका कापिली क्वापि लीना,
क्षीणा काणादवाणी, द्रुहिण–हर–गिरः सौरभं नारभन्ते,
क्षामा कौमारिलोक्तिर्, जगति गुरुमतं गौरवाद् दूरवान्तं,
का शंका शंकरादेर् भजति यतिपतौ भद्रवेदीं त्रिवेदीं।

तथागत बुद्ध के अनुयायियों की गाथा गीत गल गई, कपिल की (सांख्यवाली) पगडंडी मिट गई, कणाद (वैशेषिक) की वाणी क्षीण हो गई, द्रुहिण (ब्रह्मा के अवतार माने जाते मंडन मिश्र) की और हर (पाशुपत दर्शन) की बातों मे अब सुगन्ध नहीं रह गया, उन को कोई पूछता सुनता नहीं, कुमारिल की बात क्षामफीकी हो गई, गुरु (प्रभाकर) का मत गोझइल होने से दूर फेंक दिया; रह गये शंकर, तो यतियों के पति श्रीरामानुजाचार्य के, त्रिवेदी की वेदी पर विराजते रहते, शंकरादिकों की क्या शंका है !

बहुत दिनों तक बन्दी, दास, बनाकर, कारावास मे बन्द कर दिये जाते थे; पीछे कभी, हाथ पैर जोड़ने पर, क्षमा कर के अपने अपने राज को वापस कर दिये जाते थे, और (सुधन्वा और शंकर की) सेवा करते रहते थे। यतियों के धरणीधर शंकर की शूरता भी और दया भी दोनो विचित्र थी। स्कन्दगुप्त सम्राट् ने जैसा किया था, उसी का अनुसरण करते हुए सुधन्वा राजा ने भी, (शंकर की इच्छा से), अपने भृत्यों को यह आज्ञा दी कि रामेश्वर के सेतु से हिमालय पर्यन्त, बौद्धों को मार डालो, उन के बूढ़ों बच्चों तक को न छोड़ो, और जो उन को मारने से हिचके उस को भी मार डालो। यह हुआ शास्त्रार्थ के स्थान मे शस्त्रार्थ। यदि प्रतिवादियों ने कोई राजनीतिक या सामाजिक व्यावहारिक अपराध वा पाप किया हो, तो दंड देना उचित था, पर माधव ने ऐसा तो कहीं लिखा नहीं, मतभेद ही के लिये मारना और मार डालना लिखा है।

भारत में बौद्धधर्म को पुनः जगाने और प्रतिष्ठित करने का यत्न जो डाक्टर अम्बेदकर ने अब, सन् १९५६–५७ मे किया है, उसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

ऐसे गर्वों, परस्पर कलहों परस्पर परास्त करने की दुर्वासनाओं ने सारे भारत को परास्त कर डाला है। इस प्रथा से भारत देश, भारत धर्म, भारत समाज का कल्याण नहीं। अन्न-घी के यज्ञ छोड़िये, पशु-यज्ञ छुड़वाइये, मद्य-मांस छुड़वाइये; मनु-विहित दैनंदिन पंच महायज्ञों का प्रचार कीजिये, कृष्ण के ज्ञानयज्ञ को फैलाइये। जनता की बुद्धि, विवेक, स्वयंप्रज्ञता को प्रज्ञानविज्ञान से उज्ज्वल कीजिये; 'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः' की व्यवस्था से मनु के सिद्धांत और आदेश के अनुसार, सच्चे वर्णाश्रम-धर्म को समस्त मानव जगत् मे फैलाइये; तभी विश्वशांति भी होगी, और सब मनुष्यों को पर्याप्त मात्रा मे अन्न-घी-दूध खाने पीने को मिलेगा।

इस निबन्ध का लिखना समाप्त हो चुका था कि एक 'बुद्धिवादी सज्जन का पत्र मेरे पास आया; उस के साथ एक 'शास्त्रवादी' सज्जन के पत्र की प्रतिलिपि भी थी; तथा बुद्धिवादी ने जो उत्तर उनको दिया था उस की भी। शास्त्रवादी सज्जन ने लिखा है—"...एक प्रश्न आप भगवान्दास जी से और भी कर सकते हो; हाल मे यहाँ एक रुद्राभिषेक श्री श्रीकेदारेश्वर मे हुआ है, अखंड रुद्राभिषेक अहर्निश अखंड दुग्धधारा द्वारा भगवान् केदारेश्वर का पूजन हुआ है; दो-दो घंटे की पारी से लगभग २४० ब्राह्मणों ने वेदघोष के साथ इस कार्य को किया है; शुद्ध गोदुग्ध बड़े परिश्रम से प्राप्त हुआ है। आप के तर्क के अनुसार, जब बच्चों को भी दुग्ध मिलता ही नहीं है, तब इस तरह दुग्ध बहाया जाना क्या धर्म है ? और फिर यह पूजन, निर्गुण, निर्विकार, अव्यय, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य ब्रह्म का हुआ, अथवा नित्यतृप्त के आप्तकाम आनन्दमय भगवान् का हुआ ? प्रत्यक्ष देखने मे तो पाषाण के खंड पर दुग्ध गिर रहा था, और जलाभिषेक भी साथ-साथ था; यात्रीगण भी जलादि अर्पण करते थे, अतः जल के साथ बह कर नाली में जाता था; किसी के हाथ भी नहीं लगता था; यह पुण्य हुआ क्या ?"

इस का उत्तर बुद्धिवादी सज्जन ने, शास्त्रवादी जी को, यह लिखा

कि, "मेरे विचार मे तो दूध को बहा देना अवश्य ही अविवेक है, इस मे मुझे कुछ संदेह नहीं; दूध के अधिकारी पहिले बच्चे हैं; और भगवान् तो भावना से तृप्त होते हैं; उन को दूध की आवश्यकता ही क्या है ? आप का पत्र, भगवान्दास जी को अवश्य भेज दूंगा ।"

मेरे नामोल्लेख से प्रश्न किया गया है, इस लिये इस स्थान पर, उस का उत्तर भी रख देना उचित जान पड़ता है ।

बुद्धिवादी सज्जन के उत्तर से मै अक्षरशः सहमत हूँ । केवल वेदघोष होने से, अथवा शंख, मृदंग, घंटा के निर्ह्राद, पणव, आनक, गोमुख के निनाद, तूर्य, पटह, दुंदुभि के ध्वान और तुमुल शब्द से, (जिस के साथ बीसियों 'जगद्गुरुओं' की, परस्पर 'दिग्विजय' की आकांक्षा से, 'सवारियां' निकला करती हैं) कोई अनुचित, अपार्थ, व्यर्थ, अथ च अधर्म कार्य, 'धर्म' नहीं हो जाता । हनुमान् ने लंका मे ब्रह्मराक्षसों को वेदघोष करते सुना, ऐसा वाल्मीकि जी लिखते हैं; मुझे तो इस का निजी ज्ञान है नहीं; पर वाल्मीकि जी ने ठीक ही लिखा होगा; तो क्या इस वेदघोष के हेतु से, राक्षसों के सब कार्य 'धर्म' हो गये ? मेघनाद के ऐसे ही वेदघोषयुक्त, यज्ञ का लक्ष्मण ने तो ध्वंस ही कर डाला; तथा साक्षात् सदाशिव जी ने स्वयं दक्षप्रजापति के यज्ञ का विनाश करा दिया । इन्द्रदेव ने, यदि पुराणो मे लिखा ठीक है तो, बहुतेरे यज्ञो में विघ्न किया है । शंकराचार्य ने मंडन मिश्र के 'यज्ञ' मे विघ्न किया । इत्यादि । शास्त्रवादी सज्जन ने जिस प्रकार से, 'बड़े परिश्रम से एकत्र किये गये शुद्ध दूध को, पानी में मिला कर', नाली से बहाने का वर्णन कर के प्रश्न किया है, कि 'क्या यह धर्म है ?,' उस से तो पाठक को यह संदेह हो जाता है कि ये सज्जन 'दुग्ध से नाली-अभिषेक' का स्वयं ही खंडन कर रहे हैं । अव्यपदेश्य ब्रह्म और आनन्दमय भगवान् मे क्या भेद है, और अभिषेकरूप पूजन किस का हुआ, इस अपने प्रश्न का उत्तर वे स्वयं ही दे सकते हैं, कि उन्हों ने किस का पूजन किया । प्रत्यक्षदर्शी, साधारण मनुष्य की दृष्टि से, जो उत्तर देता है, वह भी उन्हों ने स्वयं लिख दिया है, कि 'पाषाण-खंड'

का। तथा च 'रुद्र' देव 'शास्त्रों' ही के अनुसार, न "अव्यपदेश्य ब्रह्म' हैं, न 'आनन्दमय भगवान्' प्रत्युत 'अहंकार' और 'क्रोध' के मूर्त देव हैं और उनकी ग्यारह मूर्तियां हैं, अर्थात् दस इन्द्रियां, और मुख्य इन्द्रिय ग्यारहवां मन। "नमस्ते रुद्र ! मन्यवे (क्रोधाय)", "मा हिंसीः पुरुषं जगत्...", "या ते, रुद्र !, शिवा तनू...तया नः तनुवा...अभिचाकशीहि, मा नो महान्तं उत मा नो अर्भकं...बधीः...प्रिया मा नस्तनवो, रुद्र !, रीरिषः मा नो वीरान्, रुद्र !, भामितो (अथ च भामिनो) बधीः, मा नो गोषु, मा नोऽश्वेषु रीरिषः,"—इत्यादि यजुर्वेद के रुद्राध्याय मे, जो 'रुद्रदेव' के विविध प्रकार के क्रोध के शमन के लिये स्तुति और प्रार्थना की है, वह तो प्रत्येक समझदार मनुष्य को करना चाहिये; पर, पानी और दूध मिला कर पनाली मे बहाने से रुद्रदेव नहीं प्रसन्न होंगे; ऐसी रिश्वत, उत्कोच, उन को प्रिय नहीं; प्रत्युत इस से और क्रुद्ध होंगे और हो रहे ही हैं। ऊपरी आडम्बर, ढोंग, कर्मकांड के आटोप से, न अव्यपदेश्य ब्रह्म, न आनन्दमय भगवान्, न क्रोधमय रुद्र, प्रसन्न होते हैं। मराठी भाषा मे कहावत है 'देव भावाचा भूखा'; अन्न और घी और दूध-दही का नहीं। सर्ववेदमय मनु की आज्ञा है,

विधि-यज्ञाज् जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः,
उपांशुः स्याच् छतगुणः, साहस्रो मानसः स्मृतः;
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः,
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्;
जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो, नात्र संशयः;
कुर्याद् अन्यत् न वा कुर्यात्; मैत्रो ब्राह्मणः उच्यते।
(२, ८५-८७)

कर्मकांडी यज्ञो से जपयज्ञ दशगुना अच्छा है; उस मे भी, केवल ओष्ठ हिला कर, इतना धीरे कि पास बैठा हुआ भी न सुनै, ऐसा 'उपांशु' जप सौगुना अच्छा है; और सर्वथा मौन 'मानस' जप, सहस्र गुना। गीता और योगसूत्र का मत, इस विषय मे, पहिले जा चुका है। मतलब यह

कि चिल्ला कर कहने से शब्द का, कोलाहल का, अंश प्रबल, और भाव का अंश (जो ही मुख्य है) दुर्बल; हो जाता है; इस लिये 'सद् ब्राह्मण', 'मानस' जप से ही संसिद्ध हो सकता है और होता है; उस का मानस बल, आत्मबल, संकल्प-शक्ति, सत्य-संकल्पता, बढ़ती है; कर्मकांडों के कर्मों का उसे प्रयोजन नहीं।

इस्लाम-धर्म चलाने वाले मुहम्मद के पास बैठ कर, एक नये मुसलमान ने बहुत जोर जोर से चिल्ला-चिल्ला कर नमाज़ पढ़ना शुरू किया; मुहम्मद ने उस से कहा, 'ऐ बिरादर !, अल्ला बहिरा नहीं है, धीरे पढ़ो, बल्कि मन ही मे पढ़ो वह सब के मन को पहिचानता है।' ईसाई लोक मे, समष्टि दृष्टि से, अन्य साम्प्रदायिक लोकों की अपेक्षा, बहुत अधिक समृद्धि है, शक्ति है; पर उस समुदाय मे ऐसा होम-हवनादि कुछ नहीं है; किसी पहिले समय मे भारत में, यदि उत्तम बुद्धि से और सच्ची विधि से किये जाते रहे हों तो स्यात् इन से विशेष विशेष व्यक्तियों या समुदायों को कुछ लाभ होता रहा हो; पर अब तो ये निरे ढोंग ढकोसले डोकरिया पुराण रह गये, अपि च दुर्विधि से, दुश्चरित्र ऋत्विजों के हाथ से, और आपत्ति बुलाते हैं। मेरा निजी अनुभव है, मेरी रिश्ते-दारी मे एक सज्जन की पत्नी ने, किसी विशेष मनोरथ की प्राप्ति के लिये बहुत 'विधि'-पूर्वक, जाने माने कर्मकांडियों द्वारा, 'रुद्रयाग' अपने घर मे कराया; समाप्ति के पांच सात दिन बाद ही, मनोरथ तो मिला नहीं, भारी फोड़ा हो गया, जिस के लिए शस्त्र कर्म आदि की नौबत आई। प्रधान कर्मकांडी से पूछा गया कि ऐसा उल्टा फल क्यों हुआ, तो उन्हों ने यही कहा कि उन के साथ के कई 'ऋत्विक्' सच्चरित्र नहीं थे।[१] यदि कहो कि ईसाई-लोक मे प्रत्यक्ष कलह और पाप बहुत है, तो

१. गत कार्तिक (नवम्बर) मास मे, काशी मे, गंगातट नगवा, पर जो 'शत-कुंडी यज्ञ' हुआ, उस के आरम्भ मे दक्षिण से, महाराष्ट्र देश के एक अच्छे पण्डित, जो बहुत निर्बंध से बुलाये गये थे और

भारत मे उससे बहुत अधिक है, जिस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है, कि भारत पाश्चात्यों की जूतियों के नीचे पड़ा हुआ है।

शास्त्रवादी सज्जन ने लिखा है कि नाली मे बहाया दूध "किसी के हाथ मे नहीं लगता था"; यह तो दूध बहाने की निन्दा ही समझी जायगी, प्रशंसा नहीं। यदि किसी जीते बालक के, या रोगी के, या स्वस्थ ही मनुष्य के हाथ लगता, और उस का 'उदराभिषेक' होता, तो भी कुछ अच्छा समझा जाता, क्योंकि "देहो देवालयः प्रोक्तः"। काशी में, विश्वनाथ के मन्दिर मे, पचासों वर्ष से, प्रति दिन दो बार सवेरे-शाम, नाट्कोटि चेट्टी लोगों की ओर से 'शिव-लिंग' का दूध से स्नान कराया जाता है; पहिले तो पांच मन दूध चढ़ता था; घटते-घटते अब मंहगी के कारण बीस सेर सबेरे, बीस सेर शाम चढ़ता है; पिंड और कुण्ड खूब स्वच्छ धोये जाते हैं; तब दूध भरा जाता है; विशेष स्वच्छ नाली से बह कर, दूसरी, रोज धोई जाती, साफ़ कुण्डिका मे जमा होता है, और वहां से, मन्दिरोपजीवी लोग उस को ले जाते हैं और काम मे लाते हैं; इतना ही संतोष का स्थान है कि, यद्यपि इस दैनंदिन बहुत वर्ष से होते हुए रुद्र-दुग्धाभिषेक से विश्वकल्याण तो किंचित् भी नहीं हुआ, पर निश्चयेन कुछ थोड़े से मनुष्य का तो हुआ; और, उस दूध मे शहद, केशर, इलायची, शर्करा, आदि सौगंधिक सौस्वादिक द्रव्य भी मिले रहते हैं, इस लिये उन उपजीवियों को विशेष आनन्द भी आता होगा। एक ओर तो गवर्नमेंट मलाई, रवड़ी, आदि का, मथुरा, काशी, आदि शहरों मे बनाना, बीच-बीच मे बन्द करती है, इस लिये कि साधारण जनता और बच्चों और रोगियों को दूध की तंगी न हो, दूसरी ओर दूध पनाले मे बहाया

अपने रहने के स्थान से यज्ञस्थान को नौका पर पहुँचाये जा रहे थे, नौका के डूबने से डूब कर मर ही गये। एवं यज्ञ के अंत में एक मारवाड़ी सज्जन की स्त्री, यज्ञस्थान से अपने वासस्थान को नौका पर जा रही थी, इसी तरह, नौका डूबने से डूब कर मर गई।

जाता है, ऐसा कि किसी के हाथ नहीं लगता। क्या कहिये हिन्दू-दास की बुद्धि को !

और देखिये; स्वयं विश्वनाथ जी से अधिष्ठित काशी नगरी को एक बेर तो स्वयं कृष्ण ने जलाया, पौंड्रक राजा ने उन के वेश-भूषा की नकल की थी; और उस के मित्र काशिराज ने उस के पक्ष में होकर कृष्ण से युद्ध किया; दोनों मारे गये; यहाँ तक तो ठीक हुआ; फिर, काशिराज के पुत्र सुदक्षिण ने अभिचार कराया, यज्ञ कुण्ड से विकराल दानवाकार अग्नि को भेजा कि कृष्ण को द्वारका मे जला डालो; कृष्ण ने चक्र से उसका प्रतिघात किया और चक्र को आज्ञा की कि सुदक्षिण और ऋत्विक् आदि सहित काशी नगरी को जला डालो; ऐसा ही हुआ। राजा ही को दंड देना था, सारी नगरी को जलाया, निरपराध आदमियों, स्त्रियों, बच्चों का नाश किया; अवतार ही थे; कुछ समझा ही होगा। फिर मुसल्मान आक्रामकों ने लूटा, पीटा, जलाया; तब भी, न विश्वशांति-कारक याज्ञिकों ने बचाया, न स्वयं रुद्रदेव, विश्वनाथ जी ने, रक्षा की; प्रत्युत यह भी कथा बन गई है, कि स्वयं विश्वनाथ जी एक कूप में कूद पड़े और छिप गये, और पीछे, आक्रमणकारियों के चले जाने पर, कूप के पास आदिविश्वेश्वर के नाम से मंदिर बनाया गया, और कूप-पतित लिंगपिंड निकाल कर उस मे स्थापित किया गया ! हे भाई ! किसी समय ऐसे आख्यानकों से कुछ गुण स्यात् उत्पन्न होता हो, जो बहुत संदिग्ध ही है; पर अब तो ऐसी बातों से भारत समाज की बुद्धि की, अतः धर्म और समाज की अधोगति दिन-दिन तीव्र हो रही है, और होगी।

मत्सर, ईर्ष्या, स्पर्धा की वृद्धि को देखिये। ऊपर महाभारत का वाक्य लिख आये हैं,

स्त्रियः कामितकामिन्यः, मूर्खाः पूजितपूजकाः ;

जहाँ साधक लोगों ने 'सन्त महन्त साधु सिद्ध' पुरुष का यज्ञ फैलाया, तहां, नया तमाशा देखने के लिये, आदमियों के झुण्ड उमड़ने

लगते हैं और स्त्रियां पहिले—मै पहिले इन के पैर छूऊं, मै सब से बढ़िया फूलमाला इनके गले मे डालूं, मै सब से उत्तम भोजन इन को खिलाऊँ, मै सब प्रकार की "सेवा" करूँ, घर का माल-मता सब इन के ऊपर चढ़ा दूं;' धनवान् लोग भी होम-हवन-यज्ञ अभिषेक कराने के लिये, एक से एक बढ़ के 'उतरा-चढ़ी' की बुद्धि से, रुपया देने लगते हैं, समझते हैं कि इसी प्रकार से हमारी धर्मिष्ठता का नाम, यश, दुनिया मे फैलेगा, और रोजगार मे भी स्यात् कुछ फ़ायदा ही हो जाय। और कुछ व्यवहार-चतुर व्यापारी लोग, ऐसे अवसरों पर, खराब सामग्री अच्छी के के दाम दे कर, अपना लाभ तत्काल भी साध लेते हैं। तथा स्वयं 'संत-महन्तों' मे ईर्ष्या और 'नकली' 'यज्ञो' की घुड़-दौड़ शुरू हो जाती है, जैसे राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्रों मे, राष्ट्रशासकों और धन-कुबेरोंमे, कि मेरा राष्ट्र सब से अधिक विशाल और शक्तिमान् हो, मेरी सम्पत्ति अद्वितीय हो; उनकी यह स्पर्धा नहीं होती कि राष्ट्र-राष्ट्र मे प्रीति हो, मेल हो, सब की प्रजा सुखी हो, वा लक्ष्मी का सुप्रयोग हो, सब का यथोचित अन्न-वस्त्र से भरण-पोषण हो।

जैसी ही सद्ब्राह्मणो की भारी प्रशंसा की है, देव-तुल्य कहा है, वैसी हीं, मनु जी ने, दाम्भिक ब्राह्मणों के विरुद्ध बड़ी कड़ी चेतावनी भी दी है,

पाषंडिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकान् द्विजान्,
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्,
न वारि अपि प्रयच्छेत् तु बैडालव्रतिके द्विजे,
न बकव्रतिके विप्रे, न अवेदविदि, धर्मवित्;
ये बकव्रतिनो विप्रा, ये च मार्जारलिंगिनः,
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य, (कृत्वा) स्त्री शूद्रदम्भनं,
ते पतंति अन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा।
(अ० ४-श्लो० ३०, १९२, १९७, १९८)।

पाखंडी, बुरे कर्म करने वाले, बिल्ली, और बगुले के ऐसे व्रत का रूप धरे हुए, वेदविद्या से शून्य, नामधारी ब्राह्मण, व्रत के ढोंग से अपने पापों को छिपाना चाहते हैं, और 'व्रत' के आड़ में और अधिक पाप करते हैं, तथा अल्प बुद्धि अबोध स्त्रियों और पुरुषों का दम्भन, वंचन, ठगाई करते हैं; ऐसे मिथ्या-ब्राह्मणों से भला आदमी बात भी न करे, और उनको पानी भी न दे। ऐसे सब मिथ्या-ब्राह्मण घोर अन्धतामिस्र नरक मे गिरेंगे। यह भगवान् मनु, आदि प्रजापति, आदिराज, आदि स्मृतिकर्त्ता की आज्ञा है।

काशी के दैनिक पत्रों मे समाचार पढ़ता हूँ, और अभ्यागतों से सुनता हूँ, कि अब किसी 'शतकुंडी' यज्ञ की आयोजना हो रही है, "जिसमे कई लाख रुपयों का खर्च होगा"[1] तथा यह कि 'उपशान्तेश्वर' 'आत्मावीरेश्वर', 'गभस्तीश्वर', 'आनन्दभैरवेश्वर', 'ध्रुवेश्वर', ज्येष्ठेश्वर', 'असी-संगमेश्वर', आदि कितने ही 'ईश्वरों' के मंदिरों मे पिण्ड का दुग्धाभिषेक अभी समाप्त हुआ है, या आरंभ होने वाला है। 'नागेश्वर' 'गिरीश्वर' 'वटेश्वर,' 'जम्बुकेश्वर', 'तिलकभाण्डेश्वर,' 'कर्दमेश्वर,' 'नर्मदेश्वर,' 'गंगेश्वर,' 'वैद्यनाथेश्वर,' 'दुग्धनाथेश्वर,' 'सिंहाचलेश्वर,' 'गृध्रकूटेश्वर,' 'वेदाचलेश्वर,' आदि नामों के मंदिर भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे, बहुत से तो काशी ही मे, वर्त्तमान हैं। किसी भी शब्द के पीछे 'ईश्वर' शब्द लगा दीजिये तो एक नया ईश्वर पैदा हो जाता है और दूध मांगने लगता है। 'ईश्वर' तो, 'ढोंकेश्वर' तो, 'पत्थरेश्वर' तो, 'पेडेश्वर' तो, 'कंकडेश्वर' तो, सभी के सामने हिन्दू-दास साष्टांग दंडवत् करने को गिरा पड़ता है; यदि मोटे-मोटे संस्कृत के मुखपूरक शब्दों से नाम रक्खा जाय, 'डमरुडिंडिमेश्वर, 'अश्मकुट्टेश्वर,' 'वक्रतुण्डमहाकायेश्वर' 'शूलटंकपाशदंडेश्वर' तब तो उसके ऊपर जादू का असर हो जाता है; 'शिवसहस्र-नाम' के नामो से एक सहस्र 'ईश्वर' बना देने मे तो कुछ

---

१. यह 'यज्ञ' अक्तूबर, १९४४ मे कर दिया गया।

देर ही नहीं लगेगी; और नये-नये नामों का गढ़ लेना तो आज काल के विद्वानों के बायें हाथ का खेल है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिख गये हैं "काशी के कंकर शिवशंकर समान हैं"। एवं, विष्णुसहस्रनाम, ललितासहस्रनाम, सूर्यसहस्रनाम, गणपतिसहस्रनाम, आदि के आधार पर, हज़ारों हज़ार ईश्वर ईश्वरी बना लिये जा सकते हैं। 'यह वेद का मंत्र है'—साष्टांग लीजिये; 'यह स्मृति का श्लोक है'—साष्टांग लीजिये; 'यह शास्त्र का वाक्य है'—डबल साष्टांग लीजिये! ऐसा हिन्दू-दास क्या 'स्व-राज' लेगा, क्या 'स्व-राज' करैगा!

हे भाई! ये सब सहस्रनाम, परमेश्वर की विभूतियों की याद करने कराने के लिये बनाये गये; मूर्तियां गढ़ कर पुजवाने के लिये नहीं। पुराने समय मे, रेल, तार, डाक आदि की सुविधा नहीं थी, तब देशाटन से जो विविध प्रकार के लाभ होते हैं, उन की ओर प्रोत्साहन करने के लिये, स्थान-स्थान पर विश्राम और ईश्वर-स्मरण के लिये, धर्मशालाओं, अन्नसत्रों, चिकित्सागृहों, और मंदिरों का प्रबन्ध होना उचित था; जैसा अशोक सम्राट् के समय मे किया गया। पर मंदिरों और मूर्तियों की धीरे-धीरे, बढ़ते-बढ़ते अत्यन्त 'अति' हो गई। उस को सुधारने की अब परम आवश्यकता है। देव-त्रय देवी-त्रय की मूर्तियां ही उपासना और चित्तशुद्धि के लिये अथवा 'सर्वदेवमय' 'सविता' 'सूर्य' की ही निराकारप्राय वृत्तवत् साकार मूर्ति पर्याप्त है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि मुहम्मद की पैदाइश के समय, मक्का मे ३६० मूर्तियां और मंदिर थे; एक एक का एक पुजारी वंश था; जिन मे यात्री दर्शनार्थियों और उनके चढ़ावों के लिये, कलह और मार पीट हुआ करती थी; बड़े होने पर यह हाल देख कर, मुहम्मद ने निश्चय किया कि एक मूर्ति (हज्र ुल अस्वद्) जो आकाश से गिरा अनगढ़ काला पत्थर है जैसे भारत के प्रसिद्ध 'द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग', (यद्यपि ऐसे 'दिव्य' पत्थर अक्सर गिरते रहते हैं, और समग्र भूगोल ही एक महान् अत्यद्भुत ज्योतिर्लिङ्ग है), रक्खी जाय, और उसी का एक मंदिर, 'काबा' नाम का, जिस को शुरू मे, सैकड़ों वर्ष

पहिले 'इब्राहीम' (विदेशगत 'ब्राह्म' ?) ने बनाया था, और सब मंदिरों से प्राचीन था, रक्खा जाय; और मुहम्मद ने, अपने आत्मबल से भी, और जब उस के साथी पर्याप्त संख्या मे हो गये तब शस्त्रबल से भी, ऐसा ही कर डाला। आज, पृथ्वी-मंडल की बीस कोटि मुसल्मान जनता के लिये एक मुख्य मंदिर है। हाँ, भारत में, हिन्दुओं की हवा लगने से, उन्हों ने भी हज़ारों क़ब्रों और दर्गाहों और तकियों की पूजा शुरू कर दी है, और हिन्दुओं से विरोध होने के कारण, इन के हज़ारों मंदिरों को तोड़ डाला है। यह भी कथानक काशी के हिंदुओं मे चला दिया गया है कि किसी ब्राह्मण ब्रह्मचारी ने, किसी मनोरथ की प्राप्ति के लिये विश्वनाथ की बहुत पूजा की, पर मनोरथ सिद्ध न हुआ, तब उस ने यह भावना कर के कि अगले जन्म मे मै विश्वनाथ की मूर्ति तोड़ सकूं, अपने शरीर को तुषाग्नि मे जला दिया, और वही पीछे औरंगजेब हुआ। दूसरे लोग कहते हैं कि परमेश्वर ने मूर्तियों की अति से अपने विषय मे महा-भ्रांति फैलते देख कर; उस के शोधन के लिये ही औरंगज़ेब को उत्पन्न किया, और उस ने उन मंदिरों मठों की रक्षा की, जिन के पुजारियों अधिकारियों ने कोई विशेष सिद्धि और तपोबल दिखाया, बाक़ी को तोड़ा फोड़ा। जंगमो को, काशी मे, अग्निस्तम्भन, आग पर चलने की, सिद्धि दिखलाने के लिये बारह ग्राम जागीर दी, अपारनाथ हठयोगी को, कुछ सिद्धियां दिखाने पर, मठ बनवा दिया, इत्यादि ।

'तीर्थ' कहलाने वाले स्थानो मे देखिये तो 'साधु-सन्त-महन्तों' के बड़े-बड़े महल खड़े हैं, आड़ के लिए एक मूर्ति भी किसी 'ईश्वर' या 'भगवान्' की अवश्य रक्खी है, और उसकी आड़ मे तरह-तरह का 'भोग' लग रहा है, 'विलास' हो रहे हैं, 'लीला' की जा रही है, स्त्रियां 'सेवा' के लिये सदा उपस्थित हैं। और देखिये; काशी मे 'शतकुंडी' की तैयारी हो रही है,[१] तो 'गोपाल' नामक साप्ताहिक से मालुम हुआ कि, "जगत्-

१. यह 'शतकुंडी' यज्ञ कर दिया गया, जैसा पूर्व की टिप्पणी मे लिख दिया है।

प्रसिद्ध धर्मभूमि कुरुक्षेत्र मे...विश्व के कल्याणार्थ...सूर्यग्रहण के अवसर पर, 'श्री सूर्य सहस्र-रश्मि महायज्ञ' का संकल्प" एक सज्जन ने किया है; तथा उनकी सहायता से लिये, एक "जगद्गुरु शंकराचार्य जी महाराज, जिन का एक-एक श्वास जगत् मे प्राण फूंकता है, जिन का एक-एक वचन विश्व-सौख्य का प्रेरक है, जिन का एक-एक रोम मांगल्य का प्रतीक है, जिन का सम्पूर्ण स्थूल-देह विश्व-गरिमा का मूर्तिमान् रूप है, दिल्ली के भाग्य का वैभव पुष्पित कर रहे हैं"; तथा और भी कई इस से कुछ ही न्यून विशेषणो से विभूषित अन्य सज्जन भी ! कृष्ण ने जिस 'पुष्पिता वाक्' का जिक्र किया वह तो दूरे परास्त हो गई, 'कादम्बरी' रचयिता बाणभट्ट भी ऐसी लच्छेदार भाषा नहीं लिख सके ! और देखिये; इसी 'गोपाल' पत्र के इसी अंक मे; "इस महान् यज्ञ के संरक्षक" शीर्षक के नीचे, संरक्षकों के वर्णन, मे एक 'जगद्गुरु' और एक 'गोस्वामी' "श्री ११०८" (ग्यारह सौ आठ) से विभूषित हैं; एक "योगीराज स्वामी" और एक केवल "स्वामी", "११०८ श्री" और (बिना श्री के, केवल) ११०८ से; और चार सज्जन "श्री १०८" से, जिन मे एक "स्वामी", एक "परमहंस श्री स्वामी", एक "साधु सम्प्रदायाचार्य गोस्वामी" और एक "स्वामी" भी हैं, तथा आठो सज्जन, "श्री महा-राज" भी हैं। जैसे श्री 'एक अर्ब-खर्व-अनन्त आठ श्री' गवर्मेंट बहादुर, बीसियों 'टैटल' द्वारा, महापुरुषों की उच्चावचता का विवेचन करती है, वैसे धर्म-नायक लोग 'श्रियों' की संख्या से उच्चावचता का संकेतन करने लगे हैं। मालूम नहीं कि इन की राय मे वसिष्ठ, वाल्मीकि, व्यास, राम, कृष्ण, किस राशि मे आते हैं—श्री ८, वा श्री १८, वा श्री १०८, वा श्री १००८, वा श्री ११०८ मे।

यह दशा भारतीयों की शिष्टता, सभ्यता, विचार, भाव, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, की हो रही है; इसी के बल हम स्व-राज्य पावेंगे ?[1]

* १५-१६ अगस्त १९४७ ई० के बीच की रात मे, मध्य रात्र्युत्तर पहिली मिनिट मे ब्रिटिश गवर्मेंट ने भारत को स्वराज का दान

हे भाई ! इन होम–हवन–यज्ञ–अभिषेक आदि के ढोंगों को, 'भियों' की भरमार को 'परस्पर' प्रशंसति' के प्रकार को, छोड़ो; सेठ-साहुकारों को चुटकी और बढ़ावे की चातुर्य-नीतियों से भुलावे मे डालने, और थैलियां भेंट कराने, और उन को 'सेवा' मे लगा देने, के अभ्यास को समाप्त करो। सच्ची तपस्या करो कराओ; सच्ची विद्या सीखो सिखाओ; यद्यपि सच्चे तपस्वी तो प्राय: मनुष्यों की भीड़ से दूर ही रहते हैं। यदि सचमुच विश्वकल्याण की बलवती इच्छा हो, तो उपरि उक्त, और अन्य तादृश, उत्तमोत्तम प्रार्थना-मंत्रों के देशव्यापी उपदेश करो; धनवानों से, धन का नितान्त व्यर्थ अपव्यय करने मे होड़ मत कराओ, प्रत्युत सद्व्यय मे निश्चयेन होड़ कराओ। देखो, टाटा कुटुम्ब ने पचहत्तर लाख रुपये के दान से भारी विज्ञानशाला की स्थापना कर दी, जो जगत्प्रसिद्ध हो रही है और भारत के विज्ञान की सम्पत्ति बढ़ा रही है। अन्नामलाई चेटी ने तीस लाख रुपये के दान से एक पूरी यूनिवर्सिटी (विश्वविद्यापीठ) चला दी। बिड़ला कुटुम्ब नें भी बीस-पच्चीस वर्ष मे प्राय: कई कोटि रुपयों के दान से कई युनिवर्सिटियों की बड़ी सहायता की; एक छोटी युनिवर्सिटी ही के ऐसे लड़के-लड़कियों के स्कल कालिज, पीलाणी नगर मे स्थापित कर के चला रहे हैं; वैदिक हिन्दू, बौद्ध हिन्दू, जैन हिन्दू, सिक्ख हिन्दू, अछूत हिन्दू आदि के परस्पसर वैमनस्य को मिटाने के लिये

दिया, और साथ ही उसके तीन टुकड़े कर डाले, (१) भारत और (२–३ पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान, जिस विभाजन के कारण, समग्र भारत मे रुधिर की नदियाँ, जो पहिले ही कई वर्ष से बह रही थीं, और अधिक वेग और आप्लाव से बहने लगीं, और अब भी सन् १९५४ ई० मे) कहीं न्यून कहीं अधिक बह रही हैं, हिन्दुओं मुसल्मानों के मार-काट से। भारत के स्व-राज मे, शासकों के अनुभवऽभाव से, तथा प्राचीन मुनि और ऋषियों द्वारा उपदिष्ट वर्णाश्रमात्मक समाज व्यवस्था के धर्म के अज्ञान से कई बड़ी भूलें भी हो रही हैं।

विविध यत्न कर रहे हैं; काशी के सारनाथ मे अन्य दूर के देशों से आये हुए चीनी, बर्मी, तिब्बती आदि यात्रियों की सुविधा के लिये धर्मशालाएं बनवा दी हैं, कई तीर्थस्थानों मे जनता को स्थायी और सच्चा प्रत्यक्ष उपकार करने वाले पुल, घाट, घंटाघर, बनवा दिये हैं, अस्पताल और सूतिका-गृह बनवाये हैं, और चला रहे हैं, सिख संघतों का जीर्णोद्धार कराया है 'हरिजनो' के उद्धार के लिये उन के लड़कों के लिये, तथा अन्य दरिद्र छात्रों के लिये बहुत दिया है और दे रहे हैं, इत्यादि। ऐसे ही सर दामोदर ठाकरसी ने पंद्रह लाख रुपये के दान से, अपनी पत्नी के नाम से स्त्रियों की शिक्षा के लिये एक 'वुमन्स युनिवर्सिटी' ही स्थापित कर दी है। लाहौर मे, सर गंगाराम ने, अपने जीवनकाल मे, प्रायः डेढ़ कोटि रुपया, ऐसे ही सार्वजनिक परमोपयोगी कार्यों के लिये, व्यय किया; विधवाओं की सहायता के लिये 'विडोज़ होम' और स्कूल कालिज स्थापित किये; सिक्खों की समय-समय पर बड़ी सहायता की, कई नये गुरुद्वारे बनवा दिये; भारी अस्पताल स्थापित किया जो गवर्मेंटी अस्पताल का मुक़ाबिला करता है। श्री शिवप्रसाद गुप्त जी ने दस लाख रुपये की 'हरप्रसाद शिक्षानिधि' बना कर और चार पांच लाख रुपये और खर्च कर के, काशी विद्यापीठ और भारतमाता मंदिर को, और एक बड़े पुस्तकागार ('स्वाध्यायपीठ') को चला दिया। श्री मदनमोहन मालवीय ने तीस पैंतीस वर्ष की तपस्या और अथक परिश्रम से काशी-विश्वविद्यालय (बनारस यूनिवर्सिटी) को, राजा महाराजों, सेठ साहूकारों, छोटे बड़े रोज़गारियों से प्रायः ढाई करोर रुपया जमा कर के चला रक्खा है; इत्यादि। और भी बीच-बीच मे, पत्रों मे खबर देख पड़ती है, अन्य उदार हृदय वाले सज्जनो के किये हुए दो-दो चार-चार आठ-आठ दस-दस पचास-पचास लाख रुपयों तक के दानो की, ऐसे ही सत्कार्यों के लिये। ऊपर कहे सब दानो से बड़ा दान आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय का हुआ है, रुपयों की संख्या के नाते नहीं; अपितु त्याग और तपस्या और हृदय के परम सात्त्विक भाव के नाते; ८३ वर्ष शरीर धारण किया, अविवाहित ब्रह्मचारी ही रहे, सारी उमर

विद्यार्थियों की "ज्ञानेन अन्नेन च अन्वहं (मनु०)", ज्ञान से भी, रुपये पैसे से भी, सहायता की, उन्हीं को संतति जाना माना, 'विज्ञान' का उत्कर्ष किया, भारत मे भी, पश्चिम के देशों मे भी, 'वैज्ञानिकों' की मंडली मे यश पाया, और भारतमाता का सिर ऊँचा किया, बड़े कारखाने अपने शिष्यों से खुलवाये, कलकत्ता युनिवर्सिटी से जो मासिक पुरस्कार पारिश्रमिक पाया, और लाखों रुपये का मुनाफा, उन के हिस्से का, उन कारखानों से, उन को मिला वह सब, पैसा-पैसा जहाँ से आया वहीं वापस दान दे दिया, उन्हीं वैज्ञानिक कार्यों और विद्यार्थियों की सहायता के लिये; अपने लिये, सादे-से-सादा, शरीरयात्रा मात्र के लिये कठिनता से पर्याप्त अन्न-वस्त्र लिया; मै ने उन को कई बार फटे-पुराने कपड़े पहिने हुए, सर्वजनिक सभाओं मे देखा है, और एक बेर कलकत्ता मे, 'पालित इंस्टिटयूट आफ़ सायंस' के तिमंजिले पर, एक बड़े लम्बे-चौड़े-ऊँचे कमरे मे देखा, जिस मे सिवा एक 'टुटुआं खाट' (फ़ोलडिङ्-बेड') के और कुछ नहीं था; और वह खाट एक कोने मे दीवार से सटी थी उस पर कपड़ा नहीं अखबार के बड़े-बड़े पन्ने बिछे थे, और उन पर आचार्य राय लेटे थे; मुझे देख कर मुस्तैदी से उठे और चारो ओर कारख़ाना दिखाने को लिवा ले गये ।

हे भाई होम-हवन वालो ! छोड़ो इन थोथे आडम्बरों को ! आचार्य राय की पदवी मे चलने का यत्न करो, यदि देश का हित चाहते हो तो! आचार्य राय, जन्मना नहीं, कर्मणा सच्चे उत्तमोत्तम 'ब्राह्मण' थे; आप भी वैसे 'ब्राह्मण' बनो ! भारत मे परमात्मा की इच्छा से, अब कोई कोई ऐसे श्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न हुए और हो रहे हैं, जैसे लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सर जगदीशचन्द्र वसु, सर चन्द्रशेखर रमण, डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य नरेन्द्र देव, श्री जवाहरलाल नेहरू, और सर्वोपरि, श्रीमती ऐनी बिसेंट, जिन्होंने अपने को हिंदू और भारत की पुत्री बना लिया और सब हिंदुओं ने भी उनको ऐसा ही माना; सर राधाकृष्णन, आदि, जो

भारतमाता के, धूल-गर्द मे गिरे हुए, सिर को उठा कर ऊँचा किये और कर रहे हैं, और विदेशों मे उस माता के खोये हुए आदर को फिर से बढ़ा रहे हैं; उन का आप स्वयं आदर करो, उन के कार्यों मे सहायता दो, उन कार्यों मे जो कमी हो उस को पूरी करो !

भारत के बाहर निगाह फैलाओ तो देखोगे कि यहाँ यदि लाखों रुपयों का दान सार्वजनिक कार्यों के लिये होता है तो वहाँ कोटियों डालरों का होता है; (एक डालर, तीन रुपये के तुल्य होता है)* । उन का ब्यौरा कहाँ तक लिखा जाय; दो ही का उल्लेख पर्याप्त होगा । ऐन्ड्रू कार्नेगी ने अपनी जिन्दगी मे प्रायः बीस कोटि डालर (साठ कोटि रुपये) के दान बड़े-बड़े सार्वजनिक कार्यों के लिये दिये; और जान राकफ़ेलर ने साठ कोटि डालर (एक सौ अस्सी कोटि रुपये) । कई कोटि-पतियों ने कई-कई कोटि डालरों के एक-एक चेक से एक-एक पूरी यूनिवर्सिटी क़ायम कर दी, जैसे 'जान्सहाप्किस् युनिवर्सिटी', 'लेलैंड स्टान्फ़ोर्ड युनिवर्सिटी' आदि । अवश्य, ऐसी भारी सम्पतियों के एकत्र करने मे, भारी पाप भी जाने अन-जाने हो जाते ही हैं; उनका प्रायश्चित और परिमार्जन भी ऐसे-सार्वजनिक सत्पात्रों-सत्कार्यों के लिये महा दानो सच्चे महा यज्ञों, सच्चे महा-पुण्यों, से ही होता हैं ।

देखिये, भारतीय स्त्रियों को सहायता के लिये स्व-देश-भक्त, स्वजाति-भक्त, सद्हृदय, विश्वसनीय, सच्चे धर्मिष्ठों ने 'कस्तूरबा-कोष' के नाम से, शुद्ध लोकोपकार-भाव से, पचहत्तर लाख रुपये जमा करने का संकल्प किया है;[1] इस से, देश के सब प्रान्तों मे, जहाँ-जहाँ अधिक

---

* अब कई वर्षों से, पाँच रुपये के तुल्य ।

१. प्रायः जून, १९४४, मे इस कोष के लिये चन्दे की माँग और वसूली का काम बन्द कर दिया गया; उस समय, 'अनुष्ठान' से सवाई रक़म, प्रायः सवा कोटि रुपया जमा हो गया था; इस से सिद्ध होता है कि यदि एक अंश, जनता का, लकीर का फ़क़ीर बना हुआ है, और नये

आवश्यकता है, सूतिका-गृह बनाये और चलाये जायँगे, जिनसे लाखों स्त्रियों और बच्चों की प्राण-रक्षा, प्रसूति के घोर संकट के समय मे होगी; तथा लाखों लड़कियों और गृहिणियों को गार्हस्थ्योपयोगी शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जायगा। यदि आप भी सच्ची धर्मधुरंधरता की सत्कीर्ति कमाना चाहते हों तो अपने अनुयायी सेठ-साहूकारों को परामर्श दीजिये कि ऐसे उत्तम सद्-धर्म के कार्यों मे सहयोग करें; आप स्वयं स्मरण कीजिये और उन को कराइये, कि "धारणाद् धर्म इत्याहुः, धर्मो धारयति प्रजाः (म० भा०)", जिस ज्ञान से, जिस कर्म से, प्रजा का धारण हो, भरण-पोषण हो, परस्पर स्नेह-प्रीति के बन्धनों से हृदय-बंधन हो, वही सद् धर्म है; थोथा कर्मकांड नहीं। स्त्रियों की, भारत मे, उचित शिक्षा के अभाव से, उचित आदर-सत्कार के अभाव से, तिरस्कार से जो दुर्दशा हो रही है, वह किसी से छिपी नहीं है; स्त्रियों की दुर्दशा से, बच्चों की, ततः पुरुषों की और कुलों की, ततः समय समाज की, दुर्बुद्धिपूर्णता और दुर्दशा हो रही है।

शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यति आशु तत् कुलं;
न शोचन्ति तु यत्र एताः, वर्धते तद् हि सर्वदा;
जामयो यानि गेहानि शपन्ति अप्रतिपूजिताः,
तानि कृत्याहतानि इव विनश्यन्ति समन्ततः।

(म० अ० ३, श्लो० ५७—५८)

जिस कुल मे स्त्रियाँ सुखी हैं, वह सदा फूलता-फलता है; जहाँ ये दुःखी हैं, जिस कुल को ये शाप देती हैं, वह, मानो बिजली का मारा, आ-मूल नष्ट हो जाता है। भारत की दशा देख कर, तथा पाश्चात्य समाज मे स्त्रियों की कार्यक्षमता, बुद्धि का उत्कर्ष, बुद्धि-बल-युक्त सन्तान

समय, नई अवस्था, की आवश्यकताओं को नहीं पहिचानता, अथ च दूसरों को, पहिचानने से रोकता है, तो दूसरा अंश, जनता का, इनको अच्छी तरह पहिचानने लगा है।

की मातृता, को देख कर, पाश्चात्य शिक्षा पाये कुछ सहृदय भारतीयों ने, नये क़ानून बनवा कर, स्त्रियों को कुछ हक़, अधिकार सम्पत्ति आदि के विषय मे, दिलाने का यत्न आरम्भ किया है; इस पर, 'धर्म-धुरंधर' सज्जनो ने, देश मे, चारो ओर, विरोध का कौआ-रोड़ मचाना और मचवाना शुरू किया है—'स्त्रियाँ नष्ट,भ्रष्ट हो जायँगी, धर्म नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा, दौड़ो, विरोध-सूचक कागज पर दस्खत करो।' माना कि जो नये क़ानून सोचे-विचारे जा रहे हैं, उन से नई और बड़ी आपत्ति-विपत्तियों की उत्पत्ति का भय है; पर वर्त्तमान रीति मे तो बहुत अधिक दुर्दशा है, बहुत अधिक दोष है; यदि वह आपत्ति-विपत्तियाँ भविष्य मे सम्भाव्य हैं, तो इन विद्यमान दोषों से पैदा हुई आफ़तें तो वर्तमान काल मे प्रत्यक्ष अनुभाव्य और अनुभूत और प्रवृत्त हैं, इन के प्रतीकार के लिये, आप 'धर्माधिकारी' लोग कोई उपाय कर रहे हो, किसी उपाय की सूचना भी देते हो, या केवल सब नई बातों का विरोध ही करना जानते हो ? रेल, तार, घड़ी, साइकल, रेडियो आदि नई चीजों का भी विरोध आपः लोग क्यों नहीं करते हो ? प्रत्युत, स्वयं उन का उपयोग उपभोग करते हो, यह आश्चर्य है ! पनाली मे दूध बहाने से ही सब दुर्दशा के स्थान मे सुदशा क्या आ जायगी ?

यदि आप अपने ही सनातन, वैदिक, आर्य, मानव धर्म का मर्म समझते जानते, तो आप को 'कर्मणा वर्णः' और 'वयसा आश्रमः' की समाज-व्यवस्था मे, अनुभूयमान और संभावनीय सभी आपत्तियों का प्रतीकार देख पड़ता। परंतु, इस प्राचीन समाज-व्यवस्था के मार्मिक रहस्य की ओर, उस की सर्व-समस्यापूरकता, सर्व-प्रश्न-उत्तारकता, सर्व-सामाजिक-रोग-चिकित्सकता की ओर, न नया क़ानून बनवाने वालों का, न पुरानी (किंतु 'मध्यकालीन' कर्मकांड की) लकीर पीटने वालों का, ध्यान जाता है। कैसे जाय ? 'नव'–वादी तो 'पुराण' के नाम ही से चिढ़ते हैं और 'पुराण'–वादियों का ध्यान तो सब प्रकार से अपना बड़प्पन, सम्मान से, अधिकार से, धन से, भोग विलास से, बढ़ाते रहने की ओर

लगा है। इस ओर, चालीस, पैंतालीस,[1] वर्ष से, जनता का ध्यान दिलाने का यत्न कर रहा हूँ पर मेरे किसी पाप से 'हिन्दू—भीड़-हृदय-ग्राहिणी' तपस्या के सूचक वेश और रूप का धारण न कर सकने से, मेरा यत्न अभी तक सफल नहीं हुआ है; अथवा इस हेतु से कि देश के ही सामूहिक पाप का, अभी तक, अधिक दुःखानुभवों से, पर्याप्त प्रायश्चित्त नहीं हुआ है। जो कुछ भी हो—'हरीच्छा शिरसा धार्या।'

अब हवा इतनी तो बदली है कि तिरस्कार-द्योतक 'बनिया' शब्द से, कहे जाते 'वैश्य-वर्ग' के कुछ लोग संस्कृत-विद्या की ओर ध्यान देने लगे हैं; कई सज्जनो ने अच्छी योग्यता स्वयं भी प्राप्त कर ली है, वेदान्त पर और भक्तियोग पर हिन्दी मे, कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ भी लिखे हैं; और छोटी-मोटी संस्कृत की पाठशालाएँ भी इधर-उधर चला दी हैं; काशी में स्यात् तीस-चालीस ऐसी होंगी; पर आश्चर्य है कि स्वयं संस्कृत-ज्ञ 'वैश्य' होते हुए भी, इन लोगों ने यह क़ैद लगा रखी है कि इन पाठशालाओं मे पढ़ने और पढ़ानेवाले 'ब्राह्मण-जाति-नामधारी' ही हों, और वेतन और वृत्ति पावें; और आश्चर्य से अधिक खेद यह है कि इन मे, अधिकतर, 'टिड्ढाणञ् द्वयसच् , चुटू , दीधीवेवीटाम्' आदि की कोरी व्याकरण की, और उस से भी अधिक शुष्क और व्यर्थ 'विशेष्यता-प्रकारता-विषयता' और 'अवच्छेदकावचिछन्नता' की नव्य न्याय की रटाई कराई जाती है। ऐसे संस्कृतज्ञ सेठ-साहूकारों से मेरी विनम्र विनीत प्रार्थना है कि, संस्कृत भाषा के ज्ञान का प्रचार अधिकाधिक अवश्य कीजिये, किंतु नव्य व्याकरण, नव्य न्याय, नव्य वेदान्त, नव्य मीमांसा आदि पर, जिन मे क्लिष्ट और कटु शब्द बहुत अधिक और उपयोगी अर्थ बहुत थोड़ा है, मानस और शारीर शक्ति की बरबादी मत कराइये; प्रत्युत, प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के द्वारा, व्यक्ति के चित्त और शरीर के पोषक और समाज के उपकारक, शास्त्रों का ज्ञान खूब फैलाइये; और साथ ही साथ, अंग्रेज़ी भाषा का

---

१. अब प्रायः अट्ठावन।

का ज्ञान अवश्य कराइये, जिस से विद्यार्थियों के लिये नये पाश्चात्य विज्ञान के खजाने का दर्वाजा खुल जाय। बिना प्राचीन और नवीन के, बिना 'फिलासोफ़ी' और 'सायंस' के, समन्वय के, भारत का कल्याण नहीं; न किसी अन्य पाश्चात्य पौरस्त्य देश का ही। मित्रों से मैं अक्सर कहा करता हूँ—कोषागार, रत्नभांडार, हमारा ही; आंखें हमारी ही; पर भांडार की मंजूषाओं को धूल-गर्द के ढेर ने दबा कर छिपा दिया है, और उस के ऊपर मिथ्या कर्मकांड और असत्-'शास्त्रों' की मकड़ियों ने जाला भर दिया है, कोठरी मे अंधेरा छा दिया है, हमारी आंखों मे भी धुंध पैदा कर दी है; जब तक हम पच्छिम के विज्ञान के लम्प-लालटेन ('लैम्प लैनटर्न') से काम न लेंगे, वहां की परीक्षिणी-विवेकिनी बुद्धि की झाड़ू से धूल-गर्द, जाला-मकड़ा, को न झाड़ेंगे, तब तक हमारे ही पुश्तैनी रत्न हम को न सूझेंगे। द्वितीय अति दारुण विश्व-युद्ध की घोर प्रसव-वेदना से (जो २–९–१९४५ को, जापान के हार मानने पर समाप्त हुआ) नया युग जन्म ले रहा है, उस के उचित पालन-पोषण के लिये, अध्यात्म-अधिभूत का समन्वित प्रज्ञान-विज्ञान ही उत्तम क्षीर है, पायस दुग्धोदन है। कभी-कभी तो बड़ी निराशा होती है,

देख कुपुत्रों की करतूतैं, भारत माता रोती है,
रही सही सब आस पुरानी, तजि धीरज अब खोती है;

पर नहीं, ऊपर कहे सत्पात्रों, सत्कर्मों के लिये किये गये महादानों से, तथा महात्मा गांधी और आचार्य राय, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा हंसराज, के ऐसे भारत के सुपुत्रों की जीवनी से, फिर आशा बँधती है, और प्राचीन ऋषियों की आज्ञा है।

उत्थातव्यं, जागृतव्यं, योक्तव्यं भूतिकर्मसु,
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा, सततं अव्यथैः;

जागो, उठो, अच्छे कार्यों मे लगो, जिन से देश मे, समाज मे, भूति, विभूति आवै, और सब थकावट, व्यथा, शोक को दूर कर के मन मे

दृढ़ निश्चय बांधो, कि हमारा निस्स्वार्थ सत् लक्ष्य अवश्य सिद्ध ही होगा।

अन्त मे पुनः सब शास्त्रवादी सज्जनो से, मेरा विनम्र विनीत निवेदन है कि, आप को शास्त्र मे आस्था है तो मुझ को भी शास्त्र मे आस्था है, पर किस 'शास्त्र' मे ? देखिये; जैमिनि का 'मीमांसा-सूत्र' धर्मशास्त्र का एक प्रधान ग्रंथ माना जाता है; श्रुति-स्मृति के तात्पर्य का निर्णय करने के लिये रचा गया; उसका भाष्य, 'शाबर-भाष्य', शबर स्वामी ने बनाया; उसकी टीका, तीन भागों मे विभक्त, 'श्लोकवार्त्तिक-तंत्रवार्तिक-टुप्टीका,' कुमारिल भट्ट ने रचा। शबर ने कई जगह प्रसिद्ध स्मृति के प्रसिद्ध श्लोक को अप्रामाणिक लिखा है यथा, "फलार्थिनी सती स्मृतिं अप्रमाणीकृत्य, द्रव्यं परिगृह्णीयात् यजेत च।...'भार्यादयो निर्धनाः' इति स्मर्यमाणमपि निर्धनत्वमन्याय्यमेव", मी० सू०, अ० ६, पा० १, सूत्र १, ३–१४, इत्यादि। कुमारिल ने भी स्मृति का प्रतिवाद किया है, यथा, "अतः स्मृतिर् व्यामोहः, हेतुदर्शनात्" मी० सू०, १–३–२; तथा "विरुद्धा च विगीता च, दृष्टार्था, दृष्टकारणा, स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्, या चैवासम्भवश्रुतिः", तं. वा. स्मृत्यधिकरण; यह श्लोक, मेधातिथि ने अपनी मनु-टीका मे, अ० २, श्लोक १८, पर उद्धृत किया है। कुमारिल ने शबर का भी कई स्थलों पर खंडन किया है, (यथा, 'ततश्च भाष्य-कारेण यदिहोक्तमचिंतितं, वाक्यभंग्यन्तरं, तत्र, कर्त्तव्योऽतीव नादरः" १–३–६)। कुमारिल बड़े स्वतंत्र विचार के स्पष्ट-वक्ता थे; अपने समय मे प्रचलित, उत्तर-भारत दक्षिण-भारत के ब्राह्मणो के अनाचारों दुराचारों की फ़िहरिस्त, तंत्रवार्तिक मे लिख गये हैं। ऋत्विक् पुरोहितों के विषय में साफ़ लिखा है कि श्रद्धालु यजमान को कर्मकांड के किसी प्रयोग मे फँसा कर, फिर उस में शाखा-प्रशाखा निकालते हुए, कर्मों की परंपरा को बढ़ाते ही चले जाते हैं, और पद-पद पर दक्षिणा माँगते और लेते चलते हैं, तथा अपने मन से अपने मतलब की श्रुतियाँ स्मृतियाँ गढ़ते रहते हैं, "लोभपूर्वकत्वकल्पनमेवोपपन्नमिति निर्णयात् संदेहनिवृत्तिः" अर्थात्, यह

सब नई कल्पना लोभमूलक है, यही निर्णय है, तं. वा., १-३-४ ।[1] इस विषय का विस्तार, पं० इंदिरारमण शास्त्री ने, 'मानव-आर्ष-भाष्य' के पृ० ४२९-३० पर किया है । उस समय मे, जब भारत मे 'स्वराज्य' रहा

---

१. डाक्टर मंगलदेव शास्त्री भूतपूर्व, गवर्मेंट संस्कृत कालेज, काशी, ने, स्वामी श्रद्धानन्द जी के हाथ से प्रतिष्ठापित, प्रसिद्ध संस्था, गुरुकुल कांगड़ी, के ४३ वें वार्षिकोत्सव मे, १९ चैत्र २००१ वि० (३१-३-१९४५ ई०) को, संस्कृत मे, सार-गर्भ, समयोचित, देशोपयोगी भाषण किया, उस मे, स्वयं 'श्रुति' अर्थात् 'ऐतरेय ब्राह्मण' के वाक्यों से दिखाया कि राजस तामस प्रकृति के ऋत्विक् याजक, भोले (किन्तु ऐहिक आमुष्मिक फलों के लोभी) यजमानों को धोखा देते और लूटते हैं । वह वाक्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :—

"यथा ह वा इदं निषादाः वा, सेलगाः (चोराः) वा, पापकृतः, वित्तवंतं पुरुषं अरण्ये गृहीत्वा, कर्त्तं अन्वस्य (गर्त्ते प्रक्षिप्य), वित्तमादाय द्रवंति, एवमेव ते ऋत्विजः, यजमानं कर्त्तमन्वस्य वित्तं आदाय द्रवंति यं अनेवंविदो याजयंति ।" (ऐतरेयब्राह्मणं, ८ । ११) अर्थात् जैसे जंगल के पापी क्रूर निषाद वा चोर, किसी धनी व्यापारी पुरुष को पा कर पकड़ लेते हैं, और उस को गहिरे गढ़े में डाल कर, उस का सब धन ले कर, भाग जाते हैं, उसी तरह से, जो ऋत्विक् वञ्चक क्रूर प्रकृति के होते हैं वे, यजमान को धोखे भुलावे के गढ़े मे, भ्रम मे, डाल कर, उस का धन ले कर, चल देते हैं । इसी ऐतरेय ब्राह्मण मे, अन्य स्थल पर, (३।४६) बताया है कि किस प्रकार के ऋत्विक् वर्जनीय हैं, वरण करने के योग्य नहीं हैं—एक वे जो धन पाने की लालच से याजक बनना चाहते हैं; दूसरे वे जो डरा धमका कर यज्ञ कराते हैं, 'ऐसा न करोगे तो तुम पर यह आफत आवेगी', तीसरे वे जो अपराधी अभिशस्त (मुज्रिमो) के ऋत्विक् बनते हैं । "यथा वांतात् मनुष्याः बीभत्संते, एवं तस्माद् देवाः" ऐसे ऋत्विजों से, देवता वैसी बीभत्सा करते हैं जैसे वमन किये हुए पदर्थ से मनुष्य । ऐसी दशा मे, जब याचक भी लोभी, यजमान भी

और वह आज के ऐसा अधःपतित पददलित नहीं था, तब यदि लोभी पाखंडी ऋत्विक् पुरोहित कर्मकांडी होते थे, तो उन को रोकने वाले, उन की पोल खोलने वाले, स्वतंत्र विचारों के पोषक, अंधश्रद्धा के धर्षक, उद्भट विद्वान् भी होते थे, ऐसों मे, नितरां अग्रगण्य और शिरोमणि, कृष्ण, महाभारत भागवत आदि के प्रधान नायक,अप ने युग के सूत्रधार, नये युग के प्रवर्तक हो गये हैं। मुझे तो कृष्ण के कहे शास्त्र मे आस्था है। गीता मे 'शास्त्र' शब्द पाँच बेर आया है, एक बार अर्जुन के प्रश्न मे, चार बार कृष्ण के वचनों मे; और स्वयं कृष्ण ने निर्णय कर दिया है कि यह "अध्यात्मविद्या विद्यानां", जो मै ने अर्जुन को सिखाया, वही, "इति गुह्यतमं शास्त्रं इदं उक्तं मया, अनघ" ! है, और "एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्, कृतकृत्यश्च, भारत !" तथा पुनः पुनः "इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि", "ज्ञानं विज्ञानसहितं", "इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं," इत्यादि। राम, कृष्ण, बुद्ध, शंकर, रामानुज, मूसा, ईसा, जर्दुश्त, मुहम्मद, आदि के, अथ किं सर्व 'मानव' जाति के, आदि प्रजापति 'मनु' की भी यही आज्ञा है, कि, अध्यात्मशास्त्र, आत्मविद्या, केवल निवृत्तिमार्ग की ही उपयोगी नहीं है, अपितु प्रवृत्तिमार्ग की भी, नितरां, सुतरां; वर्णाश्रम धर्म की तो वही नीवी है ;

> न हि अन्-अध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलं उपाश्नुते;
> सैनापत्यं च, राज्यं च, दंडनेतृत्वमेव च,
> सर्वलोकाधिपत्यं वा, वेदशास्त्रविद् (वेदांतविद्) अर्हति
> (मनु० ६-८२; १२-१००)

लोभी, तब 'ज्ञान-यज्ञ' ही का प्रचार अच्छा है; इसी से दोनों का कल्याण होगा।

ज्ञानेनैवापरे विप्राः यजन्त्येतैर्मखैः सदा, ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यंतो ज्ञानचक्षुषा (मनु, ४. २४); सब क्रियाओं, यज्ञो, महायज्ञो, का मूल ज्ञानी ही है; इस लिये, उत्तम विप्र, द्विज, ज्ञान-यज्ञ ही करते हैं।

(इस सब की विस्तृत व्याख्या देखने की रुचि, किसी पाठक सज्जन को हो तो वे मेरे हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी ग्रन्थों को देखें, विशेष कर 'मानव-धर्म-सारः' 'समन्वय', 'पुरुषार्थ' 'ऐसेन्शल युनिटी आफ् आल् रिलिजन्स्', 'वर्ल्ड्-वार ऐण्ड इट्स् ओन्ली क्यूर-वर्ल्ड रिलिजन ऐण्ड वर्ल्ड-आर्डर', तथा पं० इन्दिरारमण शास्त्री के, हिन्दी-आशयानुवाद-सहित संस्कृत ग्रन्थ मानव-आर्ष-भाष्यं को ।)

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धिं आप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु । ॐ

परिशिष्ट

इस पुस्तिका के प्रथम संस्करण को पढ़ कर, कुछ सज्जनो ने छपी पुस्तिका, वा छपे पत्र, वा हस्तलिखित पत्र भेजे हैं। उन मे प्रश्न पूछे हैं, शङ्का उठाई है, उत्तर चाहा है। यथामति, यहाँ उत्तर लिखने का यत्न करता हूँ।

१—मैं ने तो मनु की आज्ञा के अनुसार, उनके वचन का उद्धरण कर के, "प्रत्यक्षं च, अनुमानं च, शास्त्रं च, विविधागमं", तीन प्रमाण, परस्पर सहायक माने हैं; और लिखा है कि चार्वाक भी, अन्य किसी प्रमाण को नहीं मानता, वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता ही है। किन्तु, किसी कारण से एक सज्जन को यह भ्रम हो गया कि "डाक्टर साहब चार्वाक सदृश एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण के उपासक बन गये, उन का यहाँ तक विचार बन गया कि सभी लोग एक स्वर से प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकार करते हैं, पर प्रत्यक्ष प्रमाण की सर्वसम्मत परिभाषा डा० साहब ने कहीं पर भी नहीं लिखी,……इस लेख के उत्तर मे लिखें"।

उत्तर—'सर्वसम्मत' तो स्यात् कोई भी प्रतीत न होगी। यद्यपि वेदान्तियों ने (यथा वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' मे) लिखा है कि, "नहि कश्चित् संदिग्धे, अहं वा, नाहं वा, इति", कोई भी ऐसा सन्देह नहीं करता कि मै हूँ, कि नहीं हूँ; तथापि स्यात् ऐसी भी शङ्का करने वाले कोई सज्जन, खोजने से मिल ही जावैं। पर 'बहुसम्मत' परिभाषा, प्रत्यक्ष प्रमाण की यों जान पड़ती है—

(१) एक तो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, विषयों का प्रत्यक्ष, जिसको ले कर, प्रायः, अन्य प्रमाण चलते हैं, और अनुमान आगम आदि से जब किसी प्रप्यक्ष का बोध होता हो, तब वह अनुमान आगम आदि, किसी दूसरे अधिक निश्चित निर्भ्रम प्रत्यक्ष के बल से चलते हैं; जहाँ तक मै

ने सुना है, न्याय आदि कोई दर्शन, इस मत का विरोध नहीं करता।

(२) आत्मा का, चेतन चैतन्य का, आत्म-साक्षात्कार रूप प्रत्यक्ष उसके विषय मे लिखना तो समग्र वेदांत को दोहराना होगा; यहाँ पर केवल दो-चार श्लोक, योगवासिष्ठ के लिख दिये जाते हैं।

सर्व-प्रमाण-सत्तानां पदं, अब्धिर् अपां इव,
प्रमाणं एकं एव इह, प्रत्यक्षं तद् ; अतः, शृणु,
सर्वाक्षसारं अध्यक्षं, वेदनं विदुर् उत्तमाः;
नूनं तत् प्रतिपत्सिद्धं, तत् प्रत्यक्षं उदाहृतं;
अनुभूतेर्, वेदनस्य, प्रतिपत्तेर्, यथाविधं,
प्रत्यक्षं इति नाम इह कृतं, जीवः स एव न।
स एव संवित्, स पुमान् अहंता-प्रत्ययात्मकः;
सः यया उदेति संवित्या, सः पदार्थः इति स्मृतः।
(२.प्र.अ.१९)

उक्त सज्जन के एक सहकारी मित्र ने, उन के लेख की पूर्ति के लिये जो लेख लिखा है, उसी लेख के कुछ वाक्यों की ओर उक्त सज्जन का ध्यान दिलाता हूँ। "आनुमानिक पदार्थ तभी तक प्रस्फुरित होते हैं, जब तक प्रत्यक्ष शास्त्र से उन का मूल नहीं कट जाता। मूल कटने पर प्रस्फुरित होती हुई भी स्मृतियां, निराधारत्व दोष से, उसी तरह दीर्घ-जीवी नहीं हो सकतीं जैसे मूल कट जाने पर शाखाएं,

तावदेव स्फुरंत्यर्थाः पुरस्ताद् आनुमानिकाः,
यावत् प्रत्यक्षशास्त्रेण मूलं एषां न कृत्यते;
कृत्तमूलाः स्फुरन्त्योऽपि स्मृतयो न चिरायुषः,
निराधारत्वदोषेण, शाखा इव वनस्पतेः।"

२—एक सज्जन ने यह भी लिखा है कि, "डा० साहब के लेख मे शास्त्रवादी का अर्थ है—बुद्धिशून्य, और बुद्धिवादी का अर्थ है—शास्त्रशून्य"।

उत्तर—न मेरे मन मे ही यह बात कभी भी थी, न मेरे लेख मे।

समीक्षक सज्जन के मन मे यह भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ, मैं नहीं कह सकता। यदि समाजवाद और व्यक्तिवाद पर विचार किया जाय, तो क्या व्यक्तिवाद का अर्थ 'समाजशून्य' और समाजवाद का अर्थ 'व्यक्ति-शून्य' समझा जायगा ? पूंजीवाद और सेनावाद के परस्पर संम्प्रधारण मीमांसन (मुक़ाबिले) मे क्या पूंजीवाद का अर्थ 'सेनाशून्य' और 'सेना-वाद' का अर्थ 'पूंजीशून्य' है ? हे भाई ! ऐसे भ्रम मे क्यों पड़ते हो ! "वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वादः", 'प्राधान्यात्तु तद्वादः' 'भूयसा व्यपदेशः'। 'वाद' शब्द केवल एक वैशेष्य, प्राधान्य, भूयस्त्व, की सूचना करता है। दूसरे के अत्यन्ताभाव की नहीं। यह तो प्रसिद्ध संकेत है; इस मे क्यों भूल ? 'शास्त्र-वादी' का अर्थ केवल इतना ही है कि वह पुरुष, 'शास्त्र' को प्रधान और 'बुद्धि' को गौण मानता है; एवं 'बुद्धिवादी', बुद्धि को प्रधान और 'शास्त्र' को गौण मानता है।

इस संबंध मे यह लिख देना उचित होगा कि एक अन्य सज्जन ने मेरी पुस्तिका के विचारों की परीक्षा करते हुए, एक पत्र के कई अंकों मे "बुद्धिमित्र या बुद्धिशत्रु" शीर्षक से, कई लेख छपाये हैं। यह शब्द-शैली सर्वथा उचित है। इस का स्पष्ट अर्थ यह है कि 'कौन बुद्धि सच्ची है कौन कच्ची है, इस की जांच, बुद्धि द्वारा ही, इन लेखों मे की जा रही है'। अर्थात् 'बुद्धि' को ही अन्तिम निर्णायक और प्रधान मान लिया है, जो ही मेरा निवेदन है।

मनु की आज्ञा है,

नित्यं शास्त्राणि अवेक्षेत बुद्धिवृद्धिकराणि च। ४-१९।

शास्त्रों को नित्य देखना ही चाहिये; पर कौन शास्त्र ? जिन से बुद्धि की वृद्धि हो, कुण्ठन बिनाशन न हो। महाभारत मे कहा है,

यं तु हिंसितुं इच्छन्ति, न देवाः पशुमारवद्,
शस्त्रं आदाय हिंसंति, दुर्बुद्ध्या योजयंति तं।
यं तु रक्षितु इच्छंति, न देवाः पशुपालवद्,
दंडं आदाय रक्षंति, सद्बुद्ध्या योजयंति तं।

'देवता जिस का नाश करना चाहते हैं, उस को शस्त्र ले कर नहीं मारते, उस की बुद्धि बिगाड़ देते हैं, जिस से वह अपना नाश स्वयं कर लेता है; एवं जिस की रक्षा करना चाहते हैं, उस को सद्बुद्धि देते हैं। जिस से वह अपनी रक्षा स्वयं कर लेता है।'

—उक्त सज्जन ने लिखा है—"वे (अर्थात् मै, भगवान्दास) निर्णायक हो ही नहीं सकते"। निश्चयेन, मै समस्त जनता के लिये निर्णायक न हूं, न हो सकता हूँ। मै ने तो केवल अपने पक्ष के प्रतिपादन और साधन का, तथा प्रतिपक्ष की त्रुटि का दर्शन और उसका बाधन करने का यत्न किया है। निर्णायक तो पाठक सज्जन होंगे। वे भी अपनी बुद्धि से ही काम लेंगे और निर्णय करेंगे।

४—उक्त सज्जन ने लिखा है—"मुख्य प्रश्न (१)—आचार्य-परम्परा से शास्त्राध्ययन-शून्य एक व्यापारी धनी, वैश्य, पाप-पुण्य का निर्णायक हो सकता है क्या ?"

उत्तर—किसी विशेष व्यक्ति पर, उक्त विशेषणो का अध्यारोप न कर के, सामान्य रूप से ही, इस का उत्तर, प्रतिप्रश्न के रूप मे यह हो सकता है—उक्त विशेपण से विशिष्ट कोई पुरुष ऐसा प्रश्न करने का अधिकारी हो सकता है क्या ? उस को ऐसे पाप-पुण्य के विषय मे, सर्वथा मौन ही न रहना चाहिये क्या ? आचार्य-परम्परा से शास्त्रा-ध्ययन-परिपूर्ण अ-व्यापारी, अ-धनी, अ-वैश्य (? ब्राह्मण वा, क्षत्रिय वा, शूद्र वा ?) ही निर्णायक हो सकता है न, और उसी को ऐसे विषय मे मुह खोलने का अधिकार है न, क्या ?"

हे भाई ! लेख की शैली से, संस्कृत शब्दों के प्रयोग से, श्लोकों के उद्धरण से, आप संस्कृत ग्रन्थों के विद्वान् विदित होते हैं; स्याद् बड़े व्यापारी, बड़े धनी भी हों जैसा मैं तो नहीं हूँ; स्यात् अपने को 'वैश्य' भी मानते हो; आचार्य-परम्परा से सर्वशास्त्र या एक या दो शास्त्र के अध्ययन से परिपूर्ण हो या नहीं हो यह आपके लेख से अनुमेय नहीं है, पर संस्कृत भाषा के विद्वान् अवश्य हो, जैसा अभी ऊपर लिखा।

पर, किसी भी सूरत मे, इतना आत्मा का अवसाद, इतनी दीनता हीनता, क्यों ? आप भी मनुष्य का, पुरुष (पुरि शेते, तस्मात् पुरुषः) का, चोला धारण किये हो, परमात्मा का एक आविष्कार-स्थान हो उपाधि हो, आप मे भी परमात्मा की प्रभा बुद्धि की एक किरण है ही; फिर एक ओर, एक (ब्राह्मण) वर्णवाचक शब्द के आगे इतनी दीनता और साष्टांग दंडवत् प्रणाम, और दूसरी ओर, अन्य वर्णवाचक शब्दों के आगे इतनी उद्दंडता प्रचंडता, क्यों ? कोई उच्च-वर्ण-ब्रुव जीव भी, यदि उस से कुछ भी तद्वर्णोचित विद्याविनय-सम्पन्नता है तो, ऐसे पर-तिरस्कारक शब्द मुह से नहीं निकालेगा। हे भाई ! उपनिषत्कारों ने, महाभारतकार ने, पुराणकारों ने, शूद्र ही नहीं, चंडाल धर्मव्याध के मुख से, तुलाधार वैश्य के मुख से, जनक, कृष्ण, भीष्म आदि क्षत्रियों के मुख से, ब्राह्मणो, ऋषियों, को शिक्षा दिलवाई है। उपनिषदों मे तो एक स्थान पर यहां तक कह दिया है कि, सद्धर्म सद्विद्या की परा काष्ठा ब्रह्मविद्या, आदिकाल मे, क्षत्रियों के ही पास थी, उन्हीं से ब्राह्मणो को मिली। और याद कीजिये; भारत-वर्ष मे प्रायः गीता-सप्तशती के बाद दुर्गा-सप्तशती का आदर है; इस महिमाशाली, रहस्यार्थपूर्ण, आख्यान का अवतार, किस के लिये हुआ ? सुरथ क्षत्रिय और समाधि वैश्य के लिये। जिस वैश्य का आप तिरस्कार करते हैं, उन को, स्वयं देवी ने, "वैश्यवर्य ! त्वया यश्च वरोऽस्मत्तोऽभि-वांछितः; तत्प्रयच्छामि, संसिद्ध्यै तव ज्ञानं भविष्यति", ऐसा संबोधन किया, और ज्ञान दिया; और लाखों ब्राह्मण क्षत्रिय आदि संस्कृतज्ञ, नवरात्रों मे देवी के नाम के साथ, उस वैश्य के नाम का भी जप करते हैं। 'वैश्य' को तो, महाभारत ऐसे उत्तम शास्त्र मे, समाज का अन्नदाता पोषक कहा है,

> वार्त्तामूलो ह्ययं लोकः, तया वै धार्यते जगत् ;
> कृषि-गोरक्ष-वाणिज्यं लोकानां इह जीवनम्। म० भा० शां०
> (सा इयं त्रिमूर्तिर् वार्त्ता च वैश्यवर्गे प्रतिष्ठिता।)

देवि! त्रयी भगवतो भवभावनाय
वार्त्ताऽसि सर्वजगतां परमार्त्तिहंत्री। दुर्गा०
यस्यान्न-पान-पुष्टांगः कुरुते धर्मसंचयं,
अन्नदातुः त्रयो भागाः, एकं कर्त्ता समश्नुते।

ब्राह्मण-ब्रुव क्षत्रिय-ब्रुव लोग तो 'बनियाँ बनियाँ' कह कर उस का तिरस्कार करते ही हैं, आप वैश्य हो कर अपनी और अपने सजातियों की उस तिरस्कृति मे स्वयं क्यों शामिल शरीक होते हो, और तिरस्कार्यता बढ़ाते हो? आप को तो इन 'दीनो' के उद्धार का यत्न करना चाहिये न? वसुदेव-देवकी तो कृष्ण के केवल जन्मदाता पिता-माता थे, सच्चे पिता-माता तो उन के पालक-पोषक नंद-यशोदा वैश्य थे।

अन्य स्थान मे, उपनिषदों मे ही लिखा है, "यः कश्चन आत्मनो अन्यत् ब्रह्म वा, क्षत्रं वा, विशो वा, शूद्रं वा, देवं वा, यत्किंचिद्वा अपश्यत्, स एव तं परादात्"; जिस किसी ने अपने से, आत्मा से, अपने भीतर प्रतिष्ठित परमात्मा से, अन्य किसी व्यक्ति को पूजनीय, सर्वथा विश्वसनीय, माना, उसी ने इस अंधविश्वासी को धोखा दिया, नीचा दिखाया, बरबाद किया। इस वेदांतिक तथ्य के उदाहरण, पौरस्त्य पाश्चात्य इतिहास के पन्नो मे भरे पड़े हैं और प्रत्येक गृहस्थ के साधारण जीवन मे भी मिलते रहते हैं। हे भाई! न अति दीनता कीजिये, न अति उद्धतता; न अति विश्वास, न अति अ-विश्वास; बुद्धि से, विवेक से, काम लीजिये; "आश्रयेत् मध्यमां वृत्ति, अति सर्वत्र वर्जयेत्", मध्यमा वृत्ति को, बीच के रास्ते को, पकड़िये; इसी मे कल्याण है। जहां केवल अपने अकेले का हानि-लाभ संभाव्य है, यथा एकाकी वनवासी, कंद-मूलाशी, संन्यासी का, वहां केवल अपनी ही बुद्धि पर भरोसा कीजिये, जैसा प्रायः लोग करते ही हैं, विशेष कर 'विचार' के सम्बन्ध मे; "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधिः को निषेधः"। यदि औरों के साथ रहना है, तो जिस समाज मे रहना है, उसके भूयसीय की, 'महाजन' की, बहुमत की, बुद्धि

के अनुसार, 'आचार' करना पड़ेगा ही; विचार स्वतंत्र है, आचार पर-तंत्र समाज-तंत्र हैं; "महाजनो येन गतः, स पंथाः" ।

५—"महाजन" शब्द का जो अर्थ मेरी पुस्तिका मे किया गया है, उस पर आपत्ति की है; एक सज्जन ने (इस आशय का वाक्य भी) लिखा है कि 'मै स्वयं गुजराती हूँ, मेरी मातृभाषा गुजराती है, इसलिये अधिकार से कह सकता हूँ, कि गुजराती भाषा मे 'महाजन' का अर्थ भूयसीय जनता नहीं है, बल्कि विशिष्ट श्रेष्ठ पुरुष ही' ।

उत्तर—विशिष्ट श्रेष्ठ पुरुष के लिये संस्कृत मे 'महा-पुरुष' शब्द का ही प्रायः प्रयोग होता है, 'महाजन' का नहीं । "वंदे, महापुरुष ! ते चरणारविंदं" (भागवत) । "नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणं," जब कह चुके, तब ऋषियों से अधिक विशिष्ट श्रेष्ठ 'जन,' 'धर्मस्य तत्त्वं' के निर्णय के सम्बन्ध मे, कौन कहे जा सकते हैं ? महाभारत के अन्तर्गत विदुर नीति मे दो श्लोक हैं—

एकः पापानि कुरुते, फलं भुंक्ते 'महाजनः' ।
देशाचारान् समयान् जातिधर्मान् बुभूषते यस्तु, परावरज्ञः,
स यत्र तत्राभिगतः, सदैव 'महाजनस्य' आधिपत्यं करोति ।

'पाप तो एक आदमी करता है, दंड सारी जनता को, महाजन को, भोगना पड़ता है'; (साम्प्रदायिक दंगों के बाद, सारे नगर पर 'प्युनिटिव पुलिस' और 'प्युनिटिव टैक्स' आज काल का उदाहरण है) । 'पर और अवर, ऊँच-नीच, आगा-पीछा, का सोचने जानने वाला मनुष्य, देश देश के, जाति जाति के समयों, आचार-विचारों, पद्धतियों, को समझ कर जो कार्य करता है—ऐसा मनुष्य, चाहे कहीं भी पहुँच जाय, वहीं वह महाजन का, जनता का, जनसमूह का, अधिपति, मुखिया, नेता, बन जाता है ।'

तथा नलोपाख्यान वनपर्व मे नल का पता लगाने के लिये, दमयंती का भेजा हुआ चर, लौट कर, दमयंती से कहता है ।

अयोध्यां नगरीं गत्वा, भांगस्वरिर् उपस्थितः'

श्रावितश्च मया वाक्यं त्वदीयं सः, 'महाजने',
ऋतुपर्णो महाभागो, यथोक्तं, वरवर्णिनि !

'अयोध्या नगरी मे जा कर, राजा भंगस्वर के पुत्र राजा ऋतुपर्ण के सामने, 'महाजन' 'जन-समूह' के बीच, तुम्हारा (दमयंती) का वाक्य, मैने पुकार कर सुनाया'। कालिदास ने कुमार-सम्भव में लिखा है,

विलोक्य वृद्धोक्षं अधिष्ठितं त्वया,
'महाजनः' स्मेरमुखो भविष्यति।

'महादेव जी के साथ बूढ़े बैल पर बैठी हुई तुम को, (उमा को) जनता, जनसमूह, महाजन देखेंगे, तब अवश्य सब मुस्कुरायँगे।

क्षत्रधर्माद्धि पापीयान् न धर्मोऽस्ति, नराधिपः !
अपयाने च युद्धे च राजा हंति महाजनम्। म.भा.शा. अ.९७
महाजनं, कटकाश्रितं वैश्यादिजनं, इति नीलकंठः।

'राजा, युद्ध में, बढ़ता हुआ भी, हटता हुआ भी, महाजन का, वैश्य आदि का, साधारण प्रजा का, नाश करता कराता है।' नीलकंठ ने "महाजनो येन गतः स पन्थाः" का अर्थ भी स्पष्ट ही लिखा है, "बहुजन सम्मतं एव मार्ग अनुसरेत्, इति अर्थः।"

प्रायेण वेद तद् इदं न महाजनोऽयं,
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालं,
त्रय्यां जड़ीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां,
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः।

भागवत, ६–३–२५

'माया से मूढ़, महाजन, जन-समूह, सत्य को नहीं पहिचानता, वेद-त्रयी के कर्मकांड की फूलदार, मीठी-मीठी, मधु शहद, और मधु सुरा शराब के, ऐसी बातों में फँसा हुआ, जड़ बना, बड़े-बड़े वितान, मंडप, शामियाने वाले कर्मकांडी कर्मों मे लगाया जाता है।'

जयंत भट्ट ने न्याय मञ्जरी (पृ० २६६) मे लिखा है, "कोऽयं

महाजनो नाम ? उच्यते, चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यं च यद् एतद् आर्यदेश-प्रसिद्धं, सः महाजनः ।"

मृच्छकटिक नाटक मे श्लोक है, "दूराद् एव महाजनस्य विहरति अल्पच्छदो लज्जया" । धनवान् पुरुष, दरिद्र हो जाने पर, महाजन से, जनता से, दूर दूर चलता फिरता रहता है, लज्जा के मारे ।

वात्स्यायन ने, काम-सूत्र मे लिखा है,

'महाजनेन' चरितं राज्ञां अनुविधीयते,
अतोऽतस् तैर् न पापिष्ठं कर्त्तव्यं पारदारिकं ।

'राजों की नकल महाजन, जन-समूह, करता है, इस लिये राजा को पापिष्ठ कर्म परदार-गमन नहीं करना चाहिये ।' इत्यादि ।

उक्त गुजराती सज्जन स्यात् काशी मे ही, बहुत वर्ष से, वा कई पुश्त से भी, रह रहे हैं, और गुजरात मे 'महाजन' शब्द किस अर्थ में कहा जाता है, इस का ज्ञान साक्षात् अनुभव से न रखते हों—पर इस सम्बन्ध मे मै उन से पूछ नहीं सका हूँ, इस लिये निश्चय से नहीं जनता । उन का लेख पढ़ने के बाद, मै ने पण्डित बेचरदास जीवराज दोशी जी से, पत्र द्वारा पूछा; ये अहमदाबाद, गुजरात, मे, एक कालिज मे प्रोफेसर हैं; प्रसिद्ध पंडित हैं । उन्हों ने जैनागम, 'प्राकृत भाषा', गुजराती भाषा, आदि पर कई ग्रन्थ लिखे हैं; और इन को, पत्र-व्यवहार द्वारा, कई वर्ष से जानता हूँ । उन का उत्तर, ता० २०-१२-४४ का यह है—"गुजराती भाषा मे 'महाजन' शब्द, जनता, जनसमूह, जन साधारण, आम जनता, के अर्थ मे प्रचलित है; परन्तु उच्चवर्ण के लोग 'महाजन'-पद-वाच्य होने से, 'महाजन' शब्द का कुछ संकुचित अर्थ हो गया है; उच्चवर्ण का अर्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और विशिष्ट प्रकार के शिल्पी, तक सीमित है; भंगी, कोली, वाघरी, चमार, इत्यादि निम्न श्रेणी की जातियाँ 'महाजन' के भाव मे, वर्तमान मे, समाविष्ट नहीं हैं; बनिये महाजन,

सोनी (सुवर्ण व्योपारी) महाजन, कपड़ा (कपड़े के व्योपारी) महाजन, इसी प्रकार से विशिष्ट अर्थ मे 'महाजन' शब्द का व्यवहार विद्यमान है ।" गुजराती मे 'महाजन' का अर्थ 'जन-समूह' है, यह मैने प्रथम वार (काशी विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रो-वाइस-चान्सेलर), दिवंगत आचार्य ध्रुव जी से सुना था । अभी हाल मे (जनवरी १९४५) मे कराची के प्रोफ़ेसर जेठमल परसराम मेरे पास आये थे, उन से मालूम हुआ कि सिन्धी भाषा मे भी, इस शब्द का प्रयोग, 'पञ्चायत' के अर्थ मे होता है । यह सब विचार कर पाठक सज्जन स्वयं निर्णय कर लें, कि 'महाजन' शब्द का अर्थ व्याख्यास्पद श्लोकों मे क्या है ।

उक्त सज्जन ने लिखा है कि, "एकोऽपि वेदवित् धर्मं"··· मनु की आज्ञा उद्धृत कर के, अपने 'महाजन' शब्द के अर्थ (कस्रत राय) का, डा० साहब स्वयं ही खंडन करते हैं ।" यहाँ यह विचारना चाहिये कि जब "नैको ऋषिः" की कठिनता सामने आवै, विवदमान ऋषियों मे कौन 'ऋषितम' है, सर्वोत्तम ऋषि है, यह प्रश्न उठे, तब सिवा 'महजन' की 'कस्रत राय' के, कौन निपटारा कर सकता है ? जिसको दुनिया मानै वही माननीय ।

उक्त सज्जन ने जो अवान्तर प्रश्न २ से ६ तक लिखे हैं, वे ये हैं—(२) गीता "मे आये 'यज्ञ' शब्द का मुख्य अर्थ क्या है ?; (३) शास्त्र क्या है; और शास्त्रीय सिद्धान्त समझने के लिये शास्त्रीय पद्धति की आवश्यकता है, क्या ?; (४) जब लाखों प्राणी इस देश मे अन्न बिना मर रहे हैं, ऐसे समय यज्ञ कर्त्तव्य है, क्या ? (५) शास्त्रीय बुद्धि और लौकिक मानवी बुद्धि ये दो पृथक् पदार्थ हैं क्या ?; (६) रुद्राभिषेक मे दुग्धधारा से भगवान् प्रसन्न होंगे, अथवा उसी को अनाथ बच्चों को देने से ? ।"

मेरी 'बुद्धि' मे जो उत्तर, इन प्रश्नों के, उठते हैं, उन को पहिले भी लिख चुका हूं; पुनरपि बहुत थोड़े मे लिख देता हूँ—ज्ञान यज्ञ और

जप यज्ञ; (३) 'शास्त्र' तीन प्रकार के होते हैं, सात्त्विक बुद्धि के रचे सात्त्विक शास्त्र; राजस के राजस; तामस के तामस; शास्त्रीय पद्धति भी तदनुसारिणी होती है, सात्त्विक तत्त्व-बुभुत्सा से 'वाद', राजस विजिगीषा से 'जल्प', तामस चिखंडयिषा मात्र से 'वितंडा'; (४) ऐसे समय मे, अन्न घी तिल आदि के होम हवन रूप 'यज्ञ' कर्त्तव्य नहीं है; सज्ज्ञान-प्रचार-रूप यज्ञ निश्चयेन कर्त्तव्य है; (५) शास्त्रीय और मानवी, ऐसा भेद बुद्धि के प्रकारों का नहीं है; सात्त्विक, राजस, तामस, यही भेद है, जैसा गीता मे कहा है; सात्विक ग्राह्य है, अन्य दो त्याज्य हैं; (६) अनाथ बच्चों को देने से ही सर्वान्तिर्यामी भगवान् प्रसन्न होंगे।

६—उक्त सज्जन लिखते हैं कि स्वामी (दयानन्द) जी ने शूद्र को उपनयन का अधिकार नहीं दिया।

उत्तर—स्वामी दयानन्दजी के 'सत्यार्थप्रकाश' का आशय, जहाँ तक समझ सका हूं, और जो कुछ आधुनिक आर्यसमाजी भाइयों से (जिन ने मेरे कुछ संबंधी भी; तथा इष्ट मित्र और 'ब्राह्मण' 'क्षत्रिय' भी हैं) विदित हुआ, उस से तो मेरा विश्वास यही है कि स्वामी जी का दृढ़ सिद्धांत 'कर्मणा वर्णः' का था, और अब भी आर्य-समाजियों का है; और वे, नितान्त अनपढ़ को, जिस को साहित्यिक शास्त्रीय शिक्षा के ग्रहण की शक्ति नहीं, उसी को, 'शूद्र' और उपनयन का अनधिकारी मानते थे और हैं; और किसी भी 'शूद्र-नामक' जाति के भी, पढ़े-लिखे आदमी को, वा होनहार बुद्धिमान् बालक को, उपनयन संस्कार से यज्ञोपवीत दे देते हैं।

७—उक्त सज्जन ने 'श्री शंकराचार्य' 'श्री कुमारिल-भट्टपाद' के दिग्विजयों के सम्बन्ध मे बड़ी-बड़ी करामातों का वर्णन किया है। पुस्तिका मे पहिले लिख चुका हूँ कि, ऐसे ही चमत्कारों, 'मोजिज़ों', 'मिराकल्स' मे अन्धश्रद्धा बढ़ाने का ही फल, समग्र समाज का नितान्त अधःपात होता है; "अंधेनैव नीयमानाः यथान्धाः"। ईसाइयों मे भी; प्रायः अनपढ़-कुपढ़ वर्गों मे, ऐसी गप्पों मे विश्वास बहुत है; मुसलमान

पीर ने हिन्दू 'जोगी' को यों हराया, या हिन्दू सिद्ध ने मुसलमान औलिया को यों भगाया, या ईसाई भक्त पादरी ने हिन्दू और मुसलमान दोनों क़िस्म के चमत्कारियों की शक्ति का स्तम्भन यों कर दिया, इत्यादि, अपने-अपने पक्ष का बड़प्पन दिखाने वाली मिथ्या कपोलकल्पित बातें, पदे-पदे मिलती हैं, कहाँ तक उदाहरण लिखे जायँ। ऐसी ही गप्पों के कारण तो, 'शास्त्रवादियों' के 'शास्त्रों' की भरमार मे, सात्त्विक बुद्धि-रचित सच्चे सात्विक शास्त्रों पर भी शंका होने लगती है, और वे भी (या वे ही) नष्ट हो रहे हैं।

८—मूर्तिपूजा के विषय मे--मै जानता और मानता हूँ कि, "तत् श्रूयतां अनाधारा धारणा नोपपद्यते", "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्त चैवामूर्त्त च"; ब्रह्म परमात्मा के दो रूप हैं, एक मूर्त्त, एक अमूर्त; सारा दृश्य जगत् ही परमात्मा का मूर्त्त रूप है; सब मनुष्य भी उसी के मूर्त्त रूप हैं; मूर्त मनुष्य, 'मूर्ति' को चाहै, तो क्या आश्चर्य; नितरां अनुचित नहीं; पर 'अति सर्वत्र वर्जयेत्', मूर्तियों की भी 'अति' से भयायक दोष उत्पन्न होते हैं, और हुए; मनुष्य की बुद्धि की उन्नति को रोकती है, दिन दिन अवनति अधिकाधिक करती है, इसी लिये कहा है,

अप्सु देवाः मनुष्याणां, दिवि देवाः मनीषिणां,
मन्दानां (बालानां) काष्ठलोष्ठेषु, बुधस्य आत्मनि देवता।

एक जगह, स्कंद पुराण के अंतर्गत 'सूतसंहिता' मे ही, यहाँ तक कह दिया है कि,

उत्तमा सहजावस्था, मध्यमा ध्यान-धारणा,
तृतीया प्रतिमापूजा, होमयात्रा ततोऽधमा।

बालक बुद्धि के लिये तीर्थों मे, जिन मे 'देशाटन' करने से बुद्धि का विकास होता है; मनीषियों के देवता, ज्योतिषोक्त आकाश मे भ्रमते हुए सूर्य चन्द्र आदि हैं, जिनका हाल, ज्योतिष-शास्त्र द्वारा पढ़ने से बुद्धि अधिक परिमार्जित होती है; और, अन्त मे सुपरिष्कृत बुद्धि पहिचानती है कि, बुध मनुष्य का देवता आत्मा मे ही, आत्मा ही, है। सत् शिक्षक का

काम है कि मनुष्यों को इस क्रम से, मूर्त-ब्रह्म से धीरे-धीरे उठाता हुआ, अमूर्त परमात्मा के पास ले जाय। यही सच्चा 'उपनयन' है। विपरीत इस के जो शिक्षक अपने को धर्मप्रवक्ता धर्माधिकारी कहता हुआ, मूर्तियों की अनंत बहुतायत बढ़ा कर, उन्हीं में जनता को फंसाये रखना चाहता है, वह असत् शिक्षक है, जनता का अशुभ-चिंतक है, दंभक है, ठगने वाला है। सब शास्त्रों का शिरोमणि वेदान्तशास्त्र पुकार-पुकार के कहता है कि ब्रह्म-परमात्मा को हाड़ मास का बना 'मूर्त्त' शरीर मानना जानना—यही तो 'अविद्या' है, परम मूर्खता है, और उस परमात्मा को, अपने को, अ-मूर्त जानना, सब 'मूर्त्तियों' से परे जानना—यही 'विद्या' है। फिर अपने हाथों बनाई, मिट्टी, काठ, पत्थर आदि की निर्जीव मूर्त्ति मे अतितरां प्राण अँटकाना—यह तो बच्चों की ही कच्ची बुद्धि के लिये उचित हो सकता है। यदि वृद्ध गुरुजन तथा धर्माधिकारी लोग सच्ची सात्त्विक बुद्धि रखते हों, तो वे इन बालक-बुद्धि वाले 'महाजन', जन-समूह, को, धीरे धीरे, उचित उपदेशों से, मूर्त्ति-उपासना के खिलौनों से और द्रव्ययज्ञो से अन्न घी को आग में फेंकने के हानिकारक खेल से, हटाते हुए, अमूर्त्त परमात्मा की उपासना और ज्ञान-यज्ञ की ओर ले जायँगे।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याकार्ये, भयाऽभये,
बंधं मोक्षं च, या वेत्ति, बुद्धिः सा, पार्थ !, सात्त्विकी।

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बंध और मोक्ष को जो ठीक-ठीक जाने, वही सात्त्विकी बुद्धि; अर्थात्, पुनरपि, अध्यात्म-विद्या को जानने वाली और तदनुसार सदाचार करने वाली।

ज्योतिष शास्त्र का नाम लिया गया; इस को 'शास्त्रवादी' सज्जन अवश्य ही शास्त्र भी और धर्मशास्त्र भी मानते होंगे; साक्षात् वेद के छः अंगों मे से एक अंग है; "ज्योतिषां अयनं चक्षुः" वेद की आँख ही है; प्राचीनतम वैदिक ज्योतिष का ग्रंथ, 'ज्योतिष-वेदांग' के नाम से, लगधाचार्य का रचा हुआ, सुना जाता है; पर

व्यवहार मे, शुभ मुहूर्त आदि निश्चित करने के लिये, उस से काम नहीं लिया जाता, किन्तु अर्वाचीन ग्रंथों से ही; इन मे नीलकंठ पंडित का 'ताजिक-नीलकंठी' बहुत प्रसिद्ध है, और वर्षफल आदि बनाने मे प्रायः इसी से काम लिया जाता है; ऐतिहासिक प्रसिद्धि है कि आर्य-भट्ट, ब्रह्म-गुप्त, वराहमिहिर आदि के समय से, भारत के ज्योतिषियों का समागम, यवन ज्योतिषियों से, भारत मे भी हुआ, और ब्रह्म-गुप्त के शिष्य, पश्चिम के यवनदेशों को भी, वहां की विद्या सीखने के लिये गये। इस प्रकार से, प्राचीन पाश्चात्य ज्योतिष से, बहुत से नये विचार और नये शब्द भी लाये, जिन शब्दों को उन्हों ने अपने ग्रंथों मे रक्खा, और यह शब्द अब, भारतीय ज्योतिषियों मे ख़ूब प्रचलित हैं। कुछ श्लोक यहां लिखे जाते हैं--

प्रागिक्कवालो, पर इन्दुवारः, तथेत्थसालो, ऽपर ईसराफः,
नक्तं ततः स्याद्यमना मणाऊ कबूलतो गैरिकबूलमुक्तं।
खल्लासरं, एद्दमयो, द्फालि, कुत्थं च, दुत्थोत्थदवीरनामा,
तम्बोरकुत्थौ, दुरफश्च, योगाः स्युः षोडशैषां कथयामि लक्ष्म।

(ताजिक नीलकंठी, अध्याय २)

ऐसे ही अन्य भी कई शब्द, मुथहा, मुन्था, इंथिहा, द्रेष्काण आदि। क्या 'शास्त्रवादी' सज्जन नीलकंठ के ग्रन्थ को 'शास्त्र' मानते हैं या नहीं, और इस को नीलकंठ की बुद्धि की रचना मानते हैं या नहीं? वराह-मिहिर, जिन के 'लघुजातक' 'बृहज्जातक' से ज्योतिषी पद पद पर काम लेते हैं, और जो नीलकंठ से कई सौ वर्ष पहिले हुए, उन्हों ने यवनो (ग्रीकों वा काल्डीयन्, असीरियन्, बेबिलोनियन् आदि) से बहुत शब्द लिये हैं, और लिखा है--

"म्लेच्छा हि यवनाः, तेषु सम्यक् शास्त्रं इदं स्थितं,
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते, किं पुनर्दैवविद् द्विजः।"

(बृहत् संहिता, अध्याय २ श्लोक १४)

शब्दों के सम्बन्ध मे, उक्त सज्जन ने यह उत्प्रेक्षा की है, कि मै

(भगवान्दास) ने पुस्तिका मे, एक जगह, जो कई भाषाओं के तुल्यार्थ पर्याय शब्द, हम्‌-मानी लफ़्ज़, एक साथ लिख दिये हैं, वह अपनी विद्वत्ता, इल्मियत, दिखाने के लिये। मेरा नम्र निवेदन है कि इस हेतु से मैं ने ऐसा नहीं किया; अपने हिन्दी लेखों मे, (और अंग्रेज़ी लेखों मे भी), अक्सर ऐसा करता हूँ; प्रयोजन यह, कि हिन्दी जानने वालों की तीन चार या पाँच सौ संस्कृत–फ़ारसी–अरबी पर्यायों का परिचय हो जाय, और वे भी, विशेष कर मुसल्मानों को, कोई विषय, मज़मून, समझाने मे तीनो भाषाओं के ऐसे पर्यायों का उपयोग, प्रयोग, इस्तैमाल, करें, तो हिन्दी-उर्दू का झगड़ा, और उससे पैदा हुआ, हिन्दू-मुसल्मानों का विशेष मन-मुटाव, कम हो जाय। और भी, उक्त सज्जन से पूछता हूँ कि, वे जो लेख लिखते हैं, वा व्याख्यान देते हैं, वह क्या अपनी मूर्खता दिखाने को वा पाण्डित्य बुद्धिमत्व दिखाने को ?

९—उक्त सज्जन के एक सहकारी ने यह आपत्ति उठाई है, कि मेरी पुस्तिका के पृष्ठों मे मेरे सहकारी इन्दिरारमण जी शास्त्री ('शास्त्रवादी' नहीं; किन्तु 'शास्त्री', शास्त्रवालों की, शास्त्रपरीक्षक) ने शाबर भाष्य और तंत्र-वार्तिक आदि के मत के विषय मे जो लिखा है, उस मे उन्हों ने पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष का व्यत्यास कर दिया है। मैं ने श्री इन्दिरारमण जी से पूछा। उन के विस्तृत वक्तव्य का संक्षेप नीचे लिखता हूँ, (कड़े शब्दों को बदल कर)—

"कुमारिल के एक वाक्य का स्थल-निर्देशक अङ्क १–३–६, 'शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद' पुस्तिका मे, जरूर गलत छप गया है; सही अंक ३–१–७ ही है। अशुद्धि का हेतु यह हुआ कि मैं ने कई उद्धरण लिख कर दिया था; उन मे से एक का स्थल १–३–६ ही था; पर सब उद्धरण नहीं छापे गये; संक्षेपार्थ, कई छोड़ दिये गये; और वह वाक्य निकल गया जिस का स्थलांक १–३–६ ठीक था, पर अङ्क रह गया; केवल अंकों का गड़बड़ हो गया; युक्तियों मे कोई भ्रम नहीं हुआ। इस जरा सी बात पर इतना आटोप बाँधना, 'अत्यन्त अशुद्ध है' इत्यादि

कहना, मुख्य आशय पर ध्यान न देना, यह शिष्टसम्मत वाद का प्रकार नहीं है। 'क्या यज्ञ करना पाप है' नाम की पुस्तिका मे जो मेरे ऊपर यह दोषारोप किया गया है कि, कुमारिल के वाक्यों के पूर्व और उत्तर पक्षों मे व्यत्यास कर दिया है, यह दोषारोप नितान्त मिथ्या और भ्रमपूर्ण है; मूल ग्रन्थ को जाँच कर कोई भी सुज्ञ पाठक देख सकता है। 'मानव-आर्ष भाष्य' के पृ० ४४०–४४३ पर, कौमारिलवाद की समीक्षा देखिये। मनु के भाष्यकार मेधातिथि ने, अनेकविध स्मृतियों की अमान्यता दिखाया है। कुमारिल ने, अनेक स्थलों पर, शाबर भाष्य का घोर प्रतिवाद किया है।"

यहाँ, यह लिख देना आवश्यक है कि, अंकों की भूल, छपने मे, मेरी ('भगवान्दास') की असावधानी से ही हुई। इतना और भी लिख देना उचित होगा कि, अन्य शास्त्रों और शास्त्रियों वा शास्त्रवादियों के अनन्त परस्पर विवाद का कहना ही क्या है, स्वयं वेदों के विषय मे बड़े-बड़े मतभेद और विवाद हैं, यथा यह कि 'ब्राह्मण'—भाग को वेद मानना या नहीं मानना। ऐसी अवस्था मे 'बुद्धि' की शरण न ली जाय तो किस की ली जाय? 'शास्त्रवादियों' मे ही जब परस्पर विवाद, ऐसे विषयों पर, होते हैं, तब दोनो विरुद्ध पक्षों के 'शास्त्रवादी', अपने-अपने 'शास्त्र' माने हुए ग्रन्थों का प्रमाण देते हुए, अपनी-अपनी बुद्धि से ही काम लेते हैं—यह प्रत्यक्ष है। प्रमाणो मे क्षेपक हैं, यह भी 'शास्त्रवादी' मानते ही हैं।

तन्त्रवार्तिक-कार ने जो यह लिखा कि कर्मकांडी लोग व्यर्थ ही, स्वार्थवश, कर्मों का विस्तार करते हैं, इसके विषय मे यह प्रसंगप्राप्त है कि, मेरे एक मित्र के पास, काशी के शतकुंडी यज्ञ के दिनो मे ही, एक अच्छे विद्वान्, व्याकरण और धर्मशास्त्र के पंडित, आये, और उन्हों ने कहा कि—"भगवान्दास जी ने जो पुस्तिका मे लिखा सो ठीक ही है, पर हम लोग क्या करें, सब को अध्यापकी की या और वृत्ति मिलती नहीं, बेरोज़गार आदमी इस प्रकार के यज्ञो से जीविका का साधन न करें तो

काम कैसे चले ?" । यह विद्वान् सच्ची तबीयत के सज्जन थे, और उन की करुण कथा से किस को दुःख और सहानुभूति न होगी ? पर विचारने की बात यह है कि, ऐसी बेरोज़गारी तो समग्र देश मे व्याप्त हो रही है; लाखों युवा, एक ही 'वर्ण' के और संस्कृत पढ़े ही नहीं, अपि तु सभी 'वर्णों' के और अंग्रेज़ी पढ़े एफ़० ए०, बी० ए०, बी० एस् सी, एम० एस् सी, बी० कॉम, बी० एड्०, डी० फ़िल, डी० पी० एच०, आदि तरह तरह की डिग्रियां पाये हुए, रोज़गार की खोज मे भटक रहे हैं, और बड़े क्लेश उठा रहे हैं। इस देश-व्यापी क्लेश का निवारण, दो चार, या दस बीस, या सौ दो सौ पांच सौ भी, ऐसे होम हवनो यज्ञो से भला कभी हो सकता है ? इस का स्थायी निवारण, सब चाल के मनुष्यों के लिये, उन की प्रकृतियों के उपयुक्त, काम-दाम-आराम का साधन तो, 'स्वभावेन गुणः, गुणेन कर्म, कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः' की नीवी पर, व्यापक समाज-व्यवस्था ही से हो सकता है। इस विषय का विस्तार, मेरे 'मानव-धर्म-सारः', और इन्दिरारमण जी के 'मानव आर्ष भाष्यं' मे देखिये।

१०—उक्त सज्जन के दो सहायक समर्थक सज्जनो ने दो छपे लेखों मे लिखा है कि "स्वतन्त्र बुद्धि का अनुगामी तो वानर है।"

उत्तर—कई प्रकार के उत्तर मन मे उठते हैं; किस को किस को लिखूं ? पुस्तिका मे लिख चुका हूँ, 'हिन्दुओं' की जनता को अन्य लोग भेड़ी-धसान', 'मेषी-प्रपात-अंध-परम्परा', कहते हैं; भेड़ को स्वतन्त्र बुद्धि नहीं, होशियार चतुर मनुष्य उस को दूहते भी हैं, उस के रोम भी लेते हैं उस को मार कर उसका मांस भी खा जाते हैं, और उसके चमड़े से भी काम लेते हैं; 'हिन्दुओं' की, कई शताब्दियों से यह दशा हो रही है; पर भेड़ मे भी एक गुण है, जो भी 'हिन्दुओं' मे नहीं है; वे आपस मे दुराव बराबर नहीं करतीं, परस्पर लड़ती नहीं; 'हिन्दुओं' मे ढाई तीन हजार परस्पर तिरस्कुर्वाण कलहायमान 'जाति-उपजाति-

उपोपजाति-उपोपोपजातियां' हो गई हैं---जिसी से इन की संघता का नाश हो कर अधःपात हो रहा है ।

रही 'वानर' की कथा । तो, शिव-महिम स्तुति मे जो लिखा है, "विधेयैः क्रीडंत्यो न खलु परतंत्रा प्रभुधियः", परम शिव ,परमात्मा की, प्रभु की, "धियः", बुद्धियां, 'न परतंत्राः', परतंत्र नहीं, अपि तु परम 'स्वतंत्र' हैं---इस स्वतंत्रता को क्या 'वानरता' समझना चाहिये ? आज काल 'धुरंधर' शास्त्री पंडित जन, अपने को 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' पदवी से विभूषित करते हैं, (विद्याऽरण्य, विद्याऽर्णव, विद्यासागर, तत्तच्छास्त्र शिरोमणि, सार्वभौम, चक्रवर्त्ती, योग--'व्याघ्र', वेदान्त--'केसरी', तर्क--'पंचानन' आदि के अतिरिक्त, सिवा); तो यहां 'स्वतन्त्र' से क्या समझा जाय, सर्व-तंत्र-'वानर' ? और भी; गीता मे जो उपदेश दिया, "उद्धरेद् आत्मनाऽऽत्मानं" इत्यादि, और मनुस्मृति मे "आत्मैव देवताः सर्वाः, सर्वमात्मन्यवस्थितं" इत्यादि, यह सब स्वतंत्रता का उपदेश है या परतंत्रता का ? यहां तक कह दिया है कि "सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखं" । और भी; 'वानरों' मे भी जैसा मनुष्यों मे, प्रकृति का, स्वभाव का, गुणो का, भेद होता है; भ्रातृदारहारी बाली होना अच्छा नहीं; पर 'हनुमान् जी' के एक रोम के गुणो की छाया भी अपने ऊपर पड़ जाना कौन नहीं चाहेगा ? वाल्मीकि रामायण के चरितनायक यदि राम जी हैं, तो उपनायक हनुमान् जी ही हैं; तुलसीदास जी ने काशी मे 'संकटमोचन' हनुमान् जी के मंदिर की स्थापना की; (जहां तक मुझे विदित है) राम जी के मंदिर की नहीं ।

स्यात् समालोचक अधिक्षेपक सज्जन भी, इन 'संकट-मोचन हनुमान् जी' की, अथवा हनुमान्-घाट पर स्थित हनुमान्-वानर और सुग्रीव-वानर-राज जी की मूर्त्तियों के दर्शन के लिये यदा-कदा जाते हों; काशीनिवासी, सहस्रों की संख्या मे, मंगल के दिन, जाते हैं ।

जब, ऋष्यमूक पर्वत के पास, सुग्रीव के भेजे हनुमान् जी रामजी के

पास आये, तब उन्होंने बहुत सी बात कही; इस पर, रामजी आश्चारित हुए, और उन्होंने लक्ष्मण से कहा,

नऽनृग्वेद-विनीतस्य, नऽयजुर्वेदधारिणः,
नऽसामवेदविदुषः शक्यं एवं प्रभाषितुं;
नूनं व्याकरणं कृत्स्नं अनेन बहुधा श्रुतं;
बहुव्याहरताऽनेन न किंचित्, अपशब्दितं ।

इत्यादि । बिना ऋक्, यजुः, साम, तीनो वेदों को जाने, बिना व्याकरण का बहुत बार अध्ययन किये, कोई ऐसा बोल नहीं सकता; इन्होंने बहुत बात कही, पर उसमे कहीं एक भी अशुद्धि नहीं थी । यह प्रशंशा स्वयं रामजी ने हनुमान्‌जी की किया है । उनके समय मे पाणिनि का व्याकरण तो रहा ही नहीं, वैदिक वेदांग भूत व्याकरण प्रचलित होंगे, जिन्ही को स्वयं राम लक्ष्मणादि भाइयों ने सीखा था ।

हनुमान् जी के शौर्य, वीर्य, धैर्य, पराक्रम, अविचालनीय स्थिरतम दृढ़तम राम-मैत्री, 'सकलगुणनिधानता', 'दनुजवनकृशानुता' 'वरिष्ठ-बुद्धिता, और सर्वोपरि (निरहंकारता की पराकाष्ठा) स्वकीय 'अतुलित बलधामता' की सदा विस्मृति, ऐसी कि दूसरों के कहने पर ही उन को यह स्मरण होता था कि मुझ मे यह बल है और यह कार्य कर सकता हूँ जो दूसरों से असाध्य है—मैं तो हनुमान् जी के गुणो का (उनकी पाषाण मूर्त्ति का नहीं) हृदय से पूजक हूँ । हनुमान् जी के लिये प्राचीन कवियों ने "बुद्धिमतां वरिष्ठं" का विशेषण कहा है, ('शास्त्रवतां' नहीं), इस पर ध्यान दीजिये । पुराणो मे लिखा है कि कल्पव्यापी अखंड 'ब्रह्मचर्य' के कारण, 'हनुमान्' जी का जीव, अगले कल्प मे 'ब्रह्मा' होगा; एवं 'बलिरिन्द्रो भविष्यति'; इत्यादि; यह सब पुराण-गुह्य है; इन के रहस्यों को भारत के धर्माधिकारी लोग भूल गये हैं; मूर्तियों मे ही जनता को और अपने को भरमाते रहते हैं ।

लिखने का तो अन्त नहीं; सहस्रों स्यात् लाखों वर्ष से मनुष्य लिखते आ रहे हैं; इसलिये इस लेख को अब समाप्त करना चाहिये । हनुमान् जी

की, और उनके परमभक्तिभाजन मर्यादा पुरुष आदर्श-मानव राम जी की, स्तुति और प्रार्थना से, लेख का अन्त करता हूं—

मनोजवं, मारुततुल्यवेगं, जितेन्द्रियं, बुद्धिमतां वरिष्ठं,
वातात्मजं, वानरयूथमुख्यं, श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये।

अतुलित-बलधामं, स्वर्ण-शैलाभदेहं,
दनुज-वन-कृशानुं, ज्ञानिनां अग्रगण्यं,
सकल-गुण-निधानं, वानराणां अधीशं,
रघुपति-वर-दूतं, वातजातं नमामि।

त्यक्त्वा-सुदुस्त्यज-सुरेप्सित-राज्य-लक्ष्मीं,
धर्मिष्ठ ! आर्यवचनाद् यद् अगाद् अरण्यं,
भृत्यार्त्तिहं, प्रणतपाल !, भवाब्धिपोतं,
वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दं।

ॐ यो देवानां प्रभवश्च उद्भवश्च,
विश्वाधिपो, रुद्रो, महर्षिः,
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं,
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु। ॐ

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु। ॐ

चतुर्थ भारतीय संस्कृति सम्मेलन के समक्ष देहली मे, २-३ मार्च, १९५२ को, सभापति के रूप मे, मेरा अभिभाषण

देवियो और सज्जनो,

अब ८३ वर्ष का मेरा शरीर सब प्रकार से शिथिल हो रहा है, काशी मे भी अपने घर से दूसरे घर जाने मे कष्ट मानता है, और बँधी दिन-रात्रि-चर्या मे थोड़ा भी व्यतिक्रम होने से बहुत क्लेश का अनुभव करता है। जैसे तन वैसे मन भी थक रहा है, बुद्धि मे स्फूर्ति नहीं रह गयी है; इस हेतु से मेरे व्याख्यान मे बहुत से दोष होंगे; उन को क्षमा कीजियेगा और स्वयं शोध लीजियेगा; अपने विचार अस्त व्यस्त रूप मे आप के सामने रक्खूँगा; यदि उन विचारों से कुछ भी भारतीय समाज और संस्कृति की सेवा बन सकै तो अपना परम सौभाग्य समझूँगा।

यों तो इन विचारों को 'भाँति अनेक बार बहु बरन्यौं', छोटी-मोटी अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत पुस्तकों मे, तथा अंग्रेजी और हिन्दी दैनिक पत्रों के सैकड़ों लेखों मे, पचास से अधिक वर्षों से, जब से काशी मे सेन्ट्रल हिंदू कालेज की स्थापना हुई तब से। उन्ही विचारों को, कुछ उलट फेर कर के, काल-प्रवाह से परिस्थिति मे जो परिवर्तन हुआ है उस की दृष्टि से विचारों मे भी यथाबुद्धि घटाव-बढ़ाव कर के, आपको सुनाऊँगा।

भारतीय संस्कृति का सार

पर आरंभ मे, भारतीय संस्कृति का हृदय, उसका मर्म और सार, जो कुछ भी मै समझ पाया हूँ, उस को, बहुत संक्षेप से, आप को सुना देना चाहता हूँ। पीछे उसके उपबृंहण उपव्याख्यान का यत्न करूँगा।

इस संस्कृति के मूलाधार, उस के प्राणभूत, ये विश्वास हैं,

(१) परम पुरुष और मूल प्रकृति, चेतन और जड़, के संयोग से यह सारी अनंत सृष्टि बनी है।

(२) इस सृष्टि के एक अणु-भूत भू-गोल पर, परमाणुरूप मनुष्य, उसी चेतन और जड़ के रूपांतर जीव और देह, चित्त और शरीर, के संयोग से बना है।

(३) परमात्मा के तीन गुण, सत्-चिद्-आनंद, और मूल प्रकृति के तीन, सत्व-रजस्-तमस् , हैं।

(४) तदनुसार, जीव के, चित्त के, तीन, ज्ञान-इच्छा-क्रिया, और शरीर के तीन, द्रव्य-गुण-कर्म हैं।

(५) पुरुष प्रकृति के स्वभाव का वर्णन करने वाली अध्यात्मविद्या के सिद्धान्तों के अनुसार, मनुष्यों के चार प्रकार वा वर्ण होते हैं, ज्ञान-प्रधान, क्रिया-प्रधान, इच्छा-प्रधान, और अव्यक्त-बुद्धि; इन्हीं को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहते हैं।

(६) मनुष्य के जीवन मे चार भाग स्वभावतः होते हैं, (क) विद्या-ध्ययन, (ख) जीविकोपार्जन और संतानोत्पादन, (ग) निःशुल्क समाज-सेवा, (घ) शरीर छोड़ने और परलोक जाने, अथ च आवागमन से आत्यंतिक छुटकारा और शाश्वत शांति पाने, के लिये यत्न। इन्ही को ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थ, सन्यासी, चार आश्रम कहते हैं।

(७) परमात्मा के जीवात्मा बनने का आशय यह है कि देहिता के सुख-दुखों का अनुभव कर के, उनसे विरक्त हो कर, लौटे, अपने ऊपर आरोपित जीवात्मता को त्यागे, और परमात्मा को पहचान कर प्रशान्त हो जावे; 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'।

(८) उक्त उद्देश्य की पूर्ति चार प्रकारों से होती है, जिन को पुरुषार्थ कहते हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। प्रथम और तृतीय आश्रमो मे धर्म, द्वितीय मे अर्थ और काम, चतुर्थ मे मोक्ष, का साधन विशेषतः होता है, वा होना चाहिये।

(९) चार पुरुषार्थों के साधन के उपाय बताने के लिये चार शास्त्र

बने हैं, धर्म शास्त्र, अर्थ शास्त्र, काम शास्त्र, मोक्ष शास्त्र। जितने भी सैकड़ों शास्त्र बने हैं या बन सकते हैं वे सभी इन चार की अवांतर शाखा प्रशाखा वा सहायक हैं।

(१०) 'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः', के सिद्धान्त के अनुसार सु-व्यूढ़, सु-संघटित, सु-संग्रथित समाज मे ही प्रत्येक व्यक्ति के लिये, अपनी योग्यता के अनुसार चारो पुरुषार्थ साधने का अवसर मिल सकता है।

ये ही विश्वास और सिद्धान्त भारतीय संस्कृति के सार और मूलाधार हैं; शेष सब इन की टीका है।

सम्मेलन का उद्देश्य। मुख्य शब्दों के अर्थ।

इस सम्मेलन के छपे पत्र मे लिखा है कि इस का उद्देश्य '...भारतीय संस्कृति की रक्षा, प्रचार, तथा विस्तार' और 'देश और काल के अनुसार भारतीय समाज का पुनः संस्करण, व्यूहन, और संग्रंथन'। मुख्य शब्द 'भारत' और 'संस्कृति' के अर्थ का निर्णय करना चाहिये।

पुराण-काल मे, सहस्रों वर्ष पहिले, इस देश का नाम 'अजनाभ' था। सिंधु नदी को ईरान (आर्याना) के निवासी, अपने वाग्इंद्रिय की विशेष बनावट के कारण 'हिन्धु' कहते थे, और उस के आस पास के बसने वालों को 'हैन्धव' (सैन्धव), और उस प्रान्त को 'हिन्धु' 'हिंध'। प्रान्त का नाम आज तक 'सिंध' है। इसी नदी, प्रान्त, और निवासी को ग्रीक यवन 'आइयोनियन' (Ionian) लोग 'इंडस' 'इंडिया' और 'इडियन' कहते थे। इंडिया और आइयोनिया का संबंध, सिकन्दर से बहुत पहिले से था। पाँच सहस्र वर्ष पूर्व, महाभारत काल मे, कृष्ण और काल-यवन के युद्ध का वर्णन है। महाभारत संग्राम मे भी दुर्योधन के सहायकों मे यवन सेना भी थी।

सूर्यवंशी सम्राट् ऋषभ देव के ज्येष्ठ पुत्र महाप्रतापी भरत के समय से इस देश का नाम 'भारत' हो गया। अब पुनः सैकड़ों वर्ष तक 'हिन्दुस्थान' और 'इंडिया' रह कर, स्वराज-सरकार की आज्ञा से

'भारत' हो गया है; पर अन्य देशों मे इसे 'इण्डिया' ही जानते हैं; कई कारणो से 'इण्डिया' नाम भी बना रहना अच्छा है।

ऋषभ देव विष्णु के अंशावतार थे,

तं आहुः वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया
अवतीर्णं; सुतशतं तस्यऽासीद् ब्रह्मपारगं;
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायण-परायणः;
विख्यातं वर्षं एतद् यन्-नाम्ना भारतं अद्भुतं।
तेषां नव नव-द्वीप-पतयः अस्य समंततः;
नवऽभवन् महाभागाः परमार्थस्य शंसिनः,
श्रमणाः, वातरशनाः, आत्मविद्याविशारदाः;
कर्म-तन्त्र-प्रणेतारः एकाशीतिः द्विजातयः।
यवीयांसः एकाशीतिः महाश्रोत्रियाः कर्मविशुद्धाः
ब्राह्मणाः बभूवुः। (भा. स्कं. ११. अ. २; स्क. ५. अ. ४)
भरतस्तु महाभागवतः,...अजनाभं नाम एतद्
वर्षं भारतं इति यतः आरभ्य व्यपदिशंति। (स्कं.५.अ.७)

मनुष्य लोक को मोक्ष-धर्म का उपदेश देने के लिये, सम्राट् ऋषभ विष्णु के अंश से उत्पन्न हुए। उनको सौ पुत्र हुए; सभी ब्रह्मज्ञानी थे; ज्येष्ठ भरत थे जो ऋषभ देव के पीछे अजनाभ के सम्राट् हुए; उनके समय से, उन्ही के नाम पर, इस देश का नाम भारत हो गया। उन से छोटे नौ, भारत के आस-पास के उपद्वीपों वा वर्षों के राजा हुए। और छोटे नौ दिगंबर, श्रमण, आत्मविद्या के विशारद और उपदेशक हुए। शेष इक्यासी, महाश्रोत्रिय, कर्मविशुद्ध, अपने कर्म के अनुसार, ब्राह्मण हुए। उन्हों ने कर्म-तन्त्रों का प्रवर्तन किया, अर्थात् ऐसे विविध शास्त्रों का जिन से मानव जीवन के कर्म शुद्ध और सफल बनाये जा सकें, और प्रवृत्ति मार्ग के गृहस्थ जीवन के तीन पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम सिद्ध हों।

ध्यान देना चाहिये कि क्षत्रिय ऋषभ और उन के नौ श्रमण पुत्रों ने निवृत्ति मार्ग अर्थात् मोक्ष मार्ग का उपदेश किया, शेष इक्यासी ने

ब्राह्मण बन कर प्रवृत्ति मार्ग का। इतने ही से प्राचीन 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त का पर्याप्त प्रमाण और निदर्शन हो जाता है। मानवों के आदि पितामह, भगवान् मनु, तथा भगवान् विष्णु के अंश के अवतार कृष्ण ने, गीता मे, 'चातुर्वर्ण्यं' कहा है, 'चातुर्जात्यं' नहीं। अन्य सैकड़ों श्रौत स्मार्त प्रमाणो की चर्चा आगे की जायगी। यही ऋषभ देव, जैन सम्प्रदाय के आदिम तीर्थंकर, और उनके नौ श्रमण पुत्र दिगम्बर सम्प्रदाय के आरम्भक हुए।

भारत नाम के उद्गम का एक अन्य प्रकार।

भारत नाम की उत्पत्ति पुराणेतिहास मे एक और भी कही है। जैसे वाल्मीकि-रचित 'रामायण' और कालिदास-रचित 'रघुवंश' सूर्यवंशी राजाओं, विशेष कर राम जी, के इतिहास हैं, वैसे ही व्यास-कृत 'महा-भारत' चन्द्रवंशी राजाओं, और विशेष कर पाण्डवों, की कथा है। पाण्डवों के एक पूर्वज, दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र, भरत हुए; पाँच छः वर्ष ही की अवस्था मे 'चतुष्किष्कु', चार हाथ, ऊँचे हो गये थे; केवल बाहुबल से जंगली हाथियों और महिषों को पकड़ कर वृक्षों से बाँध देते थे; सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं को बिना अस्त्रशस्त्र के मार डालते थे; इस कारण, शकुन्तला के पोषक पिता कण्व महर्षि, तथा उनके अनुयायी ऋषियों ने बालक का नाम 'सर्वदमन' रक्खा। भरत नाम उन का, देवों ने विशेष हेतु से, उन के सम्राट् हो जाने के पश्चात् रक्खा। व्यास जी लिखते हैं,

भरताद् भारती कीर्तिः, येन इदं भारतं कुलं;
अपरे ये च, पूर्वे च, भारता, इति ते ऽभवन्।

(आ० अ० १००)

भरत से ही भारत नाम की कीर्ति, प्रथा, चली, और यदुकुल, जिसमे पाण्डव-कौरवों का जन्म हुआ, भारत-कुल कहलाया; तथा उनके पूर्वज भी भारताः कहलाने लगे, और पीछे होनेवाले वंशज तो कहलाये ही।

भीष्म पितामह ने भी, अट्ठावन दिन शर-शय्या पर बिता कर,

उत्तरायण काल मे योग से शरीर छोड़ते हुए, अन्तिम उपदेश सब भारतीयों के लिये यह दिया,

> सत्येषु यतितव्यं वः, सत्यं हि परमं बलं,
> आनृशंस्य-परैः भाव्यम्, सदैव नियतात्मभिः,
> ब्रह्मण्यैः, धर्मशीलैश्च, तपोनित्यैश्च, भारताः !
>
> (अनु० अ० २७४)

हे भारतवासियो !, सदा सत्य आचरण करना; मनसा, वचसा, कर्मणा; सत्य ही परम बल है; क्योंकि सत्य आचरण करने वाले पर लोग श्रद्धा विश्वास करते हैं, अतः सब कार्यों मे उसका साथ देते हैं; और 'संघे शक्तिः कलौ युगे'।

भारतवर्ष की प्रकृति-कृत सीमाओं को पुराणो मे कहा है,

> उत्तरं यत् समुद्रस्य, हिमाद्रेश्च एव दक्षिणं,
> वर्षं तद् भारतं नाम, भारती यत्र संततिः ।
>
> (विष्णु पुराण, अंश २, अ० ३)
>
> हिमालयाद् आसमुद्रं पुण्य-क्षेत्रं च भारतं ।
>
> (ब्रह्मवैवर्त्त०, कृष्ण-जन्म-खण्ड, अ० ५९ श्लो० ९१)
>
> दक्षिणे पुरतो यस्य, पूर्वेण च महोदधिः
> हिमवान् उत्तरेणऽस्य, कार्मुकस्य यथा गुणः,
> तद् एतद् भारतं वर्षं, सर्वबीजं, द्विजोत्तम !
>
> (मार्कण्डेय पु० अ० ५७)

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण मे समुद्र, उत्तर मे हिमालय, जैसे धनुष की प्रत्यञ्चा। सब पदार्थों, सब ज्ञानों का, बीज यहाँ है। पहिले समय मे वह बीज फूला फला भी था; अब तो, गिरा पड़ा छिपा, खोजने से कठिनाई से मिल सकै।

हिमालय की पश्चिम कोटि, साम्प्रत अफग़ानिस्तान और बलूचिस्तान को समेटती हुई, समुद्र तक पहुँचती है, और पूर्व मे आसाम को लेते हुए बर्मा की सीमा तक जाती है। पन्द्रह सौ वर्ष पहिले, जब

इस्लाम धर्म का जन्म नहीं हुआ था, उक्त पश्चिमीय देशों मे क्षत्रिय राजा शासन करते थे। गांधार वा गंधर्व देश के, जिसी को प्राय: अब कंदहार कहते हैं, राजा की बेटी गांधारी, धृतराष्ट्र की पत्नी, दुर्योधन की माता रही। इसके बहुत पहिले, राम जी की आज्ञा से, उन के छोटे भाई भरत ने, उस प्रान्त के रहने वाले दुष्ट गंधर्वों को मार कर, देश के दो विभाग किये; एक अपने बड़े बेटे तक्ष को, दूसरा छोटे पुष्कल को, दिया। उन्ही के नाम से तक्षशिला और पुष्कल पुर दो नगर बना और बसा दिया। सिकंदर के आक्रमण के समय तक तक्षशिला काशी के जोड़ का विद्यापीठ था। पाणिनि, पतंजलि, आदि वैयाकरणो का जन्म इसी के आसपास के देश मे हुआ था और यहीं से इन्हों ने विद्या सीखी। भारत के प्रान्तों से विद्यार्थी वहां, तथा काशी को, जाते थे; यथा इतिहास मे प्रसिद्ध दाक्षिणात्य, द्रमिड़ाचार्य, कौटल्य, वात्स्यायन आदि आठ नाम वाले चाणक्य, सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु और मंत्री, ने भी तक्षशिला जा कर विविध विद्याएं सीखीं। इस विद्यापीठ का भग्नावशेष अब 'टॉक्सिला' कहा जाता है, और पुष्कलपुर का 'पेशौर' वा 'पेशावर' बन गया है। इसी प्रान्त के भीमकाय महाराज पौरव ने (जिन को ग्रीक लेखक 'पोरस्' कहते हैं) सिकंदर की युद्ध-श्रद्धा को मिटाया, उस को परास्त किया, और ग्रीस को लौट जाने को विवश किया। सिकन्दर के समकालीन ग्रीक इतिहास लेखको का कहना है कि महाराज पोरस ७½ (साढ़े सात) फ़ुट ऊँचे और उसी अनुपात से चौड़े और बलिष्ठ थे। पंजाब मे अब भी कभी कभी ऐसे विशालकाय मनुष्य दिखाई देते हैं। सिकन्दर और उसके सैनिकों को ऐसे योद्धाओं से पहिले काम नहीं पड़ा था। उन्होंने यह भी सुना कि समकालीन सम्राट् चन्द्रगुप्त के पास छ: लाख योद्धाओं की चतुरंग सेना है; इस से उन का उत्साह और भी भग्न हुआ। चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलीपुत्र, साम्प्रत पटना, थी।

हिमालय के पार भी केकय देश के अश्वपति राजाओं से भारती राजाओं के वैवाहिक सम्बन्ध होते रहे। दशरथ की पत्नी, भरत की

माता, कैकेयी थी। पर केकय देश कभी भारत का भाग नहीं माना गया। महाभारत मे भी, युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के सम्बन्ध मे अर्जुन का हिमालय के उत्तर जाने का वर्णन है; पर सीमा हिमालय ही रहा। समय-समय पर 'बृहत्तर-भारत' इस प्रकार से हुआ कि सनातन धर्म का, जिसमे पारसियों का ज़र्दुश्ती धर्म और बौद्ध, जैन, सिख, धर्म अंतर्गत हैं, इस सीमा के बाहर बहुत दूर तक प्रचार हुआ; उत्साही शूर क्षत्रियों ने बर्मा, स्याम, आदि देशों मे, तथा आस पास के जावा, सुमात्रा, आदि द्वीपों मे राज्य स्थापित किये; पर भारत के धर्माध्यक्ष धर्मध्वजों की अदूरदर्शिनी, तामसी आत्म अभिमान और अन्य तिरस्कार से दूषित बुद्धि के कारण वह सम्बन्ध टूट गया। क्षत्रिय राजाओं मे शौर्य और शक्ति का ह्रास भी कारण हुआ होगा। हां, वैश्य वर्ग व्यापार के लिये दूर दूर तक, इन तथा अन्य देशों और द्वीपों तक और उनके साथ नाविक, शूद्र वर्ग भी, समुद्र मार्गसे जाया करते रहे; पर उनमे धर्म-प्रचार की विद्या और शक्ति नहीं थी।

अखण्ड भारत के कई खण्ड, और उसका हेतु।

उसी परस्पर भेद-भाव और दुराव-बराव, घृणा-तिरस्कार-द्वेष-द्रोह को बढ़ाने वाली तामस बुद्धि का प्रभाव यह हुआ कि, हमारे देखते-देखते, अखण्ड भारत के तीन खण्ड हो गए, दो पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान, एक हिन्दुस्थान वा भारत। यदि भारत-धर्म, भारतीय-संस्कृति, भारत-समाज का जीर्णोद्धार करना अभीष्ट है तो प्रत्येक हिन्दू-मानी को अच्छी रीति से हृदय मे दृढ़ बैठा लेना चाहिये कि यह दुर्दशा भारत की, हिन्दुओं ही के दोष से मूलतः तत्त्वतः हुई है; दूसरों को दोष देना भारी भूल है।

राजन् !, सर्षपमात्राणि पर-छिद्राणि पश्यसि,
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन् अपि न पश्यसि। (भ०भा०)

शकुन्तला ने दुष्यन्त से विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा, 'सारसो के दाने के तुल्य अति छोटे छिद्र दोष, दूसरों के बहुत देखते हो, पर बेल के

फल के तुल्य बहुत बड़े अपने छिद्रों दोषों को देखते हुए भी नहीं देखते हो'।

सद् धर्म का भ्रंश और असद् धर्माभासों का प्रचार।

यदि हिन्दू भारतीयों ने अपने सत्य सनातन धर्म को मिथ्या मूढ़ग्राहों और धर्माभासों मे परिवर्तित विवर्तित न किया होता; यदि पंच मकार की सेवा कराने वाले बाम मार्ग को, और कापालिक आदि नर-मांस भक्षक तथा अन्य सैकड़ों, पंथों को न उपजाया होता; यदि उस लोक-संग्रह बुद्धि को, जिसका उपदेश कृष्ण ने गीता में किया है, लोक-विग्रह-बुद्धि न बना दिया होता; यदि चार वर्णों और आश्रमों से सुबद्ध समाज व्यवस्था को बिगाड़ कर सहस्त्रों जात्युपजात्युपोपजातियों मे छिन्न भिन्न कर दिया होता, तो मानव संसार मे दूसरे नाम के धर्म, यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि दूसरे देशों मे प्रचारित करने की, तथा इस अभागे देश के विभ्रष्ट हिन्दुओं को दंड देने के लिये यहाँ भेजने की, आवश्यकता ही ब्रह्मदेव को स्यात् न होती; समग्र मानव जगत् मे आज उसी प्राचीन सत्य सनातन धर्म का प्रचार और प्रसार होता; और वही वैदिक संस्कृत भाषा बोली जाती जिसमे आदि काल मे आदिराज क्षत्रिय भगवान् मनु और उनके पुत्र दस ब्राह्मण महर्षियों ने उस धर्म का उपदेश किया। स्मरण रहे कि समस्त पूर्व और पश्चिम की आर्य जातियों को पाश्चात्य वैज्ञानिक भी इंडो-आर्यन्स' वा 'इंडो-यूरोपीयंस' का नाम देते हैं।

भारत की भाषा संस्कृत-भारती।

'संस्कृत' नाम इस लिये कि, इसे बहुत ऋषियों ने बहुत विचार करके, 'सम्यक्', अच्छी, बनाया 'सम्यक् कृता वाणी संस्कृता'। ईसके एक एक अक्षर और एक एक मुख्य मुख्य वैदिक शब्द मे गूढ़ अर्थ भरा हुआ है। वह रहस्य अर्थ भी, शताब्दियों से नवीन व्याकरण के फेर में

पड़े हुए पंडितों ने भुला दिया, और वैदिक तथा पौराणिक रूपकों का वैज्ञानिक रहस्य अर्थ खो दिया।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदं अध्यापयेद् द्विजः,
सकल्पं सरहस्यं च, तं आचार्यं प्रचक्षते।
वेद कृत्स्नोऽधिगंतव्यः स-रहस्यो द्विजन्मना।

(मनु. २. १४, १६५)

जो शिष्य को कल्प और 'रहस्य' अर्थ सहित वेद पढ़ावै उसे आचार्य कहते हैं। द्विज ब्राह्मण को रहस्य अर्थ सहित समग्र वेद को पढ़ना चाहिये।

नागरी वर्णमाला और लिपि।

भारत में बोली जाने के कारण संस्कृत का नाम 'भारती' भी हो गया; और सरस्वती देवी का भी, जो वाग्-देवता हैं, वाचक पर्याय बन गया। भारतीय संस्कृति के उद्धार का एक आवश्यक अंग इस प्राचीन भाषा का उपोद्वलन है। यह सर्वसम्मत निर्विवाद है कि इसकी, और इसी का, वर्णमाला, ४९ (उन्चास) अक्षरों की, सर्वथा वैज्ञानिक और युक्तियुक्त है। ऐसी किसी भी दूसरी भाषा की नहीं है। इसमे थोड़े से विशेषक चिह्न बढ़ा देने से, मानव जगत् की सभी अन्य भाषायें इस वर्णमाला के अक्षरों से, जिनको नागरी कहते हैं, लिखी जा सकती हैं। यथा 'क' 'ख' और 'ग' के नीचे एक सूक्ष्म बिन्दु लगा देने से अरबी भाषा के जिह्वामूलीय 'क़', 'ख़', और 'ग़' हो जाते हैं, एवं 'फ' से उपध्मानीय 'फ़'। ऐसी वर्णमाला का प्रचार, लिखने के लिये, सब देशों मे हो, तो एक दूसरे की भाषा के सीखने मे बहुत सरलता आ जाय। उर्दू फ़ारसी के चुने हुए उत्तम ग्रंथ, पद्य के भी, गद्य के भी, अवश्य ही नागरी अक्षरों मे छपने चाहिये। तब उनका भारत के सब प्रांतों मे, शिक्षितों मे प्रचार हो।

रोमन लिपि।

संसार की वर्तमान दशा मे, अन्य देशों मे नागरी लिपि का प्रचार कठिन है; इसलिये, अनुकल्प मे, 'रोमन' लिपि का प्रचार किया जाना उचित है। इस पर वक्तव्य तो बहुत है, पर यह अवसर नहीं है।

यहाँ स्वराज्य होने से अन्य देशों मे संस्कृत का आदर।

स्वराज्य के स्थापना से भारत का गौरव इतना बढ़ गया है कि यहाँ के साहित्य का आदर अन्य देशों मे होने लगा है। गत २९ नवम्बर को चीन देश के इक्कीस सज्जन विद्वान् पुरुष, और स्त्रियाँ भी, कृपा करके मेरे घर पर आये थे। भारत के सभी प्रसिद्ध स्थानों मे भ्रमण कर रहे थे, इस लिये काशी भी आये। एक सज्जन पीकिङ् यूनिवर्सिटी में संस्कृत के प्राध्यापक थे, दूसरे फ़िलॉसोफ़ी अर्थात् अध्यात्म विद्या के, जिन्होंने भारतीय दर्शनो का भी अध्ययन किया था। अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, रूस के विद्यापीठों मे संस्कृत के प्रोफ़ेसर नियुक्त किये गये हैं। और रूसी भाषा मे रामायण महाभारत का अनुवाद हुआ है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा: उसका संस्कृत से सम्बन्ध।

भारत सरकार मे हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया है, और उत्तर प्रदेश की सरकार ने संस्कृत का अध्ययन सब छात्रों के लिये सरकारी पाठशालाओं मे आवश्यक कर दिया है। हिन्दी संस्कृत की बेटी ही है; उसके अधिकतर शब्द संस्कृत शब्दों के ही रूपांतर हैं। नये भावों, नये विचारों, को प्रकट करने के लिये जब नये शब्दों का प्रयोजन हो तब संस्कृत कोष मे से सहज मे निकाले जा सकते हैं; संस्कृत आकर है, खान है, शब्दों की और कुछ ऐसी शक्ति, ऐसा प्राण, उसमे है कि, उसकी संतान और विकृति रूप बीसियों प्राकृत भाषायें, इधर ढाई तीन सहस्र वर्षों मे उत्पन्न हुईं और लुप्त भी हो गयीं, पर संस्कृत जी रही है, और बीच बीच मे नया प्राण भी कहीं से ले आती है।

गौतम बुद्ध और महावीर जिन की भाषा और उपदेश ।

बुद्ध देव ने पाली भाषा मे उपदेश दिया, उनके समकालीन और ज्ञाति महावीर जिन ने एक विशेष प्राकृत मे; इसलिये कि वे साधारण जनता मे समझी और बोली जाती थीं। पर तीन चार शतियों में ही वह बदल गयीं दूसरी प्राकृत भाषायें चलने लगीं, क्योंकि साधारण जनता की बोली मे, बिना व्याकरण और कोष के, स्थिरता नहीं रहती; और ईसवी प्रथम शती के पश्चात्, बौद्ध और जैन पण्डितों ने संस्कृत ही मे काव्य, साहित्य, वैद्यक, न्याय आदि पर अच्छे-अच्छे ग्रन्थ अपने विशेष धर्म की दृष्टि से लिखे। बुद्ध का 'धम्मपद' और जिन की उक्तियों का 'महावीर वाणी' नामक संग्रह, अब भी मूल भाषा मे पढ़े पढ़ाये जाते हैं, और उनका स्थान उन धर्मों मे वैसा ही है जैसा सनातन धर्म मे गीता का। बुद्ध को सनातन धर्मी भी विष्णु का अवतार मानते हैं; 'जन्मना वर्ण:' के अप-सिद्धान्त का दोनो महापुरुषों ने बलवान् शब्दों मे खंडन किया है, और 'कर्मणा वर्ण:' के सत् सिद्धान्त का समर्थन। बुद्ध ने 'वुशल सुत्त' मे कहा है—

न जच्चा वुसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मण:;
कम्मुना वुसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मण:।
[न जात्या (जन्मना) वृषलो भवति, न जात्या भवति ब्राह्मण;
कर्मणा वृषलो भवति कर्मणा भवति ब्राह्मण: ।]

महावीर जिन ने भी 'उत्तराध्ययन सूत्र' मे यही कहा,

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा हवइ खत्तियो,
कम्मुणा वइसा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा;
सक्ख खु दीसइ तपो-विसेसो,
न दीसई जाति-बिसेस कोई ।
[कर्मणा ब्राह्मणो भवति, कर्मणा भवति क्षत्रिय,
कर्मणा वैश्या भवति, शूद्रो भवति कर्मणा;

साक्षात् खलु दृश्यते तपा-विशेषः न दृश्यते जाति-विशेषः कोऽपि]

साम्प्रत काल मे स्वामी दयानन्द जी ने भी वर्ण-व्यवस्था के इसी सच्चे सिद्धान्त पर बल दिया है।

आजकाल प्रचलित भारत की मुख्य प्रान्तीय भाषायें।

प्रसंग से इसकी चर्चा यहाँ कर दी गई; आगे इस पर और कहा जायगा। विचार, भारत की भाषा का हो रहा था, क्योंकि, प्रत्येक 'सिविलिजेशन' और 'सिविलाइज़्ड नेशन', संस्कृति, सभ्यता, शिष्टता, और शिष्ट सु-संस्कृत जाति वा समाज, की एक विशेष भाषा भी होती है। जैसा ढाई सहस्र वर्ष पहिले की पाली और प्राकृत भाषा लुप्त हो गई, वैसे ही उनके पीछे वे प्राकृत भाषायें भी लुप्त हो गईं, जिसको भास, कालिदास, भवभूति आदि कवियों ने अपने नाटकों मे स्त्री, शूद्र, पात्रों के मुख मे रक्खा है; पर संस्कृत सदा बनी रही।

इस समय उत्तर भारत मे चार भाषायें प्रचलित हैं, हिन्दी, बँगला, मराठी, और गुजराती; दक्षिण मे भी चार, तेलुगु, तामिल, मलयाली, कन्नड; इन सब मे संस्कृत या उससे निकले शब्द बहुतायत से हैं; इनके अवांतर भेद कई और हैं; कश्मीरी कुछ अधिक भिन्न है; पञ्जाबी थोड़ी; पर कश्मीर, पञ्जाब, राजस्थान आदि मे उत्तर प्रदेश की हिन्दी प्रायः समझी जाती है; एवं महाराष्ट्र, गुर्जर, और बङ्गाल देशों मे भी तीर्थ स्थानों मे तो समझी जाती ही है; राष्ट्रभाषा नियत हो जाने से नगरों मे भी अधिकाधिक समझी जाने लगी है।

पूर्वकाल मे संस्कृत ही राष्ट्रभाषा।

प्रायः महाराज हर्षवर्धन के समय तक, अर्थात् विदेशी आक्रमण से पूर्व, यहाँ की राष्ट्रभाषा संस्कृत इस अर्थ मे थी कि सब प्रान्तों मे शिक्षित सज्जन उसे समझते थे, जैसे अंग्रेजी राज मे और आज तक भी, अंग्रेजी को।

संस्कृत-निष्ठ हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा।

यह प्रायः सिद्ध ही है कि अब भारत मे संस्कृत-निष्ठ हिन्दी ही जनता की बोली हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो फ़ारसी, अरबी, अंग्रेजी शब्द, सैकड़ों वर्ष के सम्पर्क के कारण हिन्दी मे घुल-मिल गये हैं, (यहाँ तक कि तुलसीदास जी ने कुछ का रामायण मे प्रयोग किया है), उनका बहिष्कार किया जाय, उनको तो रखना ही होगा; और नयों को भी, विशेष कर पाश्चात्य विज्ञान के सांकेतिक शब्दों को अपनाना होगा। सम्भव है कि हिन्दी मे शुद्ध संस्कृत शब्दों का मेल अधिकाधिक होते-होते, पचास साठ वर्ष मे, संस्कृत ही सर्व-साधारण के व्यवहार में आ जाय, जैसी महाभारत काल मे थी। पर यह कुछ कठिन है; अल्पकाल मे नहीं हो सकता। हाँ, संस्कृत का व्याकरण, जो इस समय बहुत क्लिष्ट है, कई प्रकार से सरल किया जा सकता है। यदि यह किया जाय, और पाठशाला आदि मे संस्कृत सिखाने का वह प्रकार अपनाया जाय जिससे नई पीढ़ी अपनी मातृभाषा सीखती है, तो पचास साठ वर्ष का काम स्यात् पच्चीस तीस मे ही हो जाय; अर्थात् बालक बालिकाओं के साथ उसी भाषा मे बोलने से।

संस्कृत भाषा, भारतीय संस्कृति का एक प्रधान अंग। इसमे लिखे बहुविध शास्त्र।

संस्कृत वाणी का भारत मे विस्तृत अध्ययन, अध्यापन, भारतीय संस्कृति का एक मुख्य अंग इस हेतु से है कि, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारो पुरुषार्थों के साधक, सनातन धर्म के सब प्राचीन उत्तम ग्रन्थ, वेद, उपवेद, वेदांग, स्मृति, पुराण-इतिहास, वेदांत-उपनिषत्, तथा आर्ष-सूत्र-भाष्य-युक्त प्राचीन दर्शनो के ग्रंथ; इसी मे लिखे हैं। प्रवृत्ति मार्ग के जीवन के उपयोगी बहुविध शास्त्र, आयुर्वेद, गांधर्व-वेद, कृषि-शास्त्र, गोपालन-गोवर्धन-शास्त्र, अश्व-शास्त्र वा हय-वेद, हस्तिवेद, तौर्यत्रिक शास्त्र अर्थात् गीत-वाद्य-नृत्य-विद्या, नाटचशास्त्र, जीवजन्तु विद्या,

समुद्रगामी नदीगामी वहित्रों और नौकाओं के निर्माण पर ग्रंथ, भूगोल-विद्या, भूगर्भ विद्या, पुरुष-सामुद्रिक, रत्न विद्या, स्वर्ण-रजत-लौहादि-खनिज-पदार्थ विद्या, तथा अन्य विविध ललित कलाओं और वृत्ति-साधनोपयोगी कलाओं पर, सैंकड़ों सहस्रों ग्रंथ इसी संस्कृत भाषा मे लिखे गये। इनमे से बहुतेरे लुप्त हो गये; विदेशी आक्रमणो से बहुत नष्ट हुए; कई सौ वर्षों से पण्डितों ने इनका परिशीलन छोड़ दिया; अन्य हेतुओं के साथ एक मुख्य यह कि नव्य व्याकरण, नव्य न्याय, नव्य मीमांसा, नव्य वेदांत आदि पर ही श्रम, जिनमे क्लिष्ट शब्दों का आडम्बर बहुत और अर्थ थोड़ा, और वह भी जनता के जीवन व्यवहार मे नितरां अनुपयोगी, असहायक। पंडितों की सभाओं मे केवल वाद विवाद, जल्प, वितंडा, वाचिक मल्ल युद्ध देख सुन पड़ता है; काम की बात कुछ नहीं। काव्य साहित्य मे जो कुछ थोड़े ग्रंथ पढ़े पढ़ाये जाते हैं उनमे भी कितने ही अध्याय अश्लीलता पूर्ण रहते हैं। निश्चयेन काम शास्त्र का ज्ञान भी भावी गृहस्थ के लिये आवश्यक है; पर उस के उत्तम ग्रंथ, यौवनप्राप्त विद्यार्थी को, समावर्तन से पहिले, आचार्य द्वारा प्राप्त होने चाहियें। काम-शास्त्र पर जो ग्रंथ मिलते हैं वे अच्छे नहीं हैं; प्रायः राजस तामस भावों से भरे हैं; वात्स्यायन-कृत काम-सूत्र और उसकी उपलब्ध टीकाओं मे भी कई अंश बहुत तामस हैं; उनको शोधकर पढ़ना चाहिये। अंग्रेज़ी मे इस विषय पर कई एक अच्छे-अच्छे ग्रंथ मिलते हैं। मै ने इस पर अपने हिन्दी ग्रंथ 'पुरुषार्थ' के 'कामाध्यात्म' नामक चतुर्थ अध्याय मे विशेष कर, तथा अन्य अध्यायों मे भी, यथाबुद्धि, यथाशक्ति, विस्तार से, सात्विक काम के प्रतिपादन का यत्न किया है। त्रुटियाँ तो बहुत रह गयी हैं, उनको दूर करके, नये उत्तम ग्रंथ लिखना, नयी पीढ़ी के प्रौढ़ विद्वानों का कर्तव्य है।

भारतीय संस्कृति के मूल-भूत धर्म-ग्रंथ, मनुस्मृति और इतिहास-पुराण।

यहाँ तक भारतीय संस्कृति के एक मुख्य अंग, हिन्दी और संस्कृत

वाणी की चर्चा हुई; अब द्वितीय अंग की ओर ध्यान देना चाहिये। सनातन धर्म के मूल वेद-वेदांत कहे जाते हैं, पर व्यवहार मे, मनु-स्मृति, इतिहास-पुराण, और भगवद्गीता ही के अनुसार हिंदू जीवन चलाया जाता रहा है, कभी अच्छी रीति-नीति से, कभी भ्रष्ट प्रकार से। कहा भी है,

सर्वज्ञानमयो वेदः, सर्ववेदमयो मनुः।
यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मः मनुना परिकीर्तितः,
सः सर्वोऽभिहिते वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः। (मनु.)
यद् वै किंचन मनुः अवदत् तद् भेषजं। (वेद)

सब श्रेष्ठ ज्ञान वेद मे भरा है, सब वेद मनु के मन मे है। जो धर्म, जिस किसी का, मनु ने कहा है वह सब वेद के अनुसार ही कहा है; मनु सर्वज्ञानी हैं। जो कुछ मनु ने कहा है वह सब मनुष्य के लिये वैसा ही हितकर है जैसे रोगी के लिये औषध। बीच-बीच मे किसी विशेष धर्म का प्रतिपादन करके, मनु स्वयं पुनः पुनः कहते हैं, 'एष धर्मः सनातनः'। 'सनातन धर्म' क्यों नाम रक्खा गया है, इस का क्या अर्थ है, इसे समझना चाहिये। गीता में कहा है 'नित्यः सर्वगतः' स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः'; एक परमात्मा ही नित्य है, सर्व-व्यापी, अनंत, अपरिमित, अचल है, अन्य सब पदार्थ नश्वर, परिच्छिन्न, परिमित, चंचल हैं। इस सनातन की प्रकृति से, स्वभाव से, जीवात्माओं के कल्याण के लिये जो धर्म निकलते हैं वे ही धर्म सनातन हैं, सदा सत्य हैं। इस परमात्मा को दूसरी भाषा बोलने वाले ज्ञानियों ने भी पहिचाना है और बड़े हृदयग्राही शब्दों मे उसका वर्णन किया है,

न कोइ पर्दा है उसके दर पर, न रूये रौशन नक़ाव मे है,
तु आप अपनी खुदी से, ऐ दिल !, हिजाब मे है, हिजाब मे है।
फ़क़त तफावत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक ही हैं, यारो !
जो आबे साक़ी के मौज मे है, उसी का जल्वा हुबाब मे है।

परमात्मा स्वयं-प्रकाश है जैसे सूर्य, उसके मुख पर कोई नक़ाब,

घूंघट आवरण नहीं पड़ा है, न उसके द्वार पर कोई पर्दा है; हे मेरे हृदय !, तेरी ही आखों पर खुदी का, स्वार्थ का, आवरण पड़ा हुआ है जिसके कारण तू सूर्य को भी नहीं देख सकता है। हे भाइयो !, हम सब दर असल, तत्त्वतः, एक ही हैं, केवल नामो का भेद है; जो स्वच्छ जल, महा तरंग मे है, वही छोटे से छोटे बुल्बुले मे है; एक ही परमात्मा सब जीवात्माओं मे व्याप्त है, इस हेतु सब जीवात्मा एक ही हैं, केवल नाम रूप का भेद है। यही सनातन धर्म का सार है, तथा अन्य सभी बड़े धर्मों, मज़हबों, रिलिजन्स का, जो मानव जगत् मे प्रचलित हैं। इस पर आगे और कहा जायगा।

बुद्ध और जिन के पहिले का इतिहास, इस देश का, प्रामाणिक रूप से नहीं मिलता। मोहन-जो-दड़ों और हारप्पा की खुदाई से पुरातत्त्व के अन्वेषकों ने आज से प्रायः छः सहस्र वर्ष पहिले की सभ्यता का पता लगाया है। दुर्भाग्य से वे दोनो स्थान, एवं तक्षशिला, पुष्कलपुर, आदि अन्य भी, पाकिस्तान मे चले गये हैं। उस देश के शासकों को इस प्रकार की खोज की ओर कोई रुचि नहीं हैं। प्रत्युत, स्यात् वे उन अवशेषों को नष्ट कर देना चाहते हों, क्योंकि उनमे हिन्दुत्व का गंध होगा। भारत की केंद्रीय सरकार के एक मंत्री ने संविधान-संसत् के एक अधिवेशन मे, कुछ समय हुआ, कहा था कि पाकिस्तान मे नौ सौ अस्सी (९८०) मंदिर, गुरुद्वारे, तीर्थ आदि नष्ट या बंद कर दिये गये। यह भी दैनिक पत्रों मे छपा है कि सिंधु की धारा स्थान परिवर्तन कर रही है, और संभव है कि मोएन-जो-दड़ो (मुए मरे हुओं का टीला) का अप्लावन हो जाय[1]। पूर्व काल का इतिहास, और तत्कालीन संस्कृतियों का वर्णन, रामायण, महाभारत, और पुराणो मे कुछ मिलता है। उसको कहाँ तक सत्य मानना, कहाँ तक कल्पित, यह अपनी अपनी समझ पर आश्रित है।

---

१. अभी (१९५७ ई०), अहमदाबाद के पास खोदने से, बहुत बड़े-बड़े प्रस्तर खंड मिले हैं, जो सर्वथा उसी प्रकार के हैं, जैसे मोएन-जो-दड़ो के।

कुछ अंग्रेज़ विद्वानो ने भी माना है कि पुराणो का सब अंश सर्वथा हेय नहीं है; यथा पार्जाइटर, आइ० सी० एस०, ने, जिन्होंने मार्कण्डेय पुराण का अंग्रेज़ी मे अनुवाद किया है। क्षेपक इनमे कहीं कहीं निश्चयेन किये गये हैं। स्यात् प्रचलित मनु स्मृति मे भी कुछ श्लोक प्रक्षिप्त हों। यह निर्णय करना कठिन है कि कौन प्रक्षिप्त हैं; पर जो गीतोक्त अध्यात्म शास्त्र के विरुद्ध हों उनको प्रक्षिप्त, अथवा वर्तमान काल मे अनुपयुक्त और त्याज्य, मानना उचित होगा।

महाभारत

दिवंगत श्री चिंतामणि विनायक वैद्य ने इस विषय का बहुत अच्छा और विस्तीर्ण विवेचन अपने 'भारत-मीमांसा' नामक ग्रन्थ मे किया है। उनका निर्णय यह है कि जैसे आज काल के ऐतिहासिक आख्यानकों, 'हिस्टॉरिकल नौवेल्स', मे कुछ अंश ऐतिहासिक तथ्य होता है, कुछ ग्रन्थकार का 'मनसा कल्पित', वैसी ही महाभारत की कथा है। पाण्डव-कौरवों की कथा अंशतः ऐतिहासिक सत्य है जिसको व्यासजी ने स्वयं देखा था, और कुछ 'मनसा कल्पित' है। स्वयं उन्होंने कहा है,

लेखको भारतस्यऽस्य भव त्वं, गणनायक !,
मयैव प्रोच्यमानस्य, मनसा कल्पितस्य च ।

हे गणेशजी, मै बोलता हूँ, तुम लिखो, इस भारत की कल्पना मैने मनसा की है। मुख्य कथा-वस्तु, पाण्डव-कौरवों का जीवन और युद्ध, ऐतिहासिक है, और अधिकांश उपाख्यान, जो उस काल के वातावरण मे भरे थे, और वृद्धों की परम्परा मे 'आगम' रूप से आगत थे, उनको अपने मन से घटा-बढ़ाकर, अपने शिष्य वैशम्पायन, और उनके शिष्य सूत-जातीय रोमहर्षण, और उनके पुत्र सौति उग्रश्रवा द्वारा संग्रह करा कर, एक लक्ष श्लोकों का श्रेष्ठ रोचक और उपदेशक बृहत्काव्य लोकोपकार के लिये प्रस्तुत किया। 'रोमहर्षण' और 'उग्रश्रवा' नामो से भी सूचित होता है कि ये सज्जन अतिशयोक्ति और अतिरंजन के व्यसनी

थे। वैद्य जी का विचार है कि स्वयं व्यास जी का रचित मूल ग्रंथ ८८०० (आठ सहस्र आठ सौ) श्लोकों का है, और उसका नाम 'जय' है। फिर रोमहर्षण द्वारा बढ़वाने पर २४००० श्लोक हुए, और उसका नाम 'भारत' हुआ। पुनः उग्रश्रवा द्वारा बढ़वाने पर १००००० श्लोक के ग्रन्थ का नाम 'महाभारत' हुआ। महाभारत मे सैकड़ों आश्चर्यकारी अद्भुत बातें लिखी हुई हैं। स्वयं व्यास की माता का मछली के पेट से जन्म, तथा सभी मुख्य पात्रों के, पाण्डव-कौरवों, भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, कृष्ण, बलराम, द्रौपदी और धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, आदि के जन्म, अर्जुन का सदेह स्वर्ग जा कर इन्द्र से अस्त्र सीखना, राक्षसों का विना विमान वा अन्य यंत्र के आकाश मे उड़ना, विविध अस्त्रों और शस्त्रों के चमत्कार—इनको तार्किक बुद्धि की दृष्टि से मनगढ़ी, 'मनसा कल्पित' ही मानना पड़ता है। रामायण तथा पुराणों मे भी ऐसी अनेक बातें हैं। ऐसी बातें बाल-बुद्धियों को ग्रंथ रोचक बनाने के लिये लिख दी गई हों; तथा इनमे से कुछ तो प्रायः निश्चयेन गूढ़ार्थ रूपक हैं।

रूपक

इतिहास-पुराण मे सैकड़ों रूपक भरे हैं, जिनका अक्षरार्थ पंडितमानी सज्जन अपने अनुयायियों को सत्य मनवाते हैं, और शंका करने पर, 'नास्तिक' 'नास्तिक' कहकर नरकों का भय दिखाते हैं। सूर्य-ग्रहण चंद्र-ग्रहण मे राहु दैत्य, देवासुर संग्राम के समय के वैर के कारण, सूर्य और चंद्र को निगलने का यत्न करता है, और नदी वा सरोवर मे, विशेष कर काशी की गंगा मे, स्नान करने से और ब्राह्मण-नामधारियों को दान देने से आस्तिक लोग उनको राहु के मुख से छुड़ा लेते हैं। विन्ध्य पर्वत एक समय इतना ऊँचा उठने लगा कि सूर्य का रथ रुक जाने का भय हुआ; देवताओं ने ब्रह्मदेव से निवेदन किया; उन्होंने अगस्त्य ऋषि से कहा, तुमको विंध्याचल गुरु मानता है, इस समय तुम उत्तर मे हो, दक्षिण को जाओ, तुमको विंध्य प्रणाम करेगा, तुम उसको आदेश देना कि जबतक मै न लौटूं तबतक तुम ऐसे ही पड़े रहना; अगस्त्य ने वही

किया; तब से बेचारा पर्वत भारत के आरपार लेटा हुआ पड़ा है; सूर्य देव का रथ निःशंक दौड़ता है। सूर्य देव के रथ मे सात घोड़े जुते हुए हैं। इत्यादि। यह सब कहानियाँ अफ़ीमची के स्वप्न नहीं हैं अर्थशून्य नहीं हैं; खोजने से, विचारने से, इनमे गूढ़ वैज्ञानिक अर्थ मिलते हैं। यथा, सूर्य के सात अश्व वे सात रंग के हैं, 'स्पेकट्रम्' के, जिनके परस्पर लीन हो जाने से श्वेत किरण बनती हैं; इनमे से तीन तो, वर्षा ऋतु मे, इन्द्र धनुष मे बहुधा देख पड़ते हैं। विंध्य के लेट जाने का अर्थ निश्चयेन नहीं कर सकता, क्योंकि उतना ज्ञान नहीं है, किंतु पाश्चात्य भूगोल-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, और ज्योतिःशास्त्र की सूचनाओं से ऐसा अनुमान होता है कि सहस्रों वर्ष के अनन्तर पृथ्वी की विविध गति मे कुछ परिवर्तन होता है, जैसे निद्रा मे मनुष्य करवट बदलता है; उस समय भूतल पर भीषण उथल-पुथल होता है, जहाँ समुद्र था वहाँ महाद्वीप, जहाँ महाद्वीप था वहाँ महोदधि, जल के स्थान मे मरु, मरु के स्थान मे जल। पाश्चात्य वैज्ञानिकों का अनुमान है कि, किसी बहुत प्राचीन काल मे 'सहरा' नामक मरुस्थल, अरब का रेगिस्तान, एवं राजपुताने का मरुधन्व, सब मिले हुए थे; फिर बहुत बड़े भू-कंप आदि से बीच मे 'रेड सी', लोहितोदधि, और अरब सागर आ गए। कृष्ण ने, शरीर छोड़ने से पहिले, यादव संहार से बचे हुए पुरुषों से कहा था कि सब लोग यहाँ से शीघ्र ही मथुरा चले जाओ, क्यों कि, 'मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति', मेरे चले जाने के पश्चात् यदुपुरी द्वारका को समुद्र निगल लेगा। ऐसे ही किसी अति प्राचीन महाविप्लव के समय विंध्याचल धराशायी हो गया। यहूदी और ईसाई धर्म ग्रन्थ 'बाइब्ल' मे, हज़रत नूह के समय के बड़े आप्लाव का वर्णन है। अभी-अभी, डेढ़ वर्ष होते आए, आसाम मे और आस-पास जो भारी भूकम्प हुआ, उसमे हिमालय के उच्चतम शिखर, धवलगिरि और गौरीशंकर (जिनको किंचिजुंगा और एवरेस्ट अब कहते हैं) दो सौ फुट और ऊँचे उठ गए, ऐसा पाश्चात्य वैज्ञानिकों का कहना है। अपनी अद्भुत बुद्धि से इन लोगों ने

बड़ी जेब घड़ी के सदृश एक ऐसा यंत्र बनाया है जिससे स्थान-स्थान पर पर्वतों का उच्छ्राय, तथा वायुयान की भूतल से दूरी, जान सकते हैं।

ऐसे कतिपय पौराणिक रूपकों के आनुमानिक अर्थ मैने 'पुरुषार्थ', 'समन्वय', और 'दर्शन का प्रयोजन' नाम के हिंदी ग्रंथों मे, तथा 'मानव-धर्म-सार' नाम के संस्कृत पद्य-ग्रंथ मे दिखाने का यत्न किया है।

रूपकों का वैज्ञानिक अर्थ ढूढ़ना आवश्यक।

इन प्राचीन रूपकों का वैज्ञानिक अर्थ खोज निकालना इतिहास-पुराण को, वेद के संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक को, नवीन वैज्ञानिक दृष्टि से (जिसका आजकाल भारत मे बहुत आदर और प्रसार है, और एक सीमा तक यह आदर उचित भी है) पुनः सम्मान योग्य बनाने के लिये आवश्यक है; ये ही प्राचीन ग्रंथ, तथा मनु आदि स्मृतियाँ, सनातन धर्म की नीवी हैं, जिस धर्म के प्रतिष्ठापन विना 'भारतीय संस्कृति' शब्द नितराँ अर्थ-शून्य रहैगा, और आधुनिक-शिक्षा-प्राप्त नई परुष् (पीढ़ी) के लोग उसका अपमान ही करैंगे, जिन्हीं लोगों मे उसकी ओर रुचि और श्रद्धा का उत्पादन करना परम आवश्यक है, और इस सम्मेलन के लक्ष्य के अन्तर्गत है। पूर्व और पश्चिम, नये और पुराने, उत्तम ज्ञानों और विचारों का समन्वय भी नितांत अभीष्ट है, भारत की वर्तमान अवस्था मे।

शास्त्रीय विकल्प।

पंडित मण्डली में एक श्लोक प्रचलित है,

पुराणं, मानवो धर्मः, आयुर्वेदः, तथा श्रुतिः,
आज्ञा-सिद्धानि चत्वारि, न हंतव्यानि हेतुभिः।

पुराण-इतिहास, मनुस्मृति, आयुर्वेद और वेद, ये चार बहुत वृद्धों की आज्ञा के सदृश हैं, इनको मान लेना ही चाहिये; तर्कों से इनका विरोध नहीं करना चाहिये। नये शब्दों मे, 'स्टाँन्डर्ड बुक आफ़् हिस्टरी, स्टॉटच्यूट बुक आफ़ लॉज़्, मेडिकल सायंस्, स्क्रिप्चर'। पर नयी शिक्षा

पाया हुआ किसकी आज्ञा मान सकता है ? हाँ, पाश्चात्य वैज्ञानिक की आज्ञा को तो वह आँख बंद और सिर झुका कर मानता है। पर ये वैज्ञानिक स्वयं अपने मत, आये दिन, बदलते रहते हैं; अंग्रेजी मे लोकोक्ति बन गई है, 'डॉक्टर्स डिफ़र ऐंड पेशेंट्स सफ़र, 'डाक्टरों मे मतभेद होता है और रोगी की दुर्दशा होती है। परंतु वैज्ञानिकों मे परस्पर वाद और बुद्धि-संमर्द होना, एक सीमा तक, बहुत उचित भी है; बिना इसके, ज्ञान और शास्त्र का उत्कर्ष नहीं है। चरक ऐसे प्रामाणिक चिकित्सा ग्रंथ मे ऐसे वाद कई स्थान पर लिखे हैं; कहीं अपना सिद्धान्त कह दिया है, कहीं 'एते शास्त्रगताः विकल्पाः' कह के छोड़ दिया है, अर्थात् अपने अपने मत के अनुसार चिकित्सा की जाय, सभी विकल्प रूप से शास्त्र मे कहे हैं। प्रत्यक्ष है कि कई प्रणाली प्रचलित है, आयुर्वेदीय, पाश्चात्य वैज्ञानिक, होमियोपैथी आदि; सभी से कोई रोगी निरोग हो जाते हैं, कोई नहीं। मेरा निजी अनुभव है, उग्र रोगों से ग्रस्त कई आतुर, आयुर्वेदीय चिकित्सा से अच्छे हुए, जिन को पाश्चात्य वैज्ञानिक चिकित्सकों ने असाध्य कह दिया था। पर शल्य-शालाक्य चिकित्सा, पाश्चात्य ही उत्तम है, यह भी निस्संदेह है।

आयुर्वेद का उज्जीवन हो रहा है, पर इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। यह उज्जीवन, भारतीय संस्कृति के उद्धार के लिये नितांत आवश्यक है। औषधों के लिये दूसरे देशों का मुख देखना, यह तो भारी परतंत्रता है; हाँ, जो वस्तु यहाँ नहीं ही मिल या बन सकती उसे तो दूसरे देश से लाना ही होगा।

अच्छे पदार्थ सबसे लेना उचित

स्त्रियो, रत्नानि, अथो विद्याः, धर्माः, शौचं, सुभाषितं,
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः। (मनु. ३. २४.)

विवाह योग्य उत्तम बेटियाँ, विविध रत्न, विद्या, धर्म, शौच के उपाय, सुभाषित, और विविध शिल्पकला, जहां ही मिलैं वहाँ से लेनी ही

चाहिये। आयुर्वेद के साथ पाश्चात्य शारीर-शास्त्र और शल्य-शालाक्य-चिकित्सा का अध्ययन आवश्यक है। सभी शास्त्र इस लिये रचे गये कि मनुष्य उनमे एकत्र किये गये ज्ञान से काम लें और जीवन के दुःख घटावें; "सर्वेषां पुरुषार्थानां शरीरं साधनं परं', सब पुरुषार्थों का प्रथम और मुख्य साधन शरीर है; उसको स्वस्थ रखना आयुर्वेद का काम है; इसलिये आयुर्वेद सभी अन्य शास्त्रों से काम लेता है, यहाँ तक कि सांख्य-योग-वेदांत से भी।

सुश्रुत मे कहा है,

अन्यशास्त्रोपपन्नानां चऽर्थानां इह उपनीतानां अर्थवशात् तेषां तद्विद्यभ्यः व्याख्यानां अनुश्रोतव्यं; कस्मात्? नहि एकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणां अनुरोधः कर्तुं। एकं शास्त्रं अधीयानो न विद्यात् शास्त्रनिश्चयं, तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सकः (सूत्र०, अ० ४)। इस आयुर्वेद मे प्रसङ्गवश कहे हुए जो विषय अन्य शास्त्रों के हैं उनको उन उन विषयों के विशेषज्ञो से सविस्तर सुनना सीखना चाहिये। किसी एक शास्त्र ग्रंथ मे, चाहे वह एन्साइक्लोपीडिया ही क्यों न हो, सब शास्त्रों का पूरा पूरा संग्रह नहीं किया जा सकता। परन्तु वैद्य को बहुश्रुत होना चाहिये, बहुत से शास्त्रों की सार बातें जानना चाहिये 'एकमेव शास्त्रं जानानः न किंचित् अपि शास्त्रं जानाति', जो एक ही शास्त्र को जानता है वह कुछ भी नहीं जानता, उसको अपने शास्त्र की बातें असंदिग्ध रूप से नहीं विदित होतीं।

इतिहास-पुराण से वेद का उपबृंहण

इसीलिये मनुस्मृति, वायुपुराण, महाभारत आदि मे पुनः पुनः कहा है,

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्,
विभेति अल्पश्रुताद् वेदः, मां अयं प्रतरिष्यति।

'प्रहरिष्यति' भी पाठ है। वेद के अर्थ का उपबृंहण, विस्तारण, भाष्य-टीका, इतिहास-पुराण से करना चाहिये। जो अल्पश्रुत है उससे

वेद डरता है, कि यह मुझे ठग लेगा, मुझ पर प्रहार करैगा, अर्थ का अनर्थ करैगा। महाभारत मे बहुधा देख पड़ता है, कोई वृद्ध ऋषि वा पिता पितामह राजाओं वा युवाओं को उपदेश करते हुए कहते हैं,

अत्रऽपि उदाहरंति इमं इतिहासं पुरातनं।

इस अवस्था मे क्या कर्तव्य है इसको जानने के लिये पुरातन इतिहास का उदाहरण देखो; अमुक ने उचित कार्य किया और सुख पाया; अमुक ने नहीं किया, दुःख भोगा। युनाइटेड् स्टेटस् आफ़् अमेरिका से सन् १७७६ ई० मे, और भारत से सन् १९४७ ई० मे, ब्रिटेन का संबंध टूटने का कारण, शासकों की वही भूलैं दोनों देशों मे हुईं; भेद इतना ही हुआ कि, अमेरिका की जनता ने सशस्त्र विरोध किया, यहाँ निःशस्त्र; पर यहाँ भी बहुत रक्तपात, प्राणघात, सम्पत्तिनाश, अमेरिका से बहुत अधिक, साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारण हुआ।

'पुराण' शब्द का निर्वचन; 'ब्रह्मा' के कई अर्थ।

वायुपुराण मे लिखा है कि 'यस्मात् पुरा अनति इदं, पुराणं तु ततः स्मृतं'; अन्यत्र यह भी, 'वेदेभ्योऽपि पुरा जातं पुराणं इति कथ्यते', वेदों से भी पहिले ब्रह्मदेव ने इसे बनाया और इसने प्राण-श्वास लिया, इसलिये पुराण कहलाया। ब्रह्मा शब्द के कई अर्थ हैं; वायुपुराण महाभारत आदि मे कहा है, 'मनो, महान् , मतिः, ब्रह्मा, पूः, बुद्धिः, ख्यातिः, ईश्वरः', आदि। सर्व-व्यापी, सर्व-विधाता, सर्व-नियंता, कर्ता-संहर्ता, परमात्मा परब्रह्म का मायारूप मन। इसी को सांख्य मे महत्तत्व, बुद्धि-तत्व, नाम दिया है; फ़ारसी अरबी में अक़्ल-कुल् और रूहि-कुल्; अंग्रेजी (लैटिन्) मे 'इंटे-लेक्टुस्-मंडाइ' और 'ऐनिमा मंडाई'। यह मुख्य अर्थ है। दूसरा अर्थ, किसी जातिके वृद्धतम, बहु-अनुभवी, बहु-ज्ञानी, सर्व-हितेच्छु, सर्व-संवाद-कारी, मेल और शांति कराने वाले प्रपितामह। तीसरा अर्थ, यज्ञ के प्रधान ऋत्विक् का सांकेतिक नाम। वृद्धों ने, ऋषियों ने समय समय पर, विविध ज्ञानो का संग्रह, पुराणों, वेदों, शास्त्रों मे किया।

ऋण-त्रय।

'जायमानो ह पुरुषः त्रिभिः ऋणैः ऋणवान् जायते', मनुष्य तीन ऋण सहित जन्म लेता है, देव-ऋण, पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण; पंच तत्त्वों के देवताओं ने पंच महाभूतों की बनी सृष्टि बनाई, जिसके बीच रहकर मनुष्य सुख-दुःख का अनुभव करता है; पितरों की परम्परा से इन्द्रिय-युक्त शरीर मिलता है, जिस के द्वारा अनुभव करता है; अपने निजी अनुभव से ज्ञान तो अत्यंत थोड़ा मिलता है, प्राचीनों के संग्रह किये और पुस्तकों मे लिखे ज्ञान से ही हम को वह ज्ञान मिलता है, जिससे लोकयात्रा हमारी होती है। इसी हेतु से तीन ऋण। विविध इष्ट और आपूर्त्त से, होम हवन से, वापी, कूप, तटाक आदि बनवाने से, वृक्षों के लखराँव लगवाने से, देव-ऋण चुकता है, क्यों कि देवों के बनाये जो द्रव्य, जो तत्त्व, हम अपने काम मे लाते हैं, उनका इष्ट और आपूर्त्त से नवीकरण और पूरण होता है। एवं उत्तम सन्तान के उत्पादन, पालन, पोषण से पितृ-ऋण, और उसको सच्छास्त्र पढ़ाने और पढ़वाने से, और उसके ज्ञानवर्धन से, ऋषि-ऋण का मोचन होता है। नये शब्दों मे 'डिस्‌चार्ज ऑफ़् थ्री-फ़ोल्ड् सोशल् डेट्', कहेंगे।

ज्ञान का दुरुपयोग; गुण-दोष का संकर।

अब तो छापाख़ानो द्वारा नित्य नूतन वैज्ञानिक उपज्ञो का ज्ञान प्रतिदिन फैलता रहता है, और उसका सद् उपयोग भी, और बहुत असद् दुष्ट पापिष्ठ दुरुपयोग भी होता रहता है। एवं अच्छे साहित्य का भी, और घोर राजस तामस दुराचार-वर्धक साहित्य का तो अत्यधिक प्रचार प्रसार हो रहा है। प्रकृति का अदम्य अ-निवार्य नियम है कि गुण के साथ दोष, प्रकाश के साथ छाया और अन्धकार भी, लगा ही रहता है,

नऽत्यंतं गुणवत् किंचित्, नऽत्यंतं दोषवत् तथा;
गुणऽधिकं अल्पदोषं कार्यं कुर्यात् ततो बुधः। (म. भा.)

कोई पदार्थ, कोई कर्म, ऐसा नही जो सर्वथा गुणवान् ही वा सर्वथा दोषवान् ही हो; समझदार को चाहिये कि जो, अवस्था की दृष्टि से अधिक गुणवान् और अल्प दोषवान् हो उसी का उपयोग प्रयोग करै। आजकाल के शब्दों मे, 'चूज़ दि लेसर् ईविल्, ऍंड् ग्रेटर् गुड्'।

नऽमंत्रं अक्षरं किंचित्, न च द्रव्यं अनौषधं,
नऽयोग्यः पुरुषः कश्चित्, प्रयोक्तैव तु दुर्लभः। (मत्स्य पु. अ.१)

कोई अक्षर नहीं जिसमे मन्त्र शक्ति नहीं, कोई द्रव्य नहीं जिसमे औषध शक्ति नहीं, कोई पुरुष नहीं जो सर्वथा अयोग्य; किन्तु शक्ति और योग्यता को पहिचानने वाला और उचित अवसर पर उपयोग प्रयोग करने वाला ही दुर्लभ है। 'गुण ना हेरान्यो, गुणगाहक हेरान्यो है'।

धर्म मे परिवर्तन के कारण।

गुण और दोष का मिला रहना, और अवस्था बदलने से मात्रा बदलना, ही धर्म और आचार के बदलने का मुख्य कारण है। जिस कार्य मे आज अधिक गुण है, उसमे कल अधिक दोष; अथवा इसका उलटा; 'प्रतिक्षण-परिणामिनी प्रकृतिः'।

अन्ये कृतयुगे धर्माः, त्रेतायां, द्वापरेऽपरे,
अन्ये कलियुगे नृणां, युगह्रासानुरूपतः। (मनुः १.८५)
न ह्येव ऐकांतिको धर्मः, धर्मो हि आवस्थिकः स्मृतः।
सम्पद् धर्मः तु अथ अन्योऽस्ति, आपद्धर्मः तथाऽपरः।
नहि सर्वहितः कश्चिद् आचारः सम्प्रवर्तते;
तस्माद् अन्यः प्रवभति; सः अपरं बाधते पुनः;
आचाराणां अनैकाग्र्यं तस्मात् सर्वत्र लक्षये। (म.भा.शांति)

सत्ययुग मे मनुष्यों के धर्म-कर्म दूसरे थे, त्रेता मे, द्वापर मे, कलि मे दूसरे हुए। अधिकारी के भेद से धर्म मे भेद होता है; इसी से चार वर्णों और चार आश्रमो के धर्मो के धर्म-कर्म भिन्न हुए। ऐकांतिक आत्यंतिक

धर्म कोई नहीं; धर्म आवस्थिक, अवस्था-परक है; सम्पद्धर्म दूसरा, आपद्धर्म दूसरा। ऐसा कोई आचार नहीं जो सबका हितकर हो; इसी से आचार बदलते रहते हैं, देश और काल के भेद से। महाभारत के शान्ति पर्व मे भीष्म-युधिष्ठिर-संवाद मे यह कहा गया है।

संस्कृति, 'इवोल्यूशन'

पहिले कहा, 'सम्यक् करणं संस्कृतिः'; प्रकृति की दी हुई वस्तु को अधिक सुन्दर बनाना, सँवारना, सिंगारना, अधिक उपयोगी बनाना, यही उसकी संस्कृति है, और बनाने वाले की भी। जंगलों मे सभी प्रकार के फूल फल के पौधे, कुश, काश, काँटों से मिश्रित मिलते हैं; क्रमशः उद्योगी बुद्धिमान् विचारशील मनुष्य उनमे से अधिक स्वादु फलों, अधिक सुन्दर और सुगंधित फूलों के पौधों के बीजों को चुन चुन कर लाये, और वाटिकाओं और उद्यानो मे बोये। एवं पशु-पक्षियों को आरण्य अवस्था से निकाल कर ग्राम्य अवस्था मे लाये। बाँस, फूस, मिट्टी के झोपड़ी से आरम्भ करके, स्फटिक और रत्न-जटित मर्मर के प्रासाद और दिव्य भवन बने। पुराकाल मे, और आज तक भी, अफ्रीका आदि देशों की क्या कथा, भारत ही के किसी-किसी घोर जंगली और पहाड़ी प्रदेशों मे यथा आसाम नागा (? स्यात् नंगा, नग्न) स्त्री-पुरुष सर्वथा नग्न पशुवत् रहते हैं; इस दशा से आगे बढ़े, तो लता से पत्तों को बाँध कर कमर मे लपेटा; संस्करण होते होते आज ऊर्णा, कार्पास, कौशेय (रेशम) के, सुनहले रुपहले कामदार बहुमूल्य कपड़े, धनाढ्य स्त्री-पुरुष पहिनते हैं। दूसरी ओर कितने ही निर्धनों को चीथड़े भी, लज्जा और शीत के निवारण को, नहीं मिलते। यही दशा, अन्न के प्रकारों की, तथा गृहस्थी उपकरणो, बर्तन भांडों, की है; आभूषण, कौड़ियों की माला से लेकर हीरा, पन्ना, नीलम, माणिक्य, मुक्ता आदि के करोरों रुपयों के गहने एक एक महाराज्ञी, सम्राज्ञी, बेगम, सुल्ताना के तन पर। भाषा की भी यही कथा है; पशुओं के और छोटे बच्चों के अस्फुट ध्वनि रूप शब्दों का क्रमशः विकास होते होते, कई कई लक्ष शब्दों की भाषाएँ बन गई

हैं, जिनसे सूक्ष्म से सूक्ष्म मानस भाव प्रकट किये जा सकते हैं, और उनका परस्पर संक्रमण संबोधन किया जाता है; ॐ की गूज-रूपी ध्वनि के भिन्न रूपों से, पीड़ा, क्रोध, भूख-प्यास, हर्ष, संतोष, ईर्ष्या, आदि विविध भावों को छोटे बच्चे प्रकट करते हैं।

> एक एव पुरा वेदः, प्रणवः सर्ववाङ्मयः,
> देवो नारायणो, नऽन्यः, एकोऽग्निः, वर्ण एव च।
> (भाग. स्कं. १, अ. १४, श्लो. ४८)

पुराकाल मे एक ही प्रणव ॐकार रूप सर्ववाङ्मयात्मक वेद था; एक ही देव नारायण माने जाते थे; एक ही अग्नि और एक ही वर्ण था; चार वर्ण नहीं। लेखनी का विकास, नरकट, किलक, और वत्तक के पर से स्वर्ण-इरिडियम-मुखी फौंटेन-पेन तक। मैने बचपन मे, विवाहों मे, बालू और पानी की घड़ी से ज्योतिषियों को मुहूर्त साधते देखा है; आज कलाई घड़ी चल रही है। कठपुतली के नाच से टॉकी साइनेमा हुआ। आकाशवाणी और अप्सराओं गंधर्वों के गीत, घर घर मे सुन पड़ते हैं; वंशी, खंजड़ी, से आरम्भ कर के वीणा, सारंगी, पियानो, ऑर्गेन बने। पैदल चलने दौड़ने से मनुष्य वायुयान तक आये। अस्त्र शस्त्रों की प्रगति ढेलों और लाठियों से ऐटमबम तक, जिससे भीषण अस्त्र रामायण महाभारत मे भी नहीं कहे हैं। इन सब उपज्ञों का दुष्प्रयोग ही अधिक हो रहा है।

ऐसे क्रम विकास को अंग्रेजी मे 'इवोल्यूशन' कहते हैं। यह सब संस्कृति ही है। पर संस्कृति के साथ साथ विकृति, दुष्कृति, भी लगी है, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति मे, स्वभाव मे, पुण्य और पाप दोनो हैं।

मानव-संस्कृति के विशेष रूप।

मानव-संस्कृति दो प्रकार की, एक व्यष्टि की, व्यक्ति की, दूसरी समष्टि की, समाज की। व्यक्ति और समाज परस्पर सहायक हैं। यदि सब नहीं, तो अधिकतर व्यक्ति सुसंस्कृत, सुशिक्षित, सदाचारी-सात्त्विक हों, तो समाज दिनो-दिन सब अंगों मे उन्नति करेगा; यदि समाज सु-

ग्रथित, सु-संगृहीत, सु-व्यूढ़, 'वेल-और्गानैज़्ड्' हो, तो सब व्यक्तियों को, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार, शिक्षा, रक्षा, भरण-पोषण, जीविका-साधक-कार्य और जीविका मिलैंगे।

व्यक्ति की संस्कृति के दो अंग, एक बाह्य, एक आभ्यंतर। बाह्य तो अन्न-वस्त्र, वेश-भूषा, गृह-आराम, विनोद की सामग्री आदि; आभ्यंतर, चित्त का संस्कार, जिसके तीन अंग, ज्ञानाङ्ग, इच्छंग, क्रियांग। बाह्य संस्कृति भी इन्हीं आभ्यंतर अंगों की संस्कृति का अनुसरण करती है। यदि ये तीन सात्विक हैं तो अन्न-वस्त्रादि भी वैसे ही होंगे; यदि राजस-तामस, तो वे भी वैसे। कृष्ण ने गीता मे कहा है,

आयुः-सत्व-बल-ऽारोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः,
रस्याः, स्निग्धाः, स्थिराः, हृद्याः, आहाराः सात्विक-प्रियाः।
कटु-अम्ल लवण-अत्युष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः,
आहाराः राजसस्य इष्टाः, दुःख-शोक-आमय-प्रदाः।
यात-यामं, गत-रसं, पूति, पर्युषितं च यत् ,
उच्छिष्टं अपि च अमेध्यं, भोजनं तामस-प्रियं।

आयु को, प्राण, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति (अर्थात् चित्त की प्रसन्नता को) जो बढ़ावैं, रसयुक्त हों, स्नेह अर्थात् घृतयुक्त, स्थिर (अर्थात् बहुत शीघ्र पच कर पुनः पुनः भूख लगाने वाले नहीं) और हृदय को बल देने वाले जो हों, वे आहार सात्विक प्रकृति वालों को प्रिय होते हैं। कटु, अम्ल, लवण, अति उष्ण, तीखे, रूखे, शरीर मे दाह (अर्थात् बहुत गर्मी) उत्पन्न करने वाले, दुःख, शोक और रोग के उत्पादक आहार, राजस प्रकृति को इष्ट होते हैं। एक याम अर्थात् प्रहर, तीन घंटे, जिनको बने बीत गया हो, स्वाद निकल गया, दुर्गन्ध जिनमे आ गया हो, बासी तिबासी, जूठे, अपवित्र हों, ऐसे भोजन तामसी को प्रिय होते हैं।

साधारण रीति से यह सब ठीक है; पर इन श्लोकों का उपबृंहण, आयुर्वेद के उपदेशों से, और उनमे कही दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या

से करना चाहिये; अन्यथा फल उलटा होगा। सब नियमो, उत्सर्गों, के अपवाद भी होते हैं। कटु, अम्ल, लवण, आदि के साथ 'अति' लगाना आवश्यक है; आयुर्वेद मे षड्रस भोजन का उपदेश है; उचित मात्रा मे, जिससे मुख मे रोचक रस, ('सालिवा'), जिसे आयुर्वेद मे पाँच प्रकार के पित्तों मे प्रथम 'रोचक पित्त' नाम दिया है, एकत्र हो और कवल मे सनै; बिना इस मुख-रस के, कवल मे स्वाद नहीं और भोजन का परिपाक भी ठीक नहीं होता। इसको पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न करने के लिये, कवल का चर्वण आवश्यक है; जो माता, पिता, आचार्य, अपने बच्चों और शिष्यों को कवल का चर्वण नहीं सिखाते, वे रोगों के विष-वृक्ष का बीज उनके शरीरों मे बोते हैं। बासी तिबासी मे भी अपवाद हैं; घृत-पाक्व, घी मे कड़े पकाये हुए अन्न, एक-एक दो-दो महीने तक स्वादु बने रहते हैं, और दूर को यात्राओं में काम देते हैं; एवं अँचार, मुरब्बा, आदि एक-एक वर्ष तक नहीं बिगड़ते। और टिन के ऐसे बर्तनो मे, जिनमे वायु का प्रवेश न हो सकै, रक्खे हुए, चतुर्विध खाद्य-लेह्य-चोष्य-पेय व्यंजन वर्षों तक निर्विकार रहते हैं; ऐसे टिन अंग्रेजों ने बनाया; उनसे सीखकर अब भारतीय भी बनाने लगे हैं। ऋतु के अनुसार भी, वसंत मे, जब कफ का प्रकोप होता है, रूक्ष और उष्ण भोजन उचित है, ग्रीष्म मे मधुर और शीतल, शीत मे स्निग्ध और मधुर इत्यादि। तीष्ण आर्द्रक तो 'भोजनादौ सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणं'।

याद रहै कि यद्यपि कृष्ण ने, अर्जुन के व्याज से, भारतीयों को, किंवा मानव-मात्र को, सद् उपदेश दिया, पर स्वयं तदनुसार आचरण नहीं किया, न अर्जुन आदि पांडवों ने। वे स्वयं भी, उनकी स्त्रियाँ, उनके कुलों के सभी छोटे-बड़े, मद्य 'मांस का अतिशय खान-पान करते थे; यहाँ तक कि, अन्त मे, मदिरा से मत्त होकर सभी पाँच लाख यादव समुद्र के तीर पर, प्रभास क्षेत्र मे, आपस ही मे लड़कर कट मरे।

ईश्वराणां वचः सत्यं, तथैवाऽऽचरितं क्वचित्। (भा०)

ईश्वरों का उपदेश सच्चा और अच्छा होता है; उनका आचरण कभी अच्छा होता है, कभी नहीं।

आहार पर विस्तार क्यों ?

इतना विस्तार आहार पर इस हेतु से किया गया, कि व्यक्तियों के शरीर के, तथा चित्त के, सौन्दर्य और स्वस्थता का मूल यही है। यदि यह बिगड़ा तो सारा समाज भ्रष्ट हुआ। शुद्ध आहार का महिमा ऐसा है कि छांदोग्य उपनिषत् मे कहा है, 'आहार-शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः, सत्त्व-शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृति-लम्भे सर्व-ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'। आहार शुद्ध होने से बुद्धि-सत्त्व शुद्ध होता है; तब स्मृति स्थिर और निःशंक हो जाती है; सब कार्य-कारण-परम्परा विस्पष्ट देख पड़ती है, जिन कारणो से जीव, जन्म-जन्मान्तर मे बहुतेरे शरीरों के बंधन मे पड़ता रहा है; तब, अंत मे, जीव को देह मे बाँध रखने वाली सब हृदय की वासना-इच्छा-रूप ग्रंथियाँ खुल जाती हैं, और वह जीवात्मा, परमात्मा से अपनी एकता पहिचान कर, उसमे लीन होकर, मुक्त हो जाता है।

चाह गई, चिंता मिटी, मनवा बे परवाह,
जिनको कुछ नहिं चाहिये, वेही शाहनशाह।

भारतीय संस्कृति के उद्धार के लिये, राजस-तामस आहार, शराब-कबाब, की कमी करना आवश्यक है। मांस का सर्वथा बंद करना तो प्रायः असम्भव है; किन्तु गो-मांस, ग्राम-शूकर अर्थात् विड्वराह मल-भक्षी शूकर का मांस, तथा अन्य कतिपय मांसों का बंद करना आवश्यक है, और संभव भी है। परंतु मद्य, अफ़ीम, गांजा, चरस, मदक आदि का निषेध बहुत आवश्यक है और संभव है। हाँ, 'ओषधार्थे सुरां पिबेत्', औषधार्थ सभी ठीक है। इस पर आगे और कहा जायगा।

बाह्य संस्कृति के मुख्य-रूप; वस्त्र; समान वस्त्र के गुण।

सबसे पहिले वस्त्र देख पड़ता है। स्त्रियों पुरुषों के वस्त्र, प्रत्येक प्रान्त, प्रदेश, और जनपद मे, तथा ग्राम और नगर मे, भिन्न देख पड़ते

हैं; काल-भेद से और शासक-भेद से, तथा अन्य कारणो से, बदलते रहे हैं; 'यथा राजा तथा प्रजा'। प्राचीन काल के पहिनावे का पता, बहुत थोड़ा, इतिहास-पुराणो से मिलता है; मुस्लिम राज मे अबा चोग़ा, पायजामा, दुपलिया और चौपलिया टोपी चली; अंग्रेजी राजा मे, हैट, कोट, पतलून, शर्ट, नेक-टाई, मोज़े, बूट आदि चले, जो अब तक चल रहे हैं, और स्यात् बहुत वर्षों तक चलैंगे, क्योंकि एशिया के सभी देशों मे, विशेष कर नगरों के शिक्षित वर्ग मे, इनका प्रचार न्यूनाधिक हो रहा है, और यूरप अमेरिका मे तो है ही; पूर्वी यूरोप और रूस के कुछ देशों प्रदेशों के ग्रामो मे दूसरे पुराने प्रकार के पहिनावे भी चल रहे हैं। परन्तु सभी देशों में धर्माध्यक्षों का पहिनावा साधारण जनता से भिन्न होता है; पंडित, लामा, पाद्री, मुल्ला के वस्त्रों को देखिये। पर उस मे भी बहुत परिवर्तन हो रहा है; साठ सत्तर वर्ष पहिले, काशी के पण्डितों की जो वेश-भूषा थी वह अब नहीं देख पड़ती; प्रायः सभी बटनदार कोट और कुर्ते और अंग्रेजी चाल के जूते को धारण करते हैं। राजस्थान में क्षत्रिय लोग, युद्ध के समय, वीर-रस से भरे, रण-नृत्य के लिये, जामा पहिनते थे, जैसे स्त्रियां नृत्य-गीत आदि के लिये लहँगा; मुग़ल बादशाहों ने भी जामा स्वीकार किया; विवाहादि मे, वर, तथा सम्बन्धी लोग, इसे काम मे लाते थे; पर अब तो स्यात् ही कहीं पहिना जाता हो; परन्तु धोती और उपर्ना, हिन्दू मात्र का, सहस्रों वर्ष से, सारे भारत मे, पहिनावा चला आता है, कश्मीरादि हिमवान् प्रदेशों को छोड़कर; महाभारत मे कहा है, यज्ञ समाप्त होने पर, अवभृथ-स्नान करके युधिष्ठिर ने शुभ्र श्वेत 'अवसीय' अर्थात् अधोवस्त्र, धोती, और 'उत्तरीय' उपरिवस्त्र, उपर्ना, तथा उष्णीष, मुड़ासा, धारण किया; कालिदास ने भी 'रघुवंश' के प्रथम और अष्टम अध्याय मे, दिलीप और अज को शिरोवेष्टन, मुराठा, साफ़ा पहिनाया है; बुद्धदेव की समकालीन उनकी मूर्तियाँ, प्रस्तर की, जो मिली हैं, उनमे जो धोती और उपर्ना दिखाया है, ठीक वही आज ढाई सहस्र वर्षों के बाद, उत्तर प्रदेश के

ग्रामवासियों के, और न्यूनाधिक नागरिकों के भी, शरीर पर देख पड़ता है; मुराठे के भी भिन्न-भिन्न रूप आज तक, विशेष कर ठंढे प्रांतों और ऋतुओं मे, देख पड़ते हैं; कोट पतलून के साथ भी यह सजता है; सिख पंथ के हिन्दू भाई इसको सदा पहिनते हैं। अब तो शुभ्र गान्धी टोपी सभी प्रान्तों में अधिकाधिक फैलती जाती है। यह भी सब प्रकार के पहिनावों के साथ न्यूनाधिक सजती और निभती है, पर नेकटाई के साथ नहीं फबती।

एवं स्त्रियों का वस्त्र भी प्रायः भारत भर मे एक शाटी है; कहीं-कहीं उपर्ना चादर भी इसके साथ चलती है; पहिनने के प्रकारों मे भेद है, यथा महाराष्ट्र, आंध्र, द्रविड़ देश में स्त्रियाँ भी लाङ् लगाती हैं, अन्य प्रान्तों मे नहीं; अश्वारोहण के लिये, यथा दुर्गा देवी के, दैत्यसंहारार्थ, सिंहारोहण के लिये, महाराष्ट्री प्रकार अच्छा है। पंजाब और सिंध मे हिन्दू स्त्रियों मे भी, सल्वार, कुर्ता, और ओढ़नी की चाल अब भी है। कुछ दिन हुए, यु० स्टे० अमेरिका मे स्त्रियों की बड़ी सभा हुई, उसमे बहुमत से निर्णय हुआ कि देखने मे स्त्रियों के लिये सबसे सुन्दर वस्त्र साड़ी ही है; ठंढे प्रदेशों और ऋतुओं में अवश्य साड़ी के भीतर गर्म कुर्ता, लहँगा आदि, और ऊपर चादर, कम्बल, कुतप (अर्थात् शाल) अथवा ओवर-कोट आदि चाहिए। पुरुषों और स्त्रियों के आभूषणों मे भी बहुत परिवर्तन हो गया है, विशेषकर नगरों मे। इसपर अधिक कहने का प्रयोजन नहीं। किंतु एक-सा, 'यूनीफ़ार्म', वस्त्र भारतीय संस्कृति के उद्धार का आवश्यक अंग है। सारे दिन नहीं तो विशेष अवसरों पर तो अवश्य ही। गाँधी टोपी और खादी के वस्त्र ने देश की जागृति और स्वराज्य के प्राप्ति मे जो काम किया हैं वह किसको नहीं विदित है?

वस्त्र एक, तो मन भी एक, हो जाता है; सैनिकों के यूनिफ़ार्म मे बड़ा प्रभाव हैं; जब तक वह शरीर पर रहता है, तब तक सब भेद-भाव, जात-पाँत, धर्म-मजहब को भूले रहते हैं, लक्ष्य स्थल पर कैसे शीघ्र

पहुँच जायँ, शत्रु को परास्त कैसे शीघ्र करें, दुर्ग के भीतर कैसे शीघ्र घुस जायँ, यही उत्साह सब के मन मे व्याप्त रहता है। इस अध्यात्म तथ्य को पहिचान कर भारत की केन्द्रीय सरकार ने आज्ञा निकाली है कि सरकारी अफ़सर सब अपने-अपने 'काय' अर्थात् दफ़्तर, कार्यालय, न्यायालय आदि मे जब तक रहें तब तक खादी के, ऐसे रंग और ऐसे काट के (जिसके कई ऐच्छिक विकल्प बता दिये हैं), कपड़े पहिने रहें। पुरुषों के लिये जैसे गांधी टोपी है, वैसे स्त्रियों के लिये भी सरल सा कोई विशेष वस्त्र सोच निकाला जाय तो अच्छा हो।

स्त्रियों का अलंकार

शिष्ट सु-संस्कृत समाज में स्त्रियों का कुछ न कुछ अलंकृत होना आवश्यक है।

स्त्रियां तु रोचमानायां, सर्वं तद् रोचते कुलं;
तस्यां तु अरोचमानायां, सर्वं एव न रोचते। (मनु. ३-६२)
सदाऽलंकृतया भाव्यं, गृहकार्येषु दक्षया,
सुसंस्कृतोपस्करया, व्यये चऽमुक्तहस्तया। (५-१५०-)

जब गृहपत्नी रोचमाना, शोभावती, होती है, तब समग्र कुल भी वैसा होता है; जब वह नहीं शोभती, मैली कुचैली अप्रसन्न रहती है, तब सब कुल वैसा हो जाता है; वधू को, गृह की स्वामिनी को सदा थोड़े, लघु, हल्के सूफियाने अलंकार पहिने रहना चाहिये, यथा कुण्डल, ग्रैवेयक, कंकण (चूड़ी), अंगुलीयक; तथा गृह के सब कार्यों मे दक्ष, सब उपस्कर वर्तन आदि को स्वच्छ, और सदा यथास्थान सजाये हुए, और व्यय करने मे मुक्त-हस्त नहीं, हाथ बहुत खुला नहीं रखना चाहिये, अपव्यय न करना चाहिये। 'सदाऽलंकृतया' के स्थान मे 'सदा प्रहृष्टया' भी पाठ-भेद है, अर्थात् नित्य प्रसन्न चित्त, प्रसन्न वदन, हँसमुख होना चाहिये, पर स्त्रियां कभी बिना अलंकार के प्रसन्नचित्त हो नहीं सकतीं। उनकी प्रकृति ही ऐसी है; छोटी लड़कियां भी आभूषण चाहती हैं, लड़के नहीं;

हाँ, अच्छे वस्त्र दोनो चाहते हैं। यह सब शिक्षा बाल्यावस्था मे कन्या को, माता पिता से, विवाह के पीछे श्वश्रू से, मिलना चाहिये। पर, भारत के दुर्भाग्य से, माताएं अपने पुत्रों का विवाह तो बड़े हठ से कराती हैं, पर वधू घर मे आई तो उससे द्वेष आरम्भ हो जाता है, 'इसने तो मेरे पुत्र का मन मेरी ओर से खींच कर अपनी ओर कर लिया।' घर-घर मे व्याप्त इस महारोग की चिकित्सा, भारतीय संस्कृति के जीर्णोद्धार के लिये, परम आवश्यक है। नई शिक्षा पाए घरों मे, अधिक वयस मे, विवाह होने लगा है; युवा जब तक पर्याप्त जीविका नहीं कमाने लगते तब तक विवाह बचाते हैं; फिर विवाह करके अलग गृहस्थी जमाते हैं; दो पीढ़ी के भी अविभक्त कुल कम होते जाते हैं; यह सब, कुछ अंश मे अच्छा है, पर कुछ विकार भी उत्पन्न हो गये हैं।

गृहों के प्रकार

गृहों के रूप भी नगरों मे बदलते जाते हैं। पुरान रूप, बीच मे चौक, उसके चारो ओर दालान और कोठरियाँ, कई कई खंड तक, पत्थर और ईंट के होते थे; वास्तु-शास्त्र के उपदेश के अनुसार ; और अब भी है; अच्छी पकाई इष्टका, पत्थर से अच्छी कही गयी है, वास गृहो के लिये वास्तु-शास्त्र मे, क्योंकि न जाड़े मे बहुत ठंढी होती है, न गर्मी मे बहुत गर्म। छः सहस्र वर्ष पहिले के मोएन-जो-दड़ो और हारप्पा मे भी ऐसे गृह पाये गये हैं। पर सब बड़े नगरों मे प्रकाश, पंखा, पानी, चूल्हा सबका काम विद्युत् से लेने से, तथा अंग्रेज़ी राज्य मे अँगरेज़ों का अनुकरण करने से, गृहो के रूप बदल गये हैं। स्यात् , पुरुषों के उपयोग का अंश अंग्रेज़ी ढंग का और स्त्रियों के लिये पुराने ढंग का मिला हुआ गृह सुविधा देगा। कई नगरों मे 'इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट' स्थापित हुए हैं, उनकी देख रेख मे प्रायः ऐसे मकान बन रहे हैं; इनमे पाश्चात्य पौरस्त्य प्रकार का समन्वय हो जाता है। दक्षिण मे, मद्रास प्रांत में, गृहों का प्रकार बहुत भिन्न है, अवस्था-भेद के कारण; चौक नहीं होता, स्तंभ

लकड़ी के होते हैं, पत्थर के नहीं, काष्ठ, उस प्रान्त का, बहुत दृढ़ और भारी होता है, सैकड़ों वर्ष तक नहीं बिगड़ता; अन्यच्च, प्रकृति देवी की कृपा से, दीमक उधर नहीं होते, यदि हों भी तो उनके 'दाँत' उस मे न गड़ें; जैसा उत्तर मे, सच्चे, नेपाल के साखू, वा उत्तर भारत के भी, सच्चे शीशम मे ।

आभ्यंतर संस्कृति के ज्ञान, बुद्धि, आदि चार अंग

यहाँ तक व्यक्ति की बाह्य संस्कृति के रूप कहे; अब आभ्यंतर की ओर दृष्टि देना चाहिए। अंतःकरण के चार कर्म कहे हैं, 'मनो-बुद्धि-अहंकार-चित्तानि,' बुद्धिः अध्यवसायिनी, ज्ञान का कारण बुद्धि है (इदं इत्थं) यह ऐसा ही है, निश्चय करती है, यह चित्त के सात्विक अंश से बनती है; अहंकार, तामस इच्छा का कारण है, और कार्य वा फल भी है; 'अहम् करोति इति अहंकारः', जैसे 'कुंभं करोति कुंभकारः'; संकल्प-विकल्प करने वाला राजस मन क्रिया कारण है; 'चित्तं चेतयते, स्मरति', सब अनुभवों का संचय किये रहता है; 'चिनोति इति चित्तं'। अहंकार का सम्बन्ध इच्छा से कैसे है ? देखिये; दो और दो मिलकर चार होते हैं; काशी गंगा के किनारे, मथुरा यमुना के किनारे, बसी है; हिमालय पर्वत सबसे ऊँचा है; इत्यादि ज्ञान सर्वसाधारण हैं; सभी इन बातों को जानते मानते हैं; इनसे व्यक्तियों की व्यक्तिता विशेषता नहीं सिद्ध होती। एवं क्रिया भी सामान्य है; सभी खाते, पीते, सोते, जागते, हँसते, रोते, लड़ते, मेल करते हैं। पर इच्छाओं मे भेद और विशेष होता है। कोई मीठा चाहता है, कोई खट्टा, कोई कामी है, कोई क्रोधी, कोई लोभी, कोई ईर्ष्यालु, कोई क्रूर, कोई दयालु, कोई शौर्य वीर्य का यश चाहता है, कोई प्रभुत्व का, कोई सौन्दर्य का, 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया' 'हम चो मन दीगरे नीस्त' इत्यादि; इच्छाओं के इस भेद और विशेष से पृथक् व्यक्तित्व सिद्ध होता है।

यह सब सामान्य रूप से कहा, स्थूल सूक्ष्म अपवाद भी इसके होते हैं। ज्ञानो मे भी भेद होते हैं; जब बुद्धि निश्चय नहीं कर पाती तब

वाद-विवाद होते हैं। एवं क्रियाओं के प्रकारों में भी। इन भेदों के पीछे भी कारण-रूप से इच्छा वासना लुकी-छिपी रहती है। यह सब सूक्ष्म विचार अन्यत्र किया है; सामान्य निष्कर्ष यह है कि संस्कृति-सभ्यता-शिष्टता के लिये आवश्यक है कि सुनिश्चित सज्ज्ञान हो, सद्इच्छा हो, अच्छे लक्ष्यों की शुभकामना हो, धर्म से अर्जित अर्थ से परिष्कृत काम-सुख की आकांक्षा हो, औ सद्-आचार हो।

यदि देश में ऐसे व्यक्ति अधिक संख्या में हों जिनका अंतःकारण शुद्ध और सु संस्कृत है, तो देश की सब दुर्दशा सर्वथा दूर, नहीं तो बहुत कम, हो जाय। जनतोपकारी विविध सच्छास्त्रों के ज्ञाता और दाता विद्वान्, अदिच्छाओं, सद्भावनाओं, तथा सत्कर्मों के अपने आचरण, तथा मौखिक उपदेश, द्वारा प्रवर्तक सज्जन, यदि देश में फैल जायँ, तो समाज की सर्वांगीण उन्नति प्रगति मे क्या देर लगै? गाँधीजी के एक लाख से कम ही अनुयायियों ने, करावास मे जाकर, सामाजिक जीवन के एक राजनीतिक अंग में जो प्रगति कराई, वह इसका पर्याप्त निदर्शन है।

शुद्ध और अशुद्ध विवाह और उनके फल

ऐसे सत्पुरुष और सती स्त्रियों के पर्याप्त संख्या मे समाज मे उत्पन्न होने का कारण सद्विवाह है। मनु ने कहा है,

अनिंदितैः स्त्रीविवाहैः अनिंद्या भवति प्रजा;
निंदितैः निंदिता नृणां; तस्मात् निंद्यान् विवर्जयेत्।
ब्राह्माऽऽदिषु विवाहेषु चतुर्षु एव, अनुपूर्वशः,
ब्रह्म-वर्चस्विनः पुत्राः जायंते, शिष्टसम्मताः,
रूप-सत्त्व-गुणोपेताः, धनवंतः, यशस्विनः,
पर्याप्तभोगाः, धर्मिष्ठाः, जीवंति च शतं समाः;
इतरेषु तु शिष्टेषु, नृशंसऽनृतवादिनः
जायंते, दुर्विवाहेषु, ब्रह्म-धर्म-द्विषः सुताः। (३-३१-४२)

आठ प्रकार के विवाह कहे हैं; काल के प्रभाव से कई प्रायः लुप्त

हो गये। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, नितांत सरल और सात्विक थे; दोनो पक्ष के गुरुजन, निकट सम्बन्धियों के समक्ष, वर-कन्या का पाणि-ग्रहण करा देते थे, कन्या को यथाशक्ति वस्त्र आभूषण देते थे, 'सह उभौ चरतां धर्मं', दोनों साथ-साथ सब धर्मों का आचरण करना, इतना उपदेश देते थे। स्यात् ही किन्हीं शिष्टंमन्य हिंदू घरों मे अब ऐसा होता हो। सब जाति वा वर्ण के धनाढ्य घरों मे बड़ा आडम्बर समारोह होता है, किंतु रीतियों का, रस्म रिवाज का, प्रपंच जो बहुत बढ़ा दिया था, कुछ कम हो रहा है। दो प्रकार, आसुर और गान्धर्व, राजस हैं; धन देकर कन्या मोल लेना आसुर है, निंदनीय है; किंतु आज काल, बहु-वित्त, मध्य-वित्त, अल्प-वित्त, सभी घरों मे आसुर विवाह, दो प्रकार का, बहुत हो रहा है; कन्या विक्रय कहीं कहीं ही होता है; यथा, जिन क्षत्रिय तथा अन्य जातियों मे नव-जात कन्या को मार डालने की प्रथा अब भी छिपी लुकी चल रही हो; अपनी जाति की लड़कियां न रहने के कारण, नीच जातियों से कन्या मोल लेकर अपने लड़कों का विवाह करते रहे हैं; अब तो यह दण्ड विधान मे हत्या की गणना मे है, और फाँसी इसका दण्ड है। मुहम्मद के पहिले अरब देश मे कन्या-बध बहुत होता था; मुहम्मद ने इसको बंद किया। कन्या के विक्रय के स्थान पर अब वर का विक्रय होता है; इस परीक्षा को उत्तीर्ण वर का इतना मूल्य, इससे ऊपर का इतना, इति प्रभृति; धनी कुल के वर के लिये भी बड़ी-बड़ी रकम मागी जाती है। वर का दाम देने मे कन्या-पक्ष यदि बहुत धनाढ्य नहीं है तो दरिद्र ही हो जाता है; कुछ वर्ष पहिले, दैनिक पत्रों में बीच-बीच मे छपा करता था कि अमुक कन्या ने आत्मघात कर लिया, माता पिता की चिंता मिटाने के लिये। अब ऐसे समाचार कम देख पड़ते हैं; जैसे पुरुषों के, वैसे स्त्रियों के भी, अविवाहित रहने का, देश अभ्यासी होता जाता है। दूसरा राजस प्रकार विवाह का गान्धर्व वा स्वयंवर है; केवल राजस होने के हेतु, सात्विकों की अपेक्षा से, यह कम अच्छा कहा गया जान पड़ता है, अन्यथा अच्छा ही है; क्षत्रिय

राजाओं मे, पुराण काल मे, इसकी बहुत प्रथा थी; नल-दमयन्ती का, अज-इन्दुमती का, दुष्यंत-शकुन्तला का, स्वयंवर प्रसिद्ध है। आज काल, नयी शिक्षा पाये हुओं मे यह प्रकार पुनः जागा है। दोष इसमे यह है कि प्रायः बाह्य रूप रंग तो युवा युवती देखते हैं, आभ्यंतर प्रकृति और संस्कृति का विचार नहीं करते; यदि इसको भी जांच कर, स्वयं वरण करें, तो बहुत अच्छा हो; अन्यथा, थोड़े ही काल मे एक दूसरे से ऊब जाते हैं, वा रुष्ट हो जाते हैं, और विवाह के विच्छेद की बात सोचने लगते हैं। तामस, राक्षस, और पैशाच प्रकार तो अब अपराधों मे गिने जाते हैं और दण्डनीय हैं। इस सबका विस्तार मैने 'पुरुषार्थ' और 'सायंस आफ सोशल और्गानि-जेशन' की तीसरी जिल्द मे किया है। मनु के श्लोकों का आशय यह है कि पवित्र अनिदनीय विवाहों से, सद्वर और सती बधू के पाणिग्रहण से, अनिंद्य उत्तम प्रजा होती है, वर्चस्वी, तेजस्वी, सुरूप, धर्मिष्ठ, सुचरित्र, सत्त्व और बलवत् प्राण से सम्पन्न, अतः दीर्घजीवी, शतायु, और भाग्यवान्। अशुद्ध विवाहों से क्रूर प्रकृति के, हिंसाशील, मिथ्यावादी, विद्याद्रोही, धर्मद्वेषी संतान होते हैं। यह उत्सर्ग है, साधारण नियम है; अपवाद के अनेक उदाहरण इतिहास पुराण मे दिये हैं।

पति पत्नी का परस्पर धर्म। अज और इंदुमती।

मनु का आदेश है,

> अन्योऽन्यस्यऽव्यभीचारो भवेद् आमरणांतिकः,
> एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्री-पुंसयोः परः।
> तथा नित्यं यतेयातां स्त्री-पुंसौ तु कृतक्रियौ,
> यथा नऽभिचरेतां तौ वियुक्तौ इतरेतरं। (९.१०१-१०२)

शरीर के पतन पर्यंत परस्पर सहचार ही करें, व्यभिचार कभी न करें—यही पति पत्नी का धर्म, संक्षेप से, है। पति पत्नी सदा ऐसा यत्न करते रहैं कि कभी एक दूसरे से वियुक्त विरक्त हो कर व्यभिचार न करें; इतने मे स्त्री पुरुष का सब परस्पर कर्तव्य आ गया।

राम और सीता का परस्पर व्रत प्रसिद्ध है, यद्यपि राम ने सीता को त्याग दिया; वाल्मीकि और तुलसी ने कई हेतु बता कर त्याग का समर्थन किया है; पर वह हेतु मन मे जमता नहीं; सदा प्रजा को अधिकार था, और है, कि राजा को चुनै और बनावैं; दशरथ ने जब राम को युवराज बनाना चाहा, तब चारो वर्णो के प्रमुख प्रतिनिधियों को बुला कर उनसे अनुमति माँगी, और अनुमति पाकर ही अभिषेक सामग्री के आहरण की आज्ञा दी; ऐसी दशा मे क्या राम जी को उचित नहीं था कि अयोध्या-वासियों को एकत्र करके उनसे कहते, 'आप लोग सीता के और मेरे चरित्र को कलंकित समझते हो, यद्यपि मैने सीता की अग्नि-परीक्षा कर ली और उसको परम सती जानता हूँ, तो आप लोग अपने लिये कोई दूसरा राजा चुन लो, मै सीता के साथ जंगलों मे वनस्थ हो कर रहूँगा' ? अस्तु ! राम और सीता के अन्योऽन्य व्रत से बहुत बढ़ कर, रामजी के दादा और दादी अज और इन्दुमती का व्रत है। इतिहास पुराण मे ऐसा कोई दूसरा उदाहरण मुझे नहीं मिला। कालिदास ने बहुत खोज कर प्रमाणिक रूप से लिखा है कि इन्दुमती के स्वयंवर मे अज का उनसे प्रथम विवाह हुआ; अज ने कोई दूसरा विवाह नहीं किया; इन्दुमती के अचानक निधन हो जाने पर अज ने उसके शरीर के साथ चिताऽरोहण करना चाहा; मंत्रियों ने समझाया, अभी आपके और इन्दुमती के पुत्र दशरथ आठ ही वर्ष के हैं; बालक के राजा होने से देश मे उपद्रव का भय होता है; इनको वयस्क हो जाने दीजिये, फिर जो जी चाहे कीजियेगा'। अज ने माना। जब दशरथ सोलह वर्ष के हुए, सब राज कार्य मे, राजोपयोगी सब शास्त्रों मे, विशेषत: धनुर्वेद मे, सुशिक्षित हुए, तब उनको सिंहासन पर बिठाकर, अज ने, गंगा और सरयू के संगम पर, अनशन से शरीर छोड़ दिया, और स्वर्ग जाकर इन्दुमती से पुन: मिले। इन्दुमती और अज के घनिष्ठ प्रेम के कारण दशरथ का शरीर अति दीर्घजीवी हुआ।

ऐसे हेतुओं से मनु और ऋषियों ने आहार और विवाह की शुचिता पर बहुत बल दिया है ।

आहार और विवाह की शुचिता का इतना गौरव क्यों ?

किसी विदेशी वा अन्य-धर्मी से पूछिये कि आपने हिंदुत्व का लक्षण क्या समझा है ? उत्तर प्रायः यही देगा कि 'अपनी जाति उपजाति के बाहर खाना पीना नहीं, ब्याह शादी नहीं'; यदि पुनः पूछिये तो प्रायः यह कहेगा 'गौ ब्राह्मण की पूजा, सर्प वानर आदि पशुओं की पूजा, सैकड़ों देवी देवों की मूर्तियों की पूजा, गंगा, यमुना वा अन्य नदियों तीर्थों मे स्नान करने से सब पापों का परिमार्जन और मुक्ति'। कोई भी अव्यभिचारी विवेचक विशेषक लक्षण हिन्दू का, महा पण्डित भी नहीं बता सकता । शिखा-सूत्र स्त्रियों को नहीं, मुंडन और यज्ञोपवीत तक बालकों को नहीं, संन्यास के बाद वृद्ध को नहीं; स्त्रियों को यह भी नहीं; पर किसी जात्युपजाति का अंग होना और उसके बाहर आहार-विवाह का दुराव बराव आवश्यक है । एक अंग्रेज़ ने, जो भारत मे बहुत वर्ष रहकर ब्रिटेन वापस चला गया था, दूसरे अंग्रेज़ से पूछा 'हैव यू एवर् सीन् ऐन् इंडियन्', 'तुमने कभी इंडियन् को देखा' ? उत्तर हुआ 'नहीं, जब देखा तब हिन्दू, या मुस्लिम, या आँङ्लो-इंडियन्, या बंगाली, मद्रासी आदि' । जब पुनः हिन्दू के लिये प्रश्न हुआ तो कुछ वैसा ही उत्तर मिला जैसा पहिले कहा ।

इस सब दुर्दशा का कारण आहार-विवाह का दुराव-बराव होते हुए भी, वह मूढ़ग्राह एक गम्भीर सत्य की छाया है, विवर्त्त है, जैसे दर्पण मे प्रतिबिम्ब । आहार और विवाह की शुचिता, संस्कृति, सब अन्य संस्कृति का मूल है, इसलिये मनु और ऋषियों ने इस पर इतना बल दिया । पर उनके आदेशों का सत्य अर्थ हम लोगों ने भुला दिया, स्वार्थ और अभिमान और रागद्वेष के वश में पड़कर सब समाज-व्यवस्था को, हिन्दुत्व को, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ।

गो ब्राह्मण पूजा का अर्थ।

ब्राह्मण की पूजा का भी अर्थ है,

गावस्तु मातृवात्सल्यं, ब्राह्मणो ज्ञानसंचयः,
एतौ यत्र न हीयेते, समृद्धिः तत्र न क्षयः।

जिस दूध से ही बच्चे पलते हैं उसको देनेवाली गौ मातृवात्सल्य की मूर्ति है; ब्राह्मण, उत्तम ज्ञान की मूर्ति है, जिस ज्ञान के बिना मनुष्य पशु-तुल्य है; जिस देश मे सती माताओं और सद्विद्वानो का आदर होता है वहाँ सब प्रकार की समृद्धि सदा बनी रहती है। विवाह मे शुचिता लाने के लिये मनु ने 'सवर्ण विवाह' की आज्ञा दी है; परन्तु आज सैकड़ों वर्षों से 'वर्ण' शब्द का सच्चा अर्थ हिंदुओं ने भुला दिया है, राजस तामस भावों की वृद्धि के कारण, और मिथ्या अर्थ को अपना लिया है।

'वर्ण' शब्द की निरुक्ति। चारो 'व्यूहों' और 'बलों' का अन्योऽन्याश्रय।

'वर्ण' शब्द के कई अर्थ हैं; (१) श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण आदि रंग; (२) 'वर्णनाद् वर्णः', वह जीविका कर्म, वृत्ति, जिससे मनुष्य का समाज मे स्थान वर्णित, निर्दिष्ट, हो जाय; न्यायालय मे साक्षी से नाम ग्राम आदि पूछ कर अंत में पेशा, आजीव, पूछते हैं, जिससे साक्षी का वर्णन सम्पूर्ण हो जाता है, यह विदित हो जाता है कि यह व्यक्ति समाज के जीवन मे इस प्रकार के कर्म से सहायता करता है, और उसके बदले मे समाज उसको ऐसा ऐसा पुरस्कार वा वेतन वा अन्य प्रकार का धन वा द्रव्य देता है; (३) वर्ण-माला का अक्षर, क्योंकि उसके द्वारा मनुष्य के भावों और विचारों का वर्णन होता है; (४) 'वरणाद् वर्णः', मनुष्य, अपने लिये, जिस जीविकोपाय का 'वरण' करे, जिसको वह चुन ले, तदनुसार उसका 'वर्ण' होता है; यदि विद्योपजीवी तो ब्राह्मण, शस्त्रो-पजीवी तो क्षत्रिय, विविध वार्तोपजीवी तो वैश्य, यदि सेवोपजीवी तो शूद्र। यही अर्थ, 'कर्मणा वर्णः', वर्ण-विभाग, वर्ण-व्यवस्था, के आरम्भ मे

था; इसको छोड़ कर, 'जन्मना वर्णः' पर हठ करने से, भारत-समाज और भारत-धर्म का घोर अधःपात हुआ; 'कर्मणा वर्णः' के पुनःस्मरण और प्रतिष्ठापन से ही हमारा उद्धार हो सकता है।

बारह चौदह शतियों से, जब से बुद्धदेव का किया सुधार मन्द होने लगा, पुनरपि यह प्रथा जागी और प्रबल होती चली, कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, वा शूद्र कहलाने वाले कुल मे उत्पन्न लड़की या लड़के का विवाह, उसी नाम से कहलाने वाले कुल मे जन्मे लड़के या लड़की से हो, चाहे उस कुल मे, और लड़की लड़के मे, नामोचित गुण का गंध भी न हो।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परं।
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं, तपः क्षत्रस्य रक्षणं,
वैश्यस्य तु तपो वार्त्ता, तपः शूद्रस्य सेवनं।
आ ह एव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः,
यः स्रग्वी अपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहं। (मनु)
जात्या न क्षत्रियः प्रोक्तः, क्षतात् त्राणं करोति यः,
चातुर्वर्ण्य-वहिष्ठोऽपि, स एवं क्षत्रियः स्मृतः।
विप्रं, वैश्यं, राजपुत्रं च, राजन्!
लोकाः सर्वे संश्रिताः धर्मकामाः।
वार्तामूलो हि अयं लोकः, तया वै धार्यते जगत्,
वैश्यो हि धनधान्येन त्रीन् वर्णान् बिभृयाद् इमान्।
(म. भा. शांति)

देवि! त्रयी भगवती, भव-भावनाय
वार्ता च सर्वजगतां परमऽार्तिहंत्री। (दुर्गासप्तशती)

आशय यह है—जिस मनुष्य मे तपस्या और विद्या नहीं वह ब्राह्मण नहीं, जिसमे ये हों वही ब्राह्मण; ब्राह्मण की तपस्या, ज्ञान का संग्रह और प्रचार; क्षत्रियों की तपस्या, दूसरों की रक्षा की सामग्री का संग्रह और रक्षा; जो क्षत से, आघात से, रक्षा करै वही क्षत्रिय; वैश्य की तपस्या वार्त्ता, सब प्रकार का व्यापार, वाणिज्य, कृषि, गो-वर्धन, सार्थवाहन,

आदि; शूद्र की तपस्या, अन्य वर्णों की सेवा-सहायता। वार्ता तो साक्षात् देवी भगवती का ही रूपान्तर है, क्योंकि सबका परम दुःख, अन्न-वस्त्रादि का अभाव, यही मिटाती है; इसी पर मानव जगत् की स्थिति आयत्त है, यही जगत् का मूल है, वैश्य ही धन-धान्य से अन्य तीन वर्णो का भी और अपना भी पोषण करता है, और शूद्र अर्थात् सेवक सहायक बिना तो अन्य तीन मे से किसी का काम चल ही नहीं सकता।

एकवर्णं इदं पूर्वं विश्वं आसीद्, युधिष्ठिर !,
क्रिया-कर्म-विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितं। (म-भा, वन. अ. १८०)
न विभेदोऽस्ति वर्णानां, सर्वं ब्राह्मं इदं जगत्,
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि, कर्मभिः वर्णतां गतं।
न योनिः, नऽपि संस्कारः, न श्रुतं न च संततिः,
कारणानि द्विजत्वस्य; वृत्तं एव तु कारणं। (अ-२१३)
शूद्रे च एतद् भवेत् लक्ष्म, द्विजे तत् च न विद्यते,
न स शूद्रो भवेत् शूद्रः, ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।
(शान्ति, अ. १८७)
न कुलेन, न जात्या वा, द्वाभ्यां वा ब्राह्मणो नहि;
चांडालोऽपि व्रतस्थः चेत्, ब्राह्मणः सः, युधिष्ठिर !
सर्वे वै योनिजाः मर्त्याः, स-मांसाः, स-पुरीषकाः;
शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो, गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्;
ब्राह्मणोऽपि क्रिया-हीनो शूद्रात् प्रत्यंतरं भवेत्।
न जातिः दृश्यते तावत्, गुणाः कल्याणकारकाः। (म. भा. अनु.) भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—ब्रह्मदेव ने सब की सृष्टि की, अतः सभी ब्राह्म वा ब्राह्मण हैं; पूर्व काल मे सब मनुष्य एक ही वर्ण के थे; क्रिया और कर्मो के भेद से वर्णो का भेद हुआ। और चार वर्णो का व्यवस्थापन हुआ। कुल से, जाति से, संस्कार से, विद्या से भी द्विजत्व सिद्ध नहीं होता, सद्वृत्त से ही सिद्ध होता है। यदि जन्मना चांडाल भी सात्त्विक व्रतों का धारण करे, तो वह ब्राह्मण ही है। यदि जन्मना

ब्राह्मण भी विप्रोचित धर्म-कर्म से रहित हो तो वह शूद्र से भी नीचे गिरा हुआ है। जाति वा वर्ण किसी के मुख पर लिखा हुआ नहीं देख पड़ता, सद्गुण देख पड़ते हैं, और वे ही कल्याणकारक हैं।

सबका निष्कर्ष, अनुशासन पर्व के अ० २०७ मे संक्षेप से कहा है,

यदि ते ब्राह्मणाः न स्युः ज्ञान-योग-वहाः सदा,
उभयोः लोकयोः, देवि !, स्थितिः न स्यात् समाजतः।
यदि निःक्षत्रियो लोकः, जगत् स्याद् अधरोत्तरं,
रक्षणात् क्षत्रियै रेव जगद् भवति शाश्वतं।
तथैव, देवि !, वैश्याश्च लोक-यात्रा-हिताः स्मृताः;
अन्ये तान् उपजीवंति; प्रत्यक्षफलदाः हि ते;
यदि न स्युः तु ते वैश्याः, न भवेयुः तथाऽपरे।
तथैव शूद्राः विहिता सर्व-धर्म-प्रसाधकाः;
शूद्राश्च यदि ते न स्युः, कर्म-कर्त्ता न विद्यते;
त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः, सर्वकर्मकराः तु ते।

सज् ज्ञान का प्रचार करने वाले विद्वान् ब्राह्मण न हों तो समाज की समाजता, उसकी सुव्यवस्था, संस्कृति, न बनै। यदि शूर वीर क्षत्रिय उसकी रक्षा, दुष्टों के आक्रमण से, न करें, तो सब संसार ही उलट पलट जाय; इस रक्षा से ही समाज मे स्थिरता आती है। यदि दानी स्वभाव के सद्व्यवहारी वैश्य, समाज को अन्नवस्त्रादि पर्याप्त मात्रा मे न पहुँचावें, तो कोई जी ही न सके। एवं शूद्र तो सबका मूल ही हैं; यदि वह सबकी सहायता न करै तो कोई भी द्विज अपना उचित कर्म अच्छे प्रकार से न कर सकै।

चारो वर्णो का घनिष्ठ अन्योऽन्यऽाश्रय वेद के उदात्त रूपक ही मे दिखा दिया है,

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात्,
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽध्यतिष्ठत् दशांगुलं।
ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीत्, बाहू राजन्यः कृतः,

ऊरू तद् अस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।

महाभारत मे भी इसी का अनुवाद है,

ब्रह्म वक्त्रं, भुजौ क्षत्रं, कृत्स्नं ऊरूदरं विशः,
पादौ यस्याऽश्रिताः शूद्राः, तस्मै वर्णात्मने नमः । (भीष्मस्तवराज)

यह जो मानवजाति रूप सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपाद महापुरुष है, जो सारी पृथ्वी पर फैला है, और अपने हाथों की दस अंगुलियों से, तथा दस ज्ञानेंद्रिय कर्मेंद्रिय रूप अँगों के बल से, सब भूमंडल को वश मे किये हुए है, उसके मुखस्थानी ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय, उदर और ऊरू वैश्य, और पैर शूद्र हैं ।

अंतःकरण के चार अंश कहे; बुद्धिस्थानी ब्राह्मण, अहंकार इच्छा-स्थानी वैश्य, मनःस्थानी क्षत्रिय, सब का संचयस्थानी और मूल-भूत अव्यक्तगुण स्मृतिरूप चित्तस्थानी शूद्र ।

शूद्रेण हि समस्तावत् यावद्वेदे न जायते । (मनु.)
जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद् द्विजः उच्यते,
वेदपाठी भवेद् विप्रः, ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणः स्मृतः । (अन्य स्मृति)

जन्म से सभी शूद्र ही होते हैं । संस्करण से द्विज, वेद पढ़कर विप्र, और ब्रह्मज्ञानी होकर बाह्मण । ब्राह्मणात्मक शिक्षाव्यूह, क्षत्रिय-मय रक्षा-व्यूह, वैश्य-घटित भक्षा-व्यूह, शूद्र-रचित सेवा-व्यूह, इन चारो परस्पराश्रित, अन्योऽन्यसंबद्ध व्यूहों से सुव्यूढ़, शास्त्र-बल, शस्त्रबल, धन-धान्य बल, श्रमबल, इन चार परस्पर सहायक बलों से समुन्नद्ध, निर्भीक और स्वाधीन समाज ही उन्नति कर सकता है ।

इतिहास-पुराण मे 'कर्मणा वर्णः' के उदाहरण ।

कर्मणा वर्णः के अनुसार वर्ण-परिवर्तन का एक उदाहरण, ऋषभ देव और उनके पुत्रों का, पहिले कहा । क्षत्रिय से ब्रह्मर्षि बन जाने की विश्वामित्र की कथा प्रसिद्ध है । पंडित-मंडली मे जब वर्ण-परिवर्तन का प्रस्ताव कोई उपस्थित करता है तब उस से कहा जाता है, 'करो

विश्वामित्र के ऐसी तपस्या !'; ये लोग समझते होंगे कि पुराणेतिहास मे एक ही यह वर्ण-परिवर्तन हुआ; पर ऐसा नहीं है; सैकड़ों, किंवा सहस्रों, ऐसे उदाहरण हैं।

गोत्र के गोत्र ने, जिन मे सैकड़ों, स्त्री वा पुरुष रहे होंगे, अपना वर्ण बदल डाला।

धृष्टाद् धार्ष्टं अभूत् क्षत्रं, ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ,
ततो ब्रह्मकुलं जातं आग्निवेश्यायनं, नृप !।
नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यो कर्मणा वैश्यतां गतः।
शर्यातिः मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव ह,
यो वा अंगिरसां सत्रे द्वितीयमह ऊचिवान्।
गर्गात् शिनिः ततो गार्ग्यः, क्षत्राद् ब्रह्म ह्यवर्तत।
दुरितक्षयो महावीर्यात्, तस्य त्रय्यारुणिः, कविः,।
पुष्करारुणिः, इत्यत्र, ये ब्राह्मणगतिं गताः।
भर्म्याश्वः तस्य तनयाः पंचाऽऽसन् मुद्गलादयः;
मुद्गलाद् ब्रह्म निर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितं;
मिथुनं मुद्गलाद् भार्म्याद्, दिवोदासः पुमान् अभूत्,
अहल्या कन्यका, यस्मात् शतानंदस्तु गौतमात्।
(भा. स्कं., ९., अ. २, ३, २१)

वैश्ययोन्यां समुत्पन्नाः, शूद्रयोन्यां तथैव च,
ब्रह्मर्षयः इति प्रोक्ताः पुराणाः द्विजसत्तमाः;
लोकोऽनुमन्यते च एतान्; प्रमाणं तत्र वै तपः।
कपिंजलादो ब्रह्मर्षिः चांडाल्याँ उदपद्यत;
अदृश्यंत्याः पिता वैश्यो नाम्ना चित्रमुखः पुरा,
ब्राह्मणत्वं अनुप्राप्तो ब्रह्मर्षित्वं च, कौरव !;
कन्यां चित्रमुखः शक्त्यै वसिष्ठतनयाय वै
शुभां प्रादात्, यतो जातो ब्रह्मर्षिस्तु पराशरः;
तथैव दाशकन्यायां सत्यवत्यां महान् ऋषिः;

पराशरात् प्रसूतश्च व्यासो योगमयो मुनिः ।
भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः
वीतहव्यो महाराजः ब्रह्मवादित्वं एव च ।
(म. भा. अनु. अ. ५३; अ. ८)

यद् दुष्करं, यद् दुरापं यद् दुर्गं, यत् च दुस्तरं,
सर्वं तत् तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमं । (मनु०)
शूद्रयोनौ हि जातस्य, सद्गुणान् उपतिष्ठतः,
वैश्यत्वं भवति, ब्रह्मन् !, क्षत्रियत्वं तथैव च,
आर्जवे वर्त्तमानस्य ब्राह्मण्यं अभिजायते ।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानः विकर्मसु,
दांभिकः दुष्कृतप्रायः, शूद्रेण सदृशो भवेत् ।
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततं स्थितः,
तं ब्राह्मणं अहं मन्ये । वृत्तेन हि भवेद् द्विजः । (म. भा.वन.
(अ. २१२-२१९, धर्मव्याधकथा)

आशय यह है—क्षत्रिय राजा धृष्ट के वंश मे अग्निवेश हुए, जिन की संतान आग्निवेश्यायन ब्राह्मण हुए । दिष्ट राजा का एक पुत्र नाभाग, गोपालन मे रुचि के कारण, वैश्य हो गया । मनु के एक पुत्र शर्याति, ब्रह्मिष्ठ हुए, उन्हों ने आंगिरस ऋषियों के यज्ञ मे ऋत्विक् हो कर दूसरे दिन मन्त्र कहे । गर्ग से शिनि क्षत्रिय, उन के गार्ग्य और गार्ग्यायण गोत्र ब्राह्मणो का, चला; स्वयं गर्ग भी, क्षत्रिय हो कर ब्राह्मण ऋषि हो गये थे, और उन्हों ने कृष्ण का जातकर्म किया, जन्मकुण्डली बनाई, प्रसिद्ध ज्योतिष के कई संप्रदायों मे एक, गर्ग का, अब तक चल रहा है; शिनि क्षत्रिय हुए, उन के पुत्र सत्यक के पुत्र सात्यकि, भारत के प्रसिद्ध योद्धा हुए; अर्जुन के शिष्य थे; इन का अन्य नाम युयुधान भी था । दुरितक्षय राजा के तीन पुत्र ब्राह्मण हो गये । भर्म्याश्व राजा के मुद्गल के ज्येष्ठ पुत्र महाराज दिवोदास, काशी के राजा, क्षत्रिय हो गये, और

उन की भागिनी अहल्या, गौतम ऋषि को ब्याही गयी, जिन के पुत्र शतानन्द ने, सीता और राम के विवाह मे, जनक का पौरोहित्य किया। ये बस कथाएँ भागवत के नवें स्कंध मे कही हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व मे कहा है—वैश्य वा शूद्र भी कहलाने वाले कुलों मे जन्मे पुरुष ब्राह्मण हो गये हैं; इस मे कारण तपस्या ही थी। चांडाली के गर्भ से उत्पन्न कपिजलाद ब्रह्मर्षि हुए। वैश्य चित्रमुख की पुत्री अदृश्यंती से वशिष्ठ के पुत्र शक्त्रि ने विवाह किया; तब से वसिष्ठ ने उन को ब्राह्मण माना; पीछें तपस्या कर के वे ब्रह्मर्षि भी हो गये। शक्त्रि और अदृश्यंती के पुत्र महर्षि पराशर हुए, जिन से, और मछली पकड़नेवाले केवट की पुत्री से, महर्षि वेदव्यास का जन्म हुआ। महर्षि भृगु के वचनमात्र से महाराज वीतहव्य क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये; कथा यह है कि प्रतर्दन राजा से संग्राम मे हार कर वीतहव्य, (जिन्होंने प्रतर्दन के पिता दिवोदास की बनाई बसाई काशी नगरी को लूटा पाटा था, और दिवोदास के वंश के बहुतों को मार डाला था) भागे, और भृगु के शरण मे आये; प्रतर्दन उन को खोजते आये; भृगु को प्रणाम किया, पूछा, वीतहव्य यहाँ आया है? भृगु ने कहा 'यहाँ कोई अ-द्विज नहीं है' प्रतर्दन हँसे, और वीतहव्य की पीठ को धनुष्कोटि से कोंच कर बोले 'इस का वर्ण ही बदल गया, क्षत्रिय नहीं रहा, तो अब मुझ को इस से वैर नहीं, ब्राह्मण से क्षत्रिय वैर नहीं कर सकता'; यह कह चले गये। अपना वचन सत्य करने को भृगु ने वीतहव्य को ब्राह्मण बना दिया; पीछें तपस्या से वे बड़े विद्वान् ब्रह्मवादी ऋषि हो गये। महाभारत के वनपर्व मे, धर्म-व्याध की कथा मे कहा है—शूद्र योनि मे उत्पन्न जीव, यदि उचित सद्-गुणो का अभ्यास करै तो वैश्य, क्षत्रिय, वा ब्राह्मण बन सकता है। ब्राह्मण नामधारी दाम्भिक दुराचारी पाप करने वाला हो तो वह असत् शूद्र के समान हो जायगा। सद्वृत्त से ही द्विज होता है। अनेक अन्य उदाहरण मै ने अपने छपे ग्रन्थों मे एकत्र कर दिये हैं। उन के सिवा अन्य बहुतेरे, वेदों के ब्राह्मण और

आरण्यक भागों मे, तथा पुराणो और उपपुराणो में, अन्वेषण से मिलेंगे, जिन को मै नहीं पा सका।

इन उदाहरणो का निष्कर्ष यह है कि यदि पति पत्नी दोनों ही उत्कृष्ट हों तो क्या कहना है, पर दो मे से एक भी, विशेष कर पति, ऐसा हो, तौ भी संतति उत्कृष्ट होगी।

उत्तमं जन्म-कर्मभ्यां, कर्मणा एव तु मध्यमं, मिथ्या एव केवलं जात्या वर्णवत्वं स्मृतं बुधैः।

स्त्रियों की निन्दा मिथ्या। माता का स्थान सर्वोच्च।

हिंदुओं मे यह विश्वास फैला हुआ है कि प्राचीनो ने स्त्रियों की निन्दा ही, तथा ब्राह्मणो की और क्षत्रियों की प्रशंसा ही, किया है। यह विश्वास नितांत भ्रम मात्र है। मनु ने सात्विक, स्व-धर्म-कर्म-निष्ठ, चारो वर्णो के स्त्री और पुरुष की बड़ी प्रशंसा की है। इसके विपरीत, राजस-तामस, अधर्म-कुधर्म-मग्न, सब की घोर निंदा की है।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन;
प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हाः गृहदीप्तयः। (मनु. ९-२६)
उपाध्यायान् दश आचार्यः, आचार्याणां शतं पिता,
सहस्रं तु पितॄन् माता, गौरवेणाऽतिरिच्यते। (२-१४५)
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गाद् अपि गरीयसी। (लोकोक्ति)
पितृभिः, भ्रातृभिश्च, एताः, पतिभिः, देवरैस्तथा,
पूज्याः, भूषयितव्याश्च, बहुकल्याणं ईप्सुभिः।
यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः,
यत्र एताः तु न पूज्यंते सर्वाः तत्राऽफलाः क्रियाः।
संतुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च,
यस्मिन् एव कुले, नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवं।
शोचंति जामयो यत्र, विनश्यति आशु तत् कुलं,
न शोचंति तु यत्र एताः, वर्धते तद् हि सर्वदा।

जामयो यानि गेहानि शपंति, अप्रतिपूजिताः,
तानि कृत्या-हतानि इव विनश्यंति समंततः। (मनु. ३.५५-५९)

सती स्त्री और श्री, लक्ष्मी, में कोई भेद नहीं है, दोनो को एक ही जानना चाहिये। बहुओं, बेटियों, बहिनों, पत्नियों का सदा आदर करना, और उन को आभूषण देना, यह पिता, भाई, पति, देवर आदि का आवश्यक कर्तव्य है। सती स्त्रियाँ घर की दीपक हैं; इन से घर उजाला, उज्ज्वल, रहता है। इन्ही से संतति है। ऐसी स्त्री, और साक्षात् श्री लक्ष्मी, मे कोई भेद नहीं है। इन का आदर करना परम कर्तव्य है। माता का सम्मान सब से अधिक। दस उपाध्यायों से बढ़ कर आचार्य, सौ आचार्यों से बढ़ कर पिता, सहस्र पिताओं से अधिक माता का गुरुत्व है; बालक बालिका के आदिम पाँच वर्ष मे शौच शील आदि की शिक्षा देने के कौशल मे, अतः गौरव मे, आदर पाने की योग्यता मे, माता का पिता से सहस्रगुण, होता है। लोकोक्ति है कि जननी और जन्म-भूमि स्वर्ग से भी अधिक गरीयसी, प्रिय और आदरणीय हैं। जहाँ नारियों का आदर होता है वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं; जहाँ नहीं वहाँ सब कर्म निष्फल होते हैं। जिस कुल मे भार्या और भर्ता परस्पर संतुष्ट हैं वहाँ सब कल्याण सदा बसते हैं। जिस कुल मे बहू-बेटियाँ दुखी रहती हैं, जिस को वे शाप देती हैं, वह शीघ्र नष्ट हो जाता है, जैसे विद्युत्पात से; जहाँ वे सुखी हैं वह कुल सर्वदा बढ़ता ही रहता है।

इस लिये, कन्या और युवा का शील स्वभाव जाँच कर, ऐसों का परस्पर परिणय करना चाहिये जिन के परस्पर संतुष्ट रहने की सम्भावना अच्छी है। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यं', जिन का शील और व्यसन समान है, वा अविरोधी है, उन्ही की मित्रता, प्रीति, चिरस्थायी होती है, घटती मिटती नहीं। निष्कर्ष यह कि जिन का सील, स्वभाव, व्यसन, (शौक-ज़ौक), बुद्धि, विद्या, श्रुत, धर्म-कर्म जीविकोपाय आदि मिलता हो, वा अन्योऽन्य-विरोधी न हो, वे ही स्त्री-पुरुष सच्चे 'सवर्ण' हैं; जिन का ऐसा न हो वे ही 'अ-सवर्ण' हैं; नाम मात्र एक होने से सवर्ण नहीं।

कु-ब्राह्मण कु-क्षत्रिय की कुत्सा।

सब ब्राह्मणों, सब क्षत्रियों, की प्रशंसा प्राचीनो ने नहीं की है, प्रत्युत कुत्सितों की घोर जुगुप्सा और भर्त्सना की है; यह दिखाने के लिये मनु के कुछ श्लोक यहाँ पर्याप्त होंगे; अन्य बहुत से, मनु, महाभारत, आदि मे भरे हैं।

हैतुकान्, बकवृत्तींश्च, वाङ्मात्रेणऽपि नऽर्चयेत्।
न वारि अपि प्रयच्छेत् तु वैडालव्रतिके द्विजे,
न बकव्रतिके विप्रे, नऽवेदविदि धर्मवित्। (४.३०, १९२)
अदंड्यान् दंडयन् राजा, दंड्यांश्च एवऽपि अदंडयन्,
अयशो महद् आप्नोति, नरकं च अधिगच्छति।
अनपेक्षितमर्यादं, नास्तिकं, विप्रलुम्पकं,
अरक्षितारं अत्तारं, नृपं विद्याद् अधोगतिं।
दंडः शास्ति प्रजाः सर्वाः, दंड एवऽभिरक्षति।
दंडः सुप्तेषु जागर्ति, दंडं धर्मं विदुः बुधाः।
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणऽभिवर्धते;
कामात्मा, विषमः, क्षुद्रो, दंडेनैव निहन्यते।
(मनु ८.१२८,३०९;७.१८,२७)

पाषंडी, पाप-कर्म करने वाले, विड़ाल और बक के ऐसे दम्भी, और चोर तथा हिंसक, कुब्राह्मण को पीने के लिये जल भी नहीं देना, उससे बात भी नहीं करना। जो राजा अपराधी को दण्ड नहीं देता और निरपराध को सताता है, शास्त्रोक्त मर्यादाओं का पालन नहीं करता, नास्तिक है, अर्थात् धर्म मे विश्वास नहीं रखता, प्रजा से कर लेता है पर उन की रक्षा नहीं करता, प्रत्युत उन को लूटता है, वह नीचे गिरता है। दंड ही प्रजा का शासन करता है, उनको धर्म के मार्ग पर चलाता है, उन की रक्षा करता है, जब यह सोते हैं तब वह जागता है, धर्म का स्वरूप है। ऐसे धर्म-रूप दण्ड का, जो राजा सम्यक् प्रणयन, उचित

प्रयोग, नहीं करता वह उसी दण्ड से मार डाला जाता है। जो उचित प्रयोग करता है, उस का और उस की प्रजा का त्रिवर्ग, धर्म-अर्थ-काम, सुसम्पन्न होता है। सद्ब्राह्मण सत्क्षत्रियों ने भारत को बहुत ऊँचे उठाया; असद् ब्राह्मण और असत्क्षत्रियों ने उतना ही नीचे गिराया।

हिंदुत्व का लक्षण क्या है? तामस बुद्धि, फूट, और बैर।

हिंदुत्व के विशेषक लक्षणो पर पहिले कह आये हैं। (१) ढाई तीन सहस्र जात्युपजातियों मे से किसी एक का नाम रखना, (२) दूसरे नामवाले के साथ खाना-पीना व्याह-शादी नहीं (३) छूतछात का अत्यत विचार और परस्पर अस्पृश्यता। इस मे जो सत्य का अंश है वह उलटा हो कर देख पड़ता है। जैसे मुकुर मे बिम्ब का विवर्त्त प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। आहार और विवाह मे शुचिता का अवश्य बहुत ध्यान रखना चाहिये; पर जिस मिथ्या अर्थ मे, तामस बुद्धि से, रक्खा जाता है, उस प्रकार से नहीं। सत्य अर्थ मे, सात्विक बुद्धि से, रखना चाहिये।

> अधर्मं धर्मं इति या मन्यते, तमसाऽऽवृता,
> सर्वार्थान् विरीतांश्च, बुद्धिः सा, पार्थ !, तामसी। (गीता)

एक ब्राह्मण मित्र ने मुझ से कहा कि रेल पर विहार प्रान्त मे यात्रा कर रहे थे, उसी डब्बे में एक मुस्लिम सज्जन भी बैठे थे, आलाप होने लगा, धर्म-मज़हबों की चर्चा चली। उन सज्जन ने कहा, 'पंडित जी, माफ़ कीजियेगा, मगर सच तो यह है कि आप लोगों का मज़हब चूल्हे मे गया;' उत्तर प्रदेश मे आभाणक प्रसिद्ध है, 'सात कनौजिया नौ चूल्हा'। एक गुजराती ब्राह्मण मित्र से, उन के प्रांत मे प्रसिद्ध, दूसरी कहावत सुनायी, 'तेरे गुजराती, तेत्रीश चूल्हे'। वृद्ध महाराष्ट्र सज्जनो से मैने सुना है कि पानीपत का तीसरा बड़ा युद्ध, जो जनवरी सन् १७६१ मे, मराठों और अफ़ग़ानो में हुआ, उस मे मराठों की हार का मुख्य कारण यही जात पाँत का तिरस्कार और द्वेष हुआ। इस वृत्त की कथा पहिले कही जा चुकी है। गुरु गोविंद सिंह ने पहिचाना कि हिंदुओं

की दुर्बलता का एक मुख्य कारण यह दोष है, और अपने अनुयायियों को एक साथ खाना-पीना सिखाया। जब दो मनुष्य एक दूसरे का छूआ खा-पी नहीं सकते तो उन मे परस्पर प्रीति होना, और आपत्काल मे एक दूसरे का साथ देना, कठिन ही है।

चारो वर्णों का अंगांगि-भाव; सूफी कविता।

वैदिक ऋषि ने चारो वर्णो के सब मनुष्यों मे, मुख, बाहु, ऊरूदर, पैर का परस्पर अंगांगिभाव कहा है। इन मे परस्पर अस्पृश्यता कैसी? गंदगी से, संक्रामक रोग से, दूर रहो; स्वच्छ नीरोग मनुष्य से मत भागो। इस अंगांगिता को, प्रसिद्ध, मुसल्मान कवि शेख़ सादी ने भी पहिचाना है,

> बनी आदम् आज़ाय् यक् दीगर अंद् ,
> कि दर् आफ़्रीनिश ज़ि यक् जौहर् अंद् ;
> चु उज़्वे ब-दर्द आवरद् रोज़गार,
> दिगर उज़्वहा रा न मानद् क़रार्;
> तु कज़् मिहनते दीगराँ बेग़म् ई,
> न शायद् कि नामत् दिहन्द् आदमी।

आदि-मनु आदम की संतान सभी आदमी एक दूसरे के अज़ो अंग हैं, क्योंकि सब एक हो जौहर, ज्योति, परमात्मा की प्रकृति, से उत्पन्न हुए हैं। यदि मनुष्य के एक अंग मे किसी कारण से पीड़ा होती है, तो अन्य सब अंग भी बेचैन हो जाते हैं। यदि तुम किसी मनुष्य को दुःखी देख कर दुःखी नहीं होते हो, तो तुम आदमी नहीं, पशु हो।

ईसाई धर्म-ग्रंथ बाइब्ल ने भी लिखा है—'वन् स्पिरिट् आर वी औल बैप्टाइज़ड् इन् टु वन् बौडी, व्हेदर वी बी ज्यूज़ और् जेंटील्स... आँड व्हेदर् वन् मेम्बर् सफ़र् , औल् दि मेम्बर्स् सफ़र् विथ इट्'; एक परमात्मा ने सब को, ज्यु, यहूदी, को भी जेण्टील् को भी, एक ही शरीर का अंग बनाया है, एक अंग को पीड़ा होती है तो अन्य सब पीड़ित

होते हैं; एक का आदर होता है, तो सभी अपने को आदृत मानते हैं।

वर्ण-परिवर्तन के अन्य शास्त्रीय प्रमाण।

वर्ण-परिवर्तन के शास्त्रीय प्रमाणो पर कहने को तो बहुत है, और अन्य ग्रंथों मे उसे कहने का यत्न भी मै ने किया है। यहाँ अधिक कहने का समय नहीं है। पर दो विशेष प्रमाणो को कह देना ही चाहिये। पाणिग्रहण के क्षण मे कन्या का गोत्र बदल जाता है, पिता का गोत्र छूट जाता है, पति का गोत्र मिल जाता है। जब गोत्र, जो प्रत्यक्ष बात है, शरीर पर छपा हुआ है, बदल सकता है, तब वर्ण, जो प्रत्यक्ष नहीं है, जो शरीर को देखने से नहीं विदित होता, वह क्यों न बदल सके? दूसरा प्रमाण यह है,

मनु ने बारह प्रकार के पुत्र कहे हैं (अ० ९. श्लो. १५८–१७८); उन मे एक प्रकार 'अपविद्ध' है, अर्थात् माता पिता ने नव-जात शिशु को फेंक दिया हो, किसी ने पाया हो, और उसे पुत्र बना लिया हो, चाहे वह किसी कुल का वा जाति का हो; और ऐसे का वर्ण वही हो जाता है, जो उसे पानेवाले का हो; अंगरेजी मे इस को 'फाउंडलिङ्' कहते हैं। एक अन्य प्रकार का पुत्र 'क्रीतक' कहा है, जिस को उस के माता पिता से किसी ने धन दे कर मोल लिया हो, चाहे उस की जाति वा कुल कुछ भी हो। जो ख़रीदने वाले क्रेता की जाति वा वर्ण है, वही उस क्रीतक का हो जाता है। हेतु दोनो के वर्णपरिवर्तन का एक ही है, संस्कार; पाने वाले वा क्रयी के गृह का जो रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा, धर्म-कर्म है, वही अपविद्ध और क्रीतक सीखेगा, चाहे बालक किसी हीनतम जाति वा कुल का हो (प्रायः नवजात, सद्योजात, बालक ऐसे ही होते हैं) और नया पिता महाश्रोत्रिय ही क्यों न हो।

भारत जाति का, अपने दीर्घ जीवन में, सब प्रकार का अनुभव।

भारत-जाति अपने पाँच सहस्र, वा दस सहस्र, वा इस से भी

अधिक काल के जीवन में, बाह्य संस्कृति के छोटे बड़े बहुतेरे परिवर्तनों का, प्रांत-प्रांत मे, समय-समय पर, अनुभव कर चुकी है। आभ्यन्तर संस्कृति मे भी। इच्छा और भक्ति मार्ग सम्बन्धी विश्वासों और क्रियाओं के भी। शासन के प्रकार भी जितने सम्भव हैं, ऐकराज्य, साम्राज्य, माहाराज्य, चक्रवर्त्तिराज्य, सार्वभौम राज्य, भौज्य, द्वैराज्य, वैराज्य. गणराज्य, संघराज्य, आदि सब की परीक्षा कर चुकी है।

सब के गुण भी दोष भी देख चुकी है, जिन का वर्णन वेद के ब्राह्मण अंशों और इतिहास-पुराणो मे, हमारी शिक्षा के लिये लिख दिया गया है। परन्तु चार वर्णों और चार आश्रमो का विश्वास, और तदनुसार सामाजिक व्यवहार, सब परिणमनो मे अनुस्यूत रहा है। आरम्भ मे स्यात् सहस्रों वर्षों तक सत्य और शुद्ध रूप से, 'कर्मणा वर्णः' और 'वयसा आश्रमः' के; फिर युगह्रास और सात्विक बुद्धि के ह्रास से, असत्य 'जन्मना वर्णः' और 'आश्रम-संकर' के भ्रष्ट-नष्ट, अस्त-व्यस्त रूप मे।

> बहुकालप्रवाहेन सर्वथा जर्जरीकृतः,
> भारतीयसमाजोऽयं, नितरां भ्रष्टतां गतः,
> आपादतलं आचूडं, पुनः संस्कारं अर्हति।

प्राचीन विधि-विधान और नवीन समस्याएँ

अब देखना चाहिये कि वर्तमान काल मे जो नवीन उग्र समस्याएँ हमारे सामने हैं, उन की पूर्ति मे मन्वादि प्राचीनो के आदेशों से क्या सहायता मिलती है। मुख्य समस्याएँ क्या हैं, गृहनीति, शिक्षानीति, राजनीति, अर्थनीति, विनोदनीति, धर्मनीति आदि के सम्बन्ध मे ?

(१) अन्न-वस्त्रादि की समस्या व जन-संख्या वृद्धि।

(१) सब से घोर समस्या अन्न-वस्त्र, तथा अन्य आवश्यकीय वस्तुओं की नितांत कमी की है। इस पर अधिक कहने का प्रयोजन नहीं। समाचार पत्रों मे नित्य इसी की चर्चा रहती है, जिन को सभी पढ़ते

वा सुनते हैं। इस कमी और महँगी के कारण कई हैं, जिन को भी प्रायः सब लोग जानते हैं। पर एक मुख्य कारण जनसंख्या की अतिवृद्धि है, जिसकी ओर लोगों का ध्यान कम है। अंग्रेज़ी राज मे, सन् १९५१ की गणना मे, समग्र अखंडित भारत की संख्या अड़तीस कोटि नब्बे लाख थी। स्वराज मे, सन् १९४१ मे, खंडित भारत, हिंदुस्थान, की संख्या साढ़े पैंतीस करोर थी। पर उर्वरा भूमि का परिमाण, इस के अनुपात मे, नहीं बढ़ा। भोक्ताओं उपयोक्ताओं की संख्या प्रतिदिन बढ़ी, भोज्य उपयोज्य वस्तु, उसके अनुपात से, प्रतिदिन कम होती रही। इस अभाव में भी लोग जी रहे हैं, भूख और सर्दी से मरने वाले कभी कदाचित् ही समाचार पत्रों मे लिखे जाते हैं, यही आश्चर्य है, और इस के कारण का गम्भीर अन्वेषण करने से, शासन-कार्य के और अर्थनीति के उपयोगी, कई तथ्य विदित होंगे। जनसंख्या की इस अतिवृद्धि और उसके भीषण दुष्परिणाम की ओर शासक वर्ग का ध्यान नहीं गया है, ऐसा नहीं; पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने, विशेषतः अमेरिका के वैज्ञानिकों ने, हिसाब लगाया है कि समस्त पृथ्वी पर बसने वाले मनुष्यों की संख्या प्रायः पचासी सहस्र प्रतिदिन बढ़ती है, जिस मे भारत के तीस पैंतिस और चीन के प्रायः चालीस पैंतालीस होंगे। अंग्रेज़ी राज मे पंजाब की सरकार ने इस पर विचार आरम्भ किया था। पर वह, द्वितीय विश्व-युद्ध के चल पड़ने के, तथा अन्य उपद्रवों के, कारण बंद हो गया। स्वराज मे, केंद्रीय परिषत् मे, श्रीमती रेणुका राय और स्वास्थ्य-मंत्री राजकुमारी अमृतकौर मे एक या दो बार वाद हुआ, पर कोई कर्तव्य निश्चित नहीं हो पाया, यद्यपि नितांत निश्चेय था।

इसको रोकने का उपाय। मनु की सूचना।

इस विषय मे मनु का क्या आदेश है? केवल एक श्लोक मिलता है।

यस्मिन् ऋणं संनयति, येन चऽनंत्यं अश्नुते,
स एव धर्मजः पुत्रः; कामजान् इतरान् विदुः। (९.१०७)

ज्येष्ठ पुत्र ही धर्मजात है, धर्म की संतान है। यतः वह तीनो ऋण, (जिन की चर्चा पहिले की गयी), जिस को उस ने स्वयं चुकाया, उन को अपनी पारी मे चुकाने का भार उस ज्येष्ठ पुत्र पर रख देता है। एवं, यदि आपत्काल मे उस ने कुछ ऋण लिया हो, और स्वयं न चुका सका हो, तो वह भी ज्येष्ठ पुत्र के ऊपर पड़ता है। तथा 'आत्मा वै जायते पुत्रः', पिता ही पुत्र के रूप ने पुनः जन्म लेता है, इस रीति से, अनंत संतति द्वारा आनंत्य का, अमरता का, अनुभव करता है। इन हेतुओं से ज्येष्ठ पुत्र ही धर्मज है, अन्य सब कामजात हैं।

मानव जाति के आदि पितामह, मनु, अपने वंश की वृद्धि कैसे न चाहैं ? पर अति वृद्धि के दोष भी देखते हैं; 'मात्स्यन्याय' चलने लगता है। इस लिये संकेत से, इशारे से, चेतावनी दे दी। निरुक्त मे भी कहा है, 'बहुप्रजाः निर्ऋतिं आविवेश...बहुप्रजाः कृच्छ् आविवेश'। बहुत संतान वाला मानव नरक मे गिरता है, बहुत दुःख भोगता है। महाभारत युद्ध का मुख्य कारण, आदि पर्वके ६५ वें अध्याय मे कहा है, कि जन-संख्या बहुत बढ़ गई थी। हरिवंश (१.५१.१९-३१) मे भी यही कहा है। प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्ध का भी यही कारण हुआ। किंतु इन युद्धों से रोग का मूलोच्छेद नहीं हुआ, न हो सकता है। क्षणिक यापन ही हुआ और हो सकता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पहिले जो संख्या थी, उस से अब बहुत अधिक हो गयी है। रोग-निर्मूलन के लिये मनु के श्लोक पर, पौरस्त्य पाश्चात्य वैज्ञानिक वैद्यों को भाष्य टीका लिखना चाहिये। पश्चिम मे इस विषय की अब बहुत चर्चा है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक उपाय

सैकड़ों सहस्रों छोटे-मोटे ग्रंथ और लेख छपे हैं और छपते जा रहे हैं अंग्रेज़ी मे। उन का अनुकरण कर के इस देश मे भी 'संतान-निरोध' के उपायों के ग्रंथ छपे हैं। उन के विज्ञापन दैनिकों मे निकलते रहते हैं, जिन मे विश्वास-योग्य कम ही होंगे। पश्चिम मे उपज्ञात और आविष्कृत

उपायों मे सब से अच्छा, जर्मन वैज्ञानिक डाक्टर स्टाइनाक का समझा जाता है; यह भारतीय विशेषज्ञ डाक्टरों से मुझे विदित हुआ है, तथा कुछ मित्रों के निजी अनुभव से। सरल से एक शल्य-कर्म से, जिस मे प्रायः नहीं की सी पीड़ा होती है, पुरुष के शरीर मे ऐसी अवस्था हो जाती है, कि दम्पति के शारीर सुख मे बाधा नहीं होती किंतु संतानोत्पादन बंद हो जाता है। स्त्री-शरीर मे भी ऐसे ही एक शल्य-कर्म से वही सफलता मिलती है, पर यह वैसा सरल नहीं है। इस विषय मे झूठी लज्जा का काम नहीं है। विज्ञापन सब लोग पढ़ते ही हैं। केन्द्रीय 'संविधन-संसात्' के (जिस को अब 'लोकसभा' कहते हैं) खुले अधिवेशन मे, स्त्री-मंत्री और स्त्री-सदस्य मे बहस हुई, जो पत्रों मे छपी। यह संख्या-वृद्धि तो महारोग है। यदि रोगी और चिकित्सक के बीच लज्जा आने पावे तो रोग-निवारण कदापि न हो सकै। केंद्रीय सरकार को चाहिये कि विशेषज्ञ वैज्ञानिको की एक समिति से निश्चय करा के एक विधान बना दे, जिस से विवाहित दम्पतियों को दो, अथवा तीन तक, संतति हो जाने पर, पति के लिये यह शल्य-कर्म करा लेना अनिवार्य हो। जो न करावै और तीन से अधिक संतान उत्पन्न करै, उस को धन-दंड या कारा-दंड या अन्य दंड दिया जाय। इस विषय पर मै ने विस्तृत लेख अंग्रेज़ी दैनिकों मे छपाये हैं। मुख्य नियम के साथ कई उपनियम भी बनाना उचित होगा, जिन का निर्धारण विशेषज्ञो की समितियों के परामर्श से होना चाहिये। यह विचार गृह-नीति के हैं, जिस पर पहले भी बहुत कह आये। यहाँ एक बात और कह देना चाहिये; शासक मंत्री कहते हैं कि प्रत्येक गाँव मे अस्पताल बनावैंगे, और क्षय रोगी बच्चों को बचावैंगे, इत्यादि। पर इतने अस्पताल बनाने को रुपया नहीं और क्षय रोगी बच्चों को हठात् जिलाने का प्रयास जो आरम्भ हुआ है, वह बुद्धि-मत्ता नहीं। स्वस्थ बच्चों के लिये पर्याप्त दूध चावल मिलता नहीं, क्षय-रोगी बच्चों को जबरदस्ती जिलाना व्यर्थ है; यदि जीये भी तो सदा रोगी बने रहैंगे, सर्वथा नीरोग होना कठिन है। यह कहना नृशंस हृदय-

हीन जान पड़ता है, पर शल्य-कर्म भी क्रूर होता है, किन्तु उस से रोगी अच्छे हो जाते हैं।

मैं ने एक बहुत अनुभवी वृद्ध वैद्य से सुना है कि आयुर्वेद मे बहुत सरल उपाय बताये हैं, जिन से युवती वंध्या हो जाती है। प्रकृति-भेदेन किसी को कामोन्माद हो जाता है, 'नऽग्निः तृप्यति काष्ठानां, न पुंसां वामलोचना," तथा किसी की, ऐसी घृणा पुरुष से हो जाती है कि पुरुष को पास नहीं आने देती। पाश्चात्य अनुभवी वैज्ञानिक 'सर्जन्स' का भी ऐसा ही मत है; पत्नी को दो वा तीन संतान हो जाने पर, शल्य-कर्म से पुनः गर्भाधान नहीं होता; एवं पुरुष को, पैंतालीस के वयस् मे, शस्त्र-कर्म से; पर तब तो नितरां व्यर्थ है, उस के पहिले बहुत से गर्भाधान कर सकता है। यहाँ भी प्रकृति भेद से, फल भिन्न-भिन्न होता है। निष्कर्ष यह कि अपने सुपरिचित वैद्य वा डाक्टर से परामर्श करके, उसके उपदेश के अनुसार, कोई गर्भ निरोध कर्म करैं करावैं।

(२) व्यापक भ्रष्टाचार ; मनु-आदिष्ट उपाय।

(२) दूसरी बहुत जटिल समस्या उस घोर भ्रष्टाचार की है जो समस्त जनता मे और सरकारी भृत्यों अधिकारियों मे व्याप्त हो रही है। अंग्रेजी राज मे भी रही, भृत्यों और अधिकारियों मे। पर तब से अब अधिक जान पड़ती है। क्षुद्र स्वार्थपरता बहुत बढ़ गयी है। व्यापारियों मे चोर-बाज़ारी, भृत्यों और अधिकारियों मे उत्कोच, घूसखोरी। स्व-राज के 'स्व' का अर्थ सब ने अपना देहात्मक अधम 'स्व', समझ लिया; सर्व जनता मे व्याप्त उत्तम 'स्व', परमात्म-स्वरूप, नहीं समझा। देश के नेताओं ने अपने अनुयायियों को यह समझाने का यत्न कभी नहीं किया।

मनु का आदेश है,

राज्ञो हि रक्षाऽधिकृताः पर-स्व-ऽादायिनः, शठाः,
भृत्याः भवंति प्रायेण; तेभ्यो रक्षेद् इमाः प्रजाः।

ये कार्यिकेभ्योऽर्थं एव गृह्णीयुः, पापचेतसः,
तेषां सर्वस्वं आदाय राजा कुर्यात् प्रवासनं।

अन्य स्मृति में कहा है।

प्रजाशतेन संद्विष्टं संत्यजेद् अधिकारिणं।

प्रजा की रक्षा के लिये नियुक्त अधिकारी प्रायः रक्षक से भक्षक हो जाते हैं, प्रजा को लूटते हैं। राजा को चाहिये कि ऐसों का सर्वस्व मोचन कर के उन्हें अपने देश से निकाल दे। सौ भले आदमी जिस अधिकारी की शिकायत करें उस को भी निकाल दे। पर विद्यमान अवस्था मे यह कठिन है। राजभृत्यों और अधिकारियों की संख्या इतनी बढ़ गयी है, और सब कार्य उन पर ऐसा आश्रित हो रहा है, कि नेकनीयत राजा भी प्रायः उन के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। और परिदेवन करने वाले सौ मनुष्य भले हैं, यह निश्चय कैसे हो, कौन करें ? उत्तर प्रदेश की सरकार ने कुछ चुने हुए नेकनाम पुलिस अफ़सरों का एक दल बनाया, कि वह दुष्ट राज-भृत्यों का पता लगा कर उन को दण्ड दिलावें। कुछ ही काल मे जान पड़ा कि कोई संतोषजनक कार्य नहीं हो रहा है, और वह विभाग बन्द कर दिया गया।

सद्धर्म शिक्षा बिना भ्रष्टाचार की कमी असम्भव।

इस देशव्याप्त दुष्टभाव और भ्रष्टाचार को कम करने का यदि कोई उपाय है तो यही कि, बचपन से ही आरम्भ कर के, सब स्कूलों, कौलेजों, विश्वविद्यालयों, पाठशालाओं, मद्रसों, मे साधारण धर्म, शाश्वत धर्म 'यूनिवर्सल् ईटर्नल् रिलिजन्', सारधर्म, अस्ल मज़हब, की शिक्षा दी जाय, और विशेष धर्मों की भी मुख्य-मुख्य बातें बताई जायँ, जिसमे सब धर्मों, मज़हबों के विद्यार्थियों को एक दूसरे के विशेष विश्वासों और आचारों का कुछ ज्ञान हो जाय, और मुख्य धर्म की शिक्षा के बल से इन गौण आचारों का भी परस्पर सम्मर्षण, रवादारी, टॉलरेशन, प्रसन्न मन से करें, और उन विशेष आचारों का वर्जन करें जिन से दूसरों को

कष्ट होता हो, और जो विज्ञान के भी विरुद्ध हों; जैसे ईसाइयों, यहूदियों मुसलमानो, को गोवध नहीं करना चाहिये। एवं हिंदुओं को ईसाई मुसलमानो पर होली के दिनो मे रंग फेंकना नहीं चाहिये, न अभद्र गाली बकना। भारत के प्राचीन ऋषियों ने गोवध का ही निषेध किया है, अन्य पशुओं के वध का वैसा नहीं, इसका कारण यह है कि पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने विविध प्रकार से परीक्षा कर के निश्चय किया है कि माता के दूध के समीपतर गाय का ही दूध है।

उपयुक्त ग्रन्थ।

ऐसी धर्म-शिक्षा के लिये उपयुक्त धर्म-ग्रन्थ चाहिये। इस लिये काशी के पुराने सेण्ट्रल हिन्दू कौलेज के प्रबन्धकों ने (जो कौलेज पीछे काशी-विश्वविद्यालय मे परिणत हुआ) एक श्रेणी तीन पुस्तकों की बनवाई, (१) प्रश्नोत्तरी, छोटे बालक बालिकाओं के लिये, (२) 'एलीमेंटरी', प्रारम्भिक, पाठशाला की ऊँची कक्षाओं के लिये (३) 'एड्वांस्ड्', प्रौढ़, विद्यापीठ विभाग के, छात्रों के लिये। इन का बहुत प्रचार हुआ, देशी राज्यों मे भी और सर्कारी प्रान्तों मे भी, और कई प्रान्तीय भाषाओं मे अनुवाद भी छपे; किन्तु काशी विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् इन का पढ़ना-पढ़ाना बन्द हो गया। अब सन् १९४० मे इन का नया संस्करण मद्रास मे छपा है। इन ग्रंथों की सार बातें, तथा और अनेक भी, ले कर मै ने एक छोटा स्वतन्त्र ग्रंथ भी छपवाया। नाम 'प्रिंसिप्ल्स औफ़ सनातन वैदिक धर्म' रक्खा; इस का हिन्दी अनुवाद भी एक सज्जन ने मेरी देख-रेख मे कर दिया है। श्री केदारनाथ सारस्वत जी की द्वैमासिक 'शान्तिदूत' नामक पत्रिका मे क्रमशः छप रहा है*। अच्छा हो यदि यह सम्मेलन उसे शीघ्र एक साथ छपवा दे। दो-दो महीने पर खंडशः निकालने मे कई वर्ष लग जायँगे।

* अब वह पत्रिका बन्द हो गयी, अनुवाद भी पूरे ग्रन्थ का नहीं हो सका।

मुख्य-धर्म, सार-धर्म, दिखाने के लिये, मुझे खेद है कि, जिस पुस्तक का मै ने संकलन किया है, और जिस का नाम 'एसेन्शल् यूनिटी औफ़ औल् रिलिजन्स', अर्थात् 'सब धर्म मजहबों की तात्त्विक एकता' रक्खा है, उस के सिवा कोई पुस्तक इस प्रकार की उपलभ्य नहीं है। इस ग्रंथ मे, मै ने, सब प्रचलित मुख्य धर्मो के, हिंदू, पारसी, यहूदी, ईसाई, मुस्लिम तथा चीन जापान के लाओ-त्से, कङ्-फ़ु-त्से, और शिंतो धर्मो के, एवं, बौद्ध, जैन, सिक्ख धर्मो के, जो सनातन धर्म की शाखा प्रशाखा ही हैं—इन सब के श्रेष्ठतम धर्मग्रंथों के मूल शब्दों मे प्राय: साढ़े चौदह सौ उद्धरण, रोमन लिपि मे, इस ग्रंथ मे दिये हैं। अंग्रेज़ी मे उन का अनुवाद भी। ज्ञान-कांड, भक्ति-काण्ड, कर्म-काण्ड के तीन अध्यायों मे इन उद्धरणो का संदर्भण किया है, और यह सिद्ध किया है कि सब मे मुख्य धर्म, मार्मिक धर्म, सर्वथा एक ही है; तथा यह भी दिखाया है कि गौण धर्म, फ़ुरूआति-मजहब, मे भी बहुत सादृश्य है। उदाहरणार्थ,

श्रयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवऽवधार्यतां,
न तत् परस्य कुर्वीत स्याद् अनिष्टं यद् आत्मनः ;
यद् यद् आत्मनि च इच्छेत, तत्परस्यऽपि चिंतयेत् (म. भा.)

'ह्वाट् सो एवर् यी वुड् दैट् मेन् शुड् डू अंटु यू, डू यी ईवन् सो टु देम' (बाइब्ल, न्यू टेस्टामेंट)। 'अफ़ज़ल-उल्-ईमानि उन् तोहिब्बो लिन्नासे मा तोहिब्बो लि-नफ़्सिका, व तक्रहो लहुम् मा तक्रहो लिन-फ़्सिका' ('क़ुरान')। तीनों वाक्यों का अर्थ सर्वथा एक ही है—जो अपने लिये चाहो वह दूसरों के लिये भी चाहो; जो अपने लिये न चाहो वह दूसरों के लिये भी मत चाहो। किन्तु इस पर बड़ी व्याख्या की आवश्यकता है। 'भिन्नरुचिः हि लोकः'; प्रत्येक मनुष्य अपनी ही रुचि दूसरे पर लादना चाहै तो पारस्परिक व्यवहार असंभव हो जाय। इस लिये इस धर्म-सर्वस्व को सक्रिय करने के लिये 'अधिकारि-भेदाद् धर्म-भेदः', के पूर्वोक्त सिद्धांत के अनुसार चार वर्णो और चार आश्रमो के भिन्न-भिन्न धर्म-कर्म की प्रक्रिया-प्रणाली बना दी है।

गौण धर्म के भी उदाहरण देखिये—एक माला फेरता है, तो दूसरा 'रोज़री', और तीसरा तस्बीह; एक मनुष्य मंदिर मे घंटा बजा कर सब को स्मरण कराता है कि 'उठो ईश्वर का ध्यान करो', दूसरा गिर्जाघर मे 'बेल्स' बजा कर 'प्रेयर' करने को कहता है, और तीसरा मस्जिद के मीनार पर से 'अज़ान' कर के नमाज़ की याद दिलाता है।

श्री सुन्दर लाल जी, गत अक्तूबर-नवंबर मे, अन्य सज्जनो के साथ चीन का भ्रमण कर के लौटे हैं; मेरे पास गत २७ जनवरी को आये थे; कहते थे कि मेरे ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद आरम्भ किया है; पंचमांश हो गया है; शेष भी कुछ महीनो मे हो जायगा। छापने के लिये उनके पास द्रव्य नहीं है; इस का प्रबंध दूसरों को करना होगा। मुझे आशा है कि अनुवाद अच्छा होगा; कुछ अंश का नमूना मै ने देखा है। सुन्दर लाल जी ने प्रायः दो सहस्र पृष्ठ का, 'भारत मे अंग्रेज़ी राज' नामक उत्तम हिन्दी ग्रंथ लिखा और छपवाया है; जो अंग्रेज़ी राज मे ज़ब्त भी हुआ था। हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, और अंग्रेज़ी भाषाओं पर उन्हें अच्छा अधिकार है; 'नया हिन्दी' और 'विश्ववाणी', दो मासिकों के सम्पादक भी हैं। यदि यह अनुवाद छप जाय और शिक्षा-संस्थाओं म इस का उपयोग होने लगे तो बहुत अच्छा हो[1]।

यन् नवे भाजने लग्नः; संस्कारो नऽन्यथा भवेत्।

मिट्टी के नये बर्तन मे जो तरल पदार्थ रख दिया जाय, उस का संस्कार शीघ्र नहीं छूटता। बचपन मे सिखायी बात जल्दी भूलती नहीं।

वयस् बढ़ने पर, यदि स्वभाव मे छिपे दोष के बीजों ने बल पकड़ा, वा जीवन संग्राम की आवश्यकताओं ने विवश किया, और वह कुमार्ग चला, तब भी उस के भीतर, उस शिक्षा से जगाया हुआ अंतर्यामी,

---

१. अनुवाद सम्पूर्ण और बहुत उत्तम हुआ है, पर खेद है कि अलग पुस्तक रूप से छपवाने के लिये धन नहीं जुट सका।

'कौनशेन्स', उस को गोदता रहैगा, और किसी दिन, पश्चात्ताप करा के, सुमार्ग पर लौटावैगा ।

स्मरण रहे कि इस मेरे ग्रंथ मे कोई 'कापी राइट्' नहीं रक्खा है । यह प्रथम पृष्ठ पर छपा है; जिस का जी चाहे पुनः छापै, वा अनुवाद किसी भी भाषा मे छापै । परंतु, 'री-प्रिंट' अविकल होना चाहिये, और अनुवाद शुद्ध ।

स्वराज-सर्कार का 'सेक्युलर' बनना बड़ी भूल ।

स्वराज सर्कार ने अपने को 'सेक्युलर' अर्थात् 'धर्म से तटस्थ' राज घोषित किया है । यह बड़ी भूल किया है । पाकिस्तान मे इस्लाम की शिक्षा सब मद्रसों और दारुल-उलूमो मे, मुल्लाओं द्वारा, दी जाती है, और हिंदू धर्म और हिंदुओं का विरोध भी सिखाया और किया जाता है भारत में हम को किसी धर्म और धर्मी का विरोध नहीं करना वा सिखाना है, प्रत्युत सब का मेल बढ़ाना है, जिस के लिये, सार-धर्म की शिक्षा को छोड़, कोई उपाय नहीं है ।

अंग्रेज़ी राज, विशेष कारणो से भारतीयों के लिये सेक्युलर था, पर अपने लिये वह भी ईसाई धर्म मानता था, करोरों रुपये के व्यय से बहुत सुन्दर-सुन्दर गिर्जाघर, चर्च, उस ने भारत मे बनवाये, और करोरों रुपये साल ऊँचे नीचे दर्जों के पादरियों पर व्यय करता था । और भी; यदि भारत-स्व-राज सेक्युलर है तो उसने हिंदू कोड बिल क्यों उपस्थित किया ? यदि किया तो केवल वही क्यों ? ईसाई, मुस्लिम, पारसी, आदि कोड बिल भी क्यों नहीं ?[१] इस हिंदू कोड बिल का समग्र भारत ने विरोध किया है, जिस का यह फल हुआ कि उसके प्रस्तोता अम्बेदकर महाशय, बंबई मे चुनाव मे, नितरां हार गये । और श्री जवाहर लाल नेहरू ने भी, अभी १७ जनवरी को, काशी मे

१. इस का, और बहुत सत्य, कारण, मुझे एक सज्जन ने बताया, कि हिंदुओं ने ऐसे कोड की मांग की, अन्य धर्मावलंबियों ने नहीं ।

बहुत बड़ी सार्वजनिक सभा के समक्ष, कहा कि उस बिल मे बहुत परिवर्तन करना होगा, जनता जिन अंशों के विरुद्ध है वे छोड़ दिये जायेंगे एवं श्री कैलास नाथ काटजू जी ने, जो अब अम्बेदकर महाशय के स्थान पर न्याय-मंत्री हैं, प्रयाग मे जन-समूह के सामने कहा कि यदि यह बिल सर्वथा छोड़ नहीं दिया गया तो बहुत परिवर्तित रूप में पुनः प्रस्तुत होगा।

हिंदू कोड बिल मे कुछ अंश अच्छा, कुछ बुरा।

स्मरण रहे कि बिल के विद्यमान रूप मे भी कुछ अंश विवाह-विषयक, अच्छे है। विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अच्छे नहीं हैं। और दाय-भाग-विषयक तो बहुत ही निकृष्ट हैं। यदि माने जायँ तो हिन्दू समाज नितरां अधरोत्तर हो जायगा, किसी कुल मे दो पीढी तक भी सम्पन्नता न रहैगी; सभी शीघ्र दरिद्र हो जायँगे, और घर-घर मे कलह मचैगा।

इस विषय पर मै ने अन्यत्र बहुत लिखा है। यह सब विचार धर्म-नीति विषयक हैं। अब शिक्षा-नीति को देखना चाहिये।

(३) शिक्षा-नीति।

(३) शिक्षा के दो अंग हैं, (क) साधारण शिक्षा और (४) अर्थकरी शिक्षा। साधारण शिक्षा के लिये मनु का आदेश है,

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेत् शौचं आदितः,

आचारं, अग्निकार्यं च, संध्योपासनं एव च। (२. ६९)

वर्णमाला सिखाने से पहिले, गुरु को चाहिये कि शिष्य को शरीर स्वच्छ, शुचि, रखने का उपाय सिखावे; तथा बड़ों से, बराबरों से, और छोटों से, अभिवाद-प्रत्यभिवाद, दुआ-सलाम, कैसे करना; सर्वोपरि सध्या-वंदन सिखावै। अर्थकरी शिक्षा का प्रश्न विकट है। साम्प्रत दशा यह है; जैसे छापाखाने से प्रतिदिन एक-एक दैनिक पत्र की २०-२०, २५-२५, सहस्र प्रतियां छाप कर बाहर निकाल दी जाती हैं, वैसे भारत की विविध शिक्षा-संस्थाओं से बहुविध परीक्षाओं का उत्तरण करा के, उन-

उन संस्थाओं के छापा रूप पत्र दे कर, प्रतिवर्ष, कई-कई लाख विद्यार्थी, वहाँ से बाहर निकाल दिये जाते हैं। जीविका का कोई भी प्रबंध नहीं। सब सर्कारी नौकरी खोजते हैं, और पाकर, राज-भृत्यों की संख्या को निस्सीम, बेहद, बढ़ाते हैं, जो देश के लिये बहुत भयावह है। राज-भृत्यों की कथा अभी कह आये। महाभारत मे कहा है,

अभिलोप्तारः एव एते, न एते भूतस्य भावकाः।

प्रजा पर नित्य नये करों का, तथा उत्कोच का, भार ही बढ़ाते हैं; उन का भला नहीं करते। जिन को सर्कारी नौकरी नहीं मिलती, वे किसी अन्य प्रकार की नौकरी, मिलों मे, कल कारखानो मे, दफ़्तरों मे, खोजते हैं। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी से विविध प्रकार की ऊँची-ऊँची डिग्रियां ले कर लौटने वालों की भी यही दशा है।

सब से अच्छी नौकरी, विश्व-विद्यालयों के प्राध्यापकों की है; वर्ष मे सात महीना अनध्याय; अच्छे जल-वायु के स्थान मे अच्छे गृह; विद्याओं का वातावरण; आजकाल की महंगी मे भी काम चलाने को पर्याप्त वेतन; समान-शील-व्यसन वालों का नित्य समागम; यदि दल-बंदियों के राग-द्वेष, ईर्ष्या-स्पर्धा, के जाल मे न फँस जायं, जैसा, दुर्भाग्य-वश, होता हुआ सुना जाता है। द्वितीय कोटि मे, ऊँचे नीचे पदों के न्यायपति, 'जुडिशरी'; इन को भी बँधा काम, पर्याप्त वेतन, बहुत अनध्याय। पर ऐसी नौकरियां कितनो को मिल सकती हैं? एक-एक छोटी नौकरी के लिये सैकड़ों 'ग्राज्युएटों' के प्रार्थनापत्र आते हैं; कुछ थोड़े से परीक्षोत्तीर्ण युवा, छोटे-मोटे व्यापारों मे लग जाते हैं। निष्कर्ष यह कि उक्त लाखों मे से कितने ही, जीविका-हीन होने के कारण, सोशलिष्ट, काम्युनिस्ट आदि दलों मे मिल जाते हैं; प्रतिदिन सारे भारत मे जो बड़ी-बड़ी चोरियां डकैतियां, रेल गिराना, हत्याएं होती हैं, जिनका वर्णन दैनिकों मे छपता रहता है, उन के विषय मे, साधारण जनता के मन मे यही शंका फैली हुई है, कि ये जीविका-रहित उच्च-

परीक्षोत्तीर्ण युवकों के काम हैं; निश्चय करता शासकों का काम है।[1]

अर्थकरी विद्या कैसे दी जाय ?

जीविका-साधनी अर्थकरी विद्या कैसे दी जाय ? प्राचीन रीति यह थी कि सब प्रकार के गृहस्थों के लड़के गुरुकुल मे, पांचवें और सोलहवें वर्ष के बीच मे, भेजे जाते थे; कोई-कोई अधिक वयस् के भी; कुलपति आचार्य, और उन के सहायक उपाध्याय, अध्यात्मवेत्ता होते थे; लड़कों की स्वाभाविक रुचि और प्रवृत्ति को जांचते रहते थे; जिस ओर अधिक रुचि देखते थे, तदनुरूप शिक्षा देते थे; यथा पुस्तक-व्यसनी को ब्राह्मणोचित, मल्ल-युद्ध-व्यसनी को क्षत्रियोचित, द्रव्य-संग्रही को वैश्योचित; जो बहुत मंद-बुद्धि हो उस को शूद्रोचित। लौकिक के साथ दैवी प्रकार भी, स्वभाव-परीक्षण के, पारस्कर-गृह्य-सूत्रादि मे लिखे हैं, जिन का प्रयोग आजकाल सधना कठिन हैं। ब्रिटेन और अमेरिका मे इस ओर बहुत ध्यान दिया जा रहा है; शिक्षा संस्थाओं में 'कैरियर-मास्टर' भी रहते हैं, जो विद्यार्थियों का, अध्यात्म-शास्त्र, 'साइकालोजी', की दृष्टि से, समय-समय पर, उन की रुचि का, परीक्षण करते हैं, और तदनुसार उन को परामर्श देते हैं, कि इस-इस विषय का अध्ययन और अभ्यास करो, आगे जीविकावृत्ति के लिये। अमेरिका मे, बड़े-बड़े कारखानो मे, जहां कई-कई विभाग, भिन्न-भिन्न प्रकार के कामो के रहते हैं, वहाँ अध्यात्म-शास्त्री, मनुष्य की प्रकृति पहिचानने मे चतुर बड़े-बड़े वेतनो पर नौकर रहते हैं; वे, विविध विभागों मे काम करने वालों से वार्तालाप इस युक्ति

---

१. दैनिकों मे, पुलिस की ओर से, पकड़े गये डकैतों के फ़ोटो भी छपे हैं, और लिखा है कि अमुक बी० ए० है, अमुक एम० ए० है, इत्यादि। डकैत का ठीक रूप 'डंकैत' है, क्योंकि 'डंका' बजा कर, दिन दुपहरे, लूटपाट करते रहे; अब ऐसा नहीं करते। एवं 'लकड़ बग्घे' का ठीक नाम 'लंगड़ बग्घा है', यतः देखने से ऐसा जान पड़ता है कि इसके पिछड़े दो पैर नितांत निर्बल हैं, यद्यपि हैं नहीं। बग्घे = व्याघ्र।

से करते हैं कि उन को यह पता नहीं लगता कि ये हमारी प्रकृति की जांच कर रहे हैं; सहज-सहज प्रश्नो के उत्तरों से वह जान लेते हैं कि इस का इस काम मे मन नहीं लगता, दूसरे प्रकार का काम चाहता है; तब उस की बदली उचित विभाग मे करा देते हैं; इस प्रकार से अमेरिका मे कितने ही कारखानो की बहुत उन्नति हुई है, आय दूनी हो गयी है। शेख़ शादी ने लिखा है, 'मज़दूरि ख़ुश-दिल कुनद कार बेश', प्रसन्न-चित्त मजदूर काम ख़ूब करता है।

ऐसे 'कैरियर-मास्टरों' और अध्यात्मवेत्ता अध्यापकों की, भारत की शिक्षा-संस्थाओं में बड़ी आवश्यकता है। पुराकाल मे समावर्तन के समय, आचार्य, शिष्य को, 'बी. ए., एम. ए' आदि का प्रमाणपत्र नहीं देता था, वरन् यह निर्णय कर देता था कि यह ब्राह्मण, वा क्षत्रिय, वा वैश्यवर्ण के जीविका-कर्म के योग्य है; वही उस का सच्चा वर्ण होता था,

आचार्यः तु अस्य यां जातिं, विधिवत्, वेदपारगः,
उत्पादयति सावित्र्या, सा सत्या, साऽजरा ऽमरा।
तत्र यद् ब्रह्म-जन्मऽस्य, मौंजीबंधनचिह्नितं,
तत्रऽस्य माता सावित्री, पिता तु आचार्यः उच्यते।

(मनु. २.१४८, १७३)

विद्यार्थी की जो जाति, वर्ण, सावित्री अर्थात् बुद्धि-विद्यादात्री शक्ति के द्वारा, आचार्य उत्पन्न करता है वह इस जन्म मे अजर अमर है; सावित्री माता-स्थानीय है, आचार्य पिता-स्थानीय है। अपने हिंदी, संस्कृत, अंग्रेज़ी ग्रंथों मे इन सब बातों पर मैं ने, विस्तार से लिखा है।

(४) चौथा प्रश्न अर्थ-नीति का है; उस का संबंध एक ओर शिक्षा-नीति से है, दूसरी ओर राज-नीति से। सभी नीतियाँ परस्पर बंधी हैं, सभी एक शरीर की अंग हैं। जीविका के लिये भगवान् मनु ने कहा है। (१०.७४–७९)

अध्यापनं, अध्ययनं, यजनं, याजनं तथा,
दानं, प्रतिग्रहः चैव, षट् कर्माणि अग्रजन्मनः;

षण्णां तु कर्मणां अस्य त्रीणि कर्माणि जीविका,
याजनऽध्यापने चैव, विशुद्धात् च प्रतिग्रहः ;
शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य; वणिक्-पशु-कृषिः विशः;
आजीवनऽर्थं; धर्मस्तु, दानं, अध्ययनं, यजिः ।

सब द्विजों के लिये यथाशक्ति 'पात्रे' दान, अध्ययन, और यजन, तीन कर्म, धर्म हैं । यजन का अर्थ है, पूर्वोक्त इष्ट और आपूर्त के रूप मे जो भी कर्म, परार्थ-बुद्धि से, जनता के उपकार के लिये किया जाय। आजीवनऽर्थ, ब्राह्मण के लिये अध्यापन, याजन और सदाचारी पुरुष से प्रतिग्रह दान लेना । याजन का अर्थ है, उक्त परार्थ कर्मो मे परामर्श देना; यथा, वापी, कूप, तटाक, या 'ट्यूब वेल' बनाना है, तो यह बताना कि कैसी भूमि मे कैसा पानी मिलैगा, किस प्रकार के द्रव्य से, ईंट से, या पत्थर से, या बढ़ने वाले जीवत् कंकर से, या सिमेंट से बनाना, इत्यादि; यदि कोई धर्मेच्छु पुरुष चिकित्साशाला वा पाठशाला बनवा देना चाहता है, तो किस रूप की, और उस की रूप-रेखा भी खींच देना, 'एंजिनियरिङ्' अर्थात् वास्तुशास्त्र के बल से; यदि वृक्षों के लखराँव लगाना चाहता है, तो कैसी भूमि मे, किस ऋतु मे, कौन-कौन जाति के, फूल के, फल के, ईंधन के; यह वृक्ष-शास्त्र, 'हौर्टिकल्चर', के बल से बताना; और यह परामर्श दे कर, उस के लिये, पुरस्कार, आदर से लाई दक्षिणा, 'औनोरेरियम', लेना । क्षत्रिय की जीविका, शस्त्र-अस्त्र से दूसरों की रक्षा करके उन से कर या वेतन लेना । वैश्य के लिये कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य । शूद्र के लिये, दूसरों की सेवा से प्राप्त भृति । वैश्य के लिये अन्य कई कर्तव्य भी कहे हैं (९.३२६–३३३)। यह सब सम्पद् धर्म है; आपत्काल के लिये दूसरे धर्म हैं ।

साम्प्रत काल मे, कृषि और गोरक्षा के प्रकारों मे तो अब तक विशेष परिवर्तन इस देश मे नहीं हुआ; पाश्चात्य देशों मे हुआ है; पर यहाँ भी, बड़े परिमाण के खेतों मे, 'ट्राक्टरों' से काम लिया जाने लगा है; वाणिज्य मे, 'मिलों' और 'फ़ैक्टरियों' के आगमन से, तथा

समुद्रगामी बहुत बड़े जहाजों, पोत्रों, वहित्रों, के प्रयोग से, भारी परिवर्तन हुआ है। साथ ही इस के, भारत सरकार की नीतियों से, सब प्रकार का आजीवन-व्यापार बड़ी डाँवाडोल अवस्था में पड़ गया है; यथा ज़मीदारी का विलोपन; एक कृषक की भूमि को तीस एकर से अधिक न होने देना, जब 'ट्राक्टर' के सफल प्रयोग के लिये सौ-सौ एकर के खेत चाहिये; आय-कर, 'इन्कमटैक्स, सर-टैक्स' आदि का अत्यन्त बढ़ा देना; पचीसों नये-नये कर लगाना, यथा कृषिकर, विक्रय-कर, विनोदकर, आदि; अब विवाहकर और मृत्युकर की भी तयारी हो रही है;[१] अवध के तालुक़ादारों ने, कोल्हुआवन, घोड़ावन, हथियावन, लाटा-वन, आदि बावन तक अबवाब, किसानो पर लगाये थे; वैसे ही कर लग रहे हैं; प्रत्येक कर के वसूल करने मे, उसकी आय का तृतीय वा चतुर्थ अंश, वसूल करने वालों के वेतन, दफ़्तर, आदि पर व्यय हो जाता है। इन सब कारणो से व्यापार बहुत शिथिल हो रहा है। भागवत मे 'कर-भार-प्रपीडिताः' प्रजा का वर्णन है; एक मनुष्य परिश्रम करके कमाय, और दूसरा उस की कमाई को उठा ले जाय, यह न्याय नहीं है। अन्न-वस्त्रादि के 'राशनिङ्' और 'कंट्रोल', तथा अन्य कई प्रकार के कंट्रोल, की आपत्ति अलग है; अब यह दशा हो गयी है कि, न यह सब कंट्रोल हटाने से प्रजा का भला देख पड़ता है, न बनाये रहने से। कर के विषय मे, प्राचीन काल मे केवल एक ही कर लगता था, आय-कर; मनु की आज्ञा है, उपज वा लाभ के चतुर्थ से पंचाशत्तम भाग तक राजा ले; व्यवसाय मे जितनी जोखिम अधिक उतना ही कर कम; समुद्र यात्रा करने वाले वैश्यों से, ५० वाँ भाग, यतः समुद्र के वात्याओं से, बहुधा डूब जाते थे। केवल काष्ठ के होते थे, पालों से, वायु की दिशा

---

१. मृत्यु-कर, 'एस्टेटड्यूटी' के नाम से लगा दिया है; यह पापिष्ठ कर है; एक ओर तो सारा कुनबा रो रहा है, दूसरी ओर सर्कारी अधिकारी यम-दूत ऐसे, आ धमके, 'लाओ दाय में से इतना अंश'।

देख कर, चलाये जाते थे; वायु के एक झोके मे, पाल उड़ जाते थे; पतवारों से चलाये जाते थे; अब के ऐसे सहस्र-सहस्र फुटे लम्बे, पहिले स्टीम, भाफ, अब 'ओइल्', 'केरोसिन तैल' से, चलाये जाते हैं। सौ डेढ़ सौ मील, प्रतिघंटा बहती वात्या की परवा नहीं करते। पर्वताकार घोर लहरों के उठते रहने पर भी, उन को चीरते हुए, निर्द्वन्द्व, निर्भय, चले जाते हैं, और लक्ष्य नगर के किनारे, पहुँच ही जाते हैं। इस एक ही कर से सब शासन कार्य चलता था।

पहिले कहा कि जन-संख्या की अति वृद्धि से जनता को पर्याप्त अन्न-वस्त्र नहीं मिलता; पर अन्य हेतु भी हैं; यथा, गत दिसम्बर मास मे, त्रावन्कोर-वासी एक सज्जन मेरे पास आये; छोटे दफ़्तर मे छोटे क्लर्क थे; उन्होंने कहा कि राज के नवीन भारत में विलयन से पहिले, पाँच छः प्राणियों का उन का कुटुम्ब, सात रुपये मासिक में काम चला लेता था, सब वस्तु इतनी सस्ती थी; अब सत्तर रुपये मे भी काम ठीक नहीं चलता; क्योंकि वहाँ भी 'राशनिङ्' चल गया है। अर्थात् समग्र भारत मे वह तंगी समान रूप से फैल गई है, जो पहिले देशी-राज्य-रहित भारत में थी। काग़ज़ी रुपयों की दौड़ से भी और अधिक मूल्य वृद्धि हो रही है। अंग्रेज़ी राज मे जो करेन्सी-विधान था, उसके अनुसार, यदि तीन सौ कोटि रुपयों के करेन्सी नोट चल रहे हों, तो कम से कम दो सौ कोटि रुपये के मूल्य के चाँदी सोने के सिक्के, सरकारी कोषों मे, कलकत्ता, बंबई, मद्रास, दिल्ली, प्रयाग के बड़े-बड़े दुर्गों मे सुरक्षित रहते थे। अंग्रेज़ी राज मे ही उन्मत्त युद्धों के घोर अपव्यय के कारण, यह अनुपात घटने लगा; दो तिहाई के स्थान मे एक तिहाई, फिर चतुर्थ, पंचम, षष्ठ अंश। सिक्के, टंक, भी चाँदी के न रह कर, निकेल और लोहा ताम्बा के हो गये। चाँदी, जो एक समय ४५) पैंतालीस रुपये सेर तक गिर गयी थी, अब १९२) १९३) है, सोने का 'सौवरेन', जो ९॥ तक पहुँचा था, अब ७०) के आसपास रहता है; अच्छा सोना, १०७) प्रति भरी है। पचास साठ वर्ष पहिले, बारह माशे के तोले से, एक तोले शुद्ध सोने का

दाम सोलह तोला शुद्ध चाँदी था। आये दिन, किसी न किसी सरकारी विभाग, वा म्युनिसिपल बोर्ड, वा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, वा मिल्, वा फ़ैक्टरी के नौकर, हड़ताल की धमकी देते हैं, और कभी-कभी कर भी बैठते हैं, जिस से साधारण जनता के जीवन में विप्लव मच जाता है। इन धमकियों और हड़तालों का एक मात्र कारण यही रहता है कि, वेतन पर्याप्त नहीं है, बढ़ाओ। ठीक ही है, अन्न-वस्त्र के लिये वेतन पर्याप्त नहीं तो चुप कैसे रहें? पर सरकार के पास सच्चा धन कहाँ कि सच्ची वेतन-वृद्धि करे? काग़ज़ी करेन्सी नोट मनमाने छापती है, और उन से वेतनो को कृत्रिम वृद्धि होती है। फल यह होता है कि सब वस्तुओं के मूल्यों मे भी वृद्धि, वैसी ही, साथ-साथ, होती है; थोड़े ही दिनो मे पुनः वही चक्कर उपस्थित होता है। रिज़र्व बंक, समय समय पर, अपना हिसाब छापता है, पर उसमे, सोने चाँदी के कुप्य अकुप्य धन के स्थान मे सरकारी 'सिक्युरिटी' ही अधिक रहती हैं।

मेने स्वयं कभी कोई व्यापार नहीं किया, इस लिये व्यापार के रहस्यों से परिचित नहीं हूँ, और निजी निश्चय से कुछ नहीं कह सकता; पर व्यापारियों से मेरा संबंध है, और कुशल धनाढ्य मिल मालिकों और अन्य प्रकार के व्यापारियों से समागम होता रहता है; सब कहते हैं कि रोज़गार बहुत मंद हो रहा है। साथ ही इसके यह भी देखता हूँ कि काशी मे विविध वस्तुओं की दूकानो के आगे भीड़ लगी रहती है, और प्रायः तीन सहस्र मोटर और छः सात सहस्र रिक्शा दिन रात दौड़ा करती हैं।

एक बड़े व्यापारी सज्जन से मै ने पूछा कि आप इस मुद्रास्फीति, मूल्य-वृद्धि, राशनिङ्, चोरबाज़ारी, का क्या प्रतीकार समझते हैं? उत्तर मिला कि, राशनिङ् उठा दी जाय तो दो वर्ष तक उथल पुथल रहेगा, फिर शांत हो जायगा, सब वस्तु दूकानो पर आजायँगी, छिपाई न जायंगीं, और उचित दाम से बिकैंगी; एक अन्य सज्जन ने भी, जो ऊँचे सर्कारी अफ़सर थे, यही कहा। पुरानी नीति यह थी कि प्रत्येक वर्ण

अपना धर्म-कर्म करै, दूसरे के काम मे हस्तक्षेप न करै; क्षत्रिय शासक को व्यापार अपने हाथ मे नहीं लेना चाहिये, जैसा, अद्यत्वे, ब्रिटेन आदि प्रायः सभी देशों मे, और उन के अनुकरण से भारत मे, हो रहा है; उस को व्यापारोपयोगी ज्ञान नहीं, वैसी बुद्धि नहीं, लाभ के स्थान मे हानि ही उठाता है, और देश को अधिकाधिक दरिद्र करता जाता है। शासक-क्षत्रिय का कर्तव्य इतना ही है कि, वैश्य से उचित व्यापार करावै, और यदि वह असद् व्यवहार करै, बेईमानी करै, तो उसे दंड दे। चोर बाज़ार वाले माल छिपावैं भी, तो उनके पड़ोसियों को पता रहता ही है कि यहाँ माल छिपा है; इस की सूचना वे स्थानीय शासकों को दें, और वे, छापा मार कर, उस माल को निकालैं, उचित मूल्य पर, दूसरों के द्वारा, बिकवा दें, जो मूल्य आवै उसे ज़ब्त कर के सर्कारी कोष मे जमा करा दें, और, यदि उचित जान पड़ै, तो अपराधी को, और भी धन-दंड वा कारा-दंड दें।

यदि यह सत्य है कि व्यापार मे घाटा है, नगरों मे केवल ऊपरी चमक-भड़क है, भीतर-भीतर देश खोखला होता जाता है, तो यह बहुत भयावह अवस्था है। जैसी दशा आज मानव-संसार की हो रही है, यदि कोई दुष्ट गवर्मेंट, दूसरे देश की, भारत के ऊपर हठात् आक्रमण करे, तो काग़ज़ी धन के बल युद्ध करना कठिन होगा। ब्रिटेन मे रहने वाले मित्रों से पत्र द्वारा, तथा भारतीय मित्रों से जो अभी थोड़े दिन हुए अमेरिका ब्रिटेन आदि मे भ्रमण करके लौटे हैं, उनसे वार्तालाप मे, तथा श्री चर्चिल और उन के सहकारी अन्य मिनिस्टरों के प्रकाशित भाषणो से भी, जान पड़ता है कि ब्रिटेन मे भी धन का बहुत अभाव है, और उस को शीघ्र कम करने की आशा नहीं है, ब्रिटेन मे भी ज़मीदारियाँ छीन ली गयी हैं, टैक्स बेहद बढ़ गये हैं, मृत्यु-कर भी लग गया है; न सरकारी कोष में सच्चा धन है, न प्रजा ने फैला हुआ है, कि आपत्काल मे काम आवै। भारत की यही दशा है। पुराने समय मे, राजा के कोष मे भी, और सामन्तों तथा वैश्यों के घरों मे भी, सोना

चांदी रत्नजटिल आभूषणों के रूप में, धन रहता था; यदि राजा को आवश्यकता हुई तो, जैसा महाभारत में लिखा है, उन से ऋण लेता था, फिर, आपत् बीत जाने पर, उसे चुका देता था। राजस्थान मे राणा प्रताप और भामा साह की कथा प्रसिद्ध है।

मनु ने (८.१३१-१३७) प्राचीन समय के टंकों, सिक्कों, के परस्पर मूल्य बताये हैं, ताम्र, रजत, और स्वर्ण के; उन का पुनरुज्जीवन तो अब हो नहीं सकता; पर यह हो सकता है, और सर्कार का परम कर्तव्य है, कि सच्चे सिक्के, ताम्बे, चाँदी, सोने के बनवावें, और उन के परस्पर मूल्य का निर्धारण कर दे, जिस मे नित्य उनके मूल्य में घटाव बढ़ाव न हो। ऐसा होने से सब वस्तुओं के मूल्य भी स्थिर हो जायँगे, हड़ताल भी न होगी। पर यह याद रखना चाहिये कि जनता अब काग़ज़ी रुपयों की ऐसी आदी, अभ्यासी, हो गयी है, कि भारी धातु की मुद्राएँ ढोना पसंद न करेगी; एक सहस्र सच्ची चाँदी के रुपयों का भार साढ़े बारह सेर होता है; सौ-सौ के दस नोटों की तौल दो तोला होगी।

इस प्रसंग में एक बात यह भी कहने की है; 'संक्रामक रोग फैलाने मे, सिक्के और नोट भी प्रबल कारण हैं। सब प्रकार के रोगियों, कुष्ठ-ग्रस्तों तक के भी, हाथों में आते-जाते रहते हैं, और सब प्रकार के क्रेताओं विक्रेताओं के भी। शासकों को, चिकित्सा विभाग के अपने वैज्ञानिक डाक्टरों, वैद्यों, हकीमो से, इस विषय में परामर्श करना चाहिये।

यह सब बातें इस लिये कही गयीं कि उत्तम अर्थ-नीति, राजनीति आदि सभी नीतियाँ उत्तम भारतीय संस्कृति की अविच्छेद्य अंग हैं; पर इन का सक्रिय होना, राज-भृत्यों, और उन के पीछे व्यापारियों, जन-नायकों, गृहस्थों की सदाचारिता पर आश्रित है; यदि वे भावशुद्ध नहीं हैं, तो कितने भी विधि-विधान अच्छे से अच्छे भी बनाये जायँ, सब व्यर्थ होंगे।

कुछ अन्य बातें ।

अब मै थोड़े-थोड़े शब्दों में पाँच-सात ऐसी अन्य बातों की सूचना दे कर, भाषण को समाप्त करना चाहता हूँ जिन बातों को भी मै भारतीय संस्कृति के नवीकरण के लिये आवश्यक समझता हूँ । कहने को तो बहुत हैं, अनंत कथा है, पर सब को कहने सुनने का यह स्थान और अवसर नहीं है । जो कहा यदि रुचै, और ऐसे विचार अधिक जानने की इच्छा हो, तो मेरे हिंदी, संस्कृत, अंग्रेज़ी ग्रंथ देखियेगा ।

(१) मंदिर, पुराने और नये ।

सूर्यदेव से अन्य, देवों के नये मंदिरों का बनाना बहुत कम होना चाहिये; एवं नई मस्जिदों का । सनातन-धर्म-ग्रंथों में पुराने चिर-प्रतिष्ठित मंदिरों के जीर्णोद्धार मे अधिक पुण्य कहा है; और मौलवियों से मै ने सुना है कि इस्लाम मे भी कहा है कि किसी मौजूदा मस्जिद से अज़ान की आवाज़, जहाँ तक पहुँचै, उस के भीतर नयी मस्जिद न बननी चाहिये । समाज के नेताओं तथा शासकों को उचित है, कि उन लोगों को, जो किसी धर्म-कार्य मे धन लगाना चाहते हों, समझावैं कि मंदिर पर मंदिर और मस्जिद पर मस्जिद लादना उचित नहीं है; वर्तमान समय की आवश्यकताओं को देखते हुए, उसी धन को चिकित्सा-शालाओं, नहरों, जलाशयों, सड़कों, पुलों के बनवाने तथा वृक्षों के लखरांव लगवाने, नयी बनकटी करा के नयी बस्तियाँ बसवाने, और कृषि फैलाने के कार्यों मे लगावैं । जो पुराने मन्दिर हैं उन की मरम्मत कराते रहैं, उन को स्वच्छ और शांत रक्खैं, फूल, पत्ते, पानी, मिट्टी के कीचड़ से भरने न दें, न उन मे कोलाहल होने दें । जैन मन्दिर इस विषय मे निदर्शन हैं । और इन मन्दिरों मे सुन्दर मनुष्याकार मूर्तियाँ रक्खी जायँ, भयानक और पशुओं के आकार की नहीं; शिव-शक्ति-मन्दिरों मे सुन्दर शिव-पार्वती की मनुष्य के आकार की मूर्ति रहै, सर्पवेष्टित लिंग योनि नहीं ।

सूर्य देव के नये मंदिरों की बहुत आवश्यकता है । स्यात् भारत मे

एक ही मंदिर है, मार्तण्ड का, कश्मीर में; दक्षिण समुद्रतीर पर, कोणार्क का, ध्वस्त है, जीता जागता नहीं; आश्चर्य और खेद है कि भारत में सहस्रों मन्दिर सूर्य के नहीं हैं। ऋग् वेद के अधिकतर मन्त्रों के देव, सूर्य, सविता, आदित्य हैं; 'सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च,...त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्माऽसि, त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि, त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि', 'नमोऽस्तु सूर्याय सहस्ररश्मये,...विरिंचि-नारायण-शङ्करऽात्मने'; सब द्विजों का आवश्यक कर्तव्य संध्या-वंदन है; उस का मन्त्र सावित्री गायत्री है, जिस के देव सविता सूर्य हैं; समग्र संसार के प्रसविता, जन्म देने वाले हैं, इस लिये इन का नाम 'सविता' है; जो इस मन्त्र का प्रति दिन जप नहीं करता वह द्विजत्व से पतित हो जाता है। मनु ने यहाँ तक कहा है,

जप्येन एव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो, नऽत्र संशयः;
कुर्याद् अन्यत् न वा कुर्यात्, 'मैत्रो' ब्राह्मण उच्यते।

और कुछ करे वा न करे, केवल गायत्री का जप करे, उस के अर्थ की भावना करे, तो भी ब्राह्मण सिद्ध हो जायगा; ब्राह्मण 'मैत्र' है, 'मित्र' अर्थात् सूर्य, जो सब के मित्र हैं, सब को प्राण और प्रकाश देते हैं, वही उस के देवता हैं। सूर्य की मूर्ति वैसी ही होना चाहिये जैसी प्रत्यक्ष देख पड़ती है, और उस के नीचे गायत्री मन्त्र लिखा रहना चाहिये। वेद में, और स्तोत्रों में, आदित्य नारायण को हिरण्मय, स्वर्ण के रंग का, कहा है, 'एष आदित्ये हिरण्मयः पुरुषः,...हिरण्यश्मश्रुः, हिरण्यकेशः,...हिरण्य-बाहुः,......हिरण्यवर्णः,...हिरण्यगर्भः (छांदोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, मैत्री, महानारायण आदि उपनिषत्); इस लिये, यदि रक्षा हो सके तो सोने की, नहीं तो शुभ्र चांदी के पत्र की, गोल, और किरण सहित। यदि इच्छा हो तो मन्दिर में किनारे-किनारे, अन्य देवी देवों की, तथा सीता और राम, कृष्ण और रुक्मिणी, की, रुचिर सौम्य मूर्तियाँ रक्खी जायँ, जिन को आँख से देखते-देखते, और मन मे ध्यान करते-करते, दम्पतियों को वैसी ही मंजुल सन्तान हो।

मन्दिरों का बड़ा प्रयोजन और सार्थक्य यह है कि वे धार्मिक

विश्वास के केन्द्र हैं। शुद्ध निराकार सर्वव्यापी परमात्मा को अपने भीतर भी बाहर भी जान कर जीवन निर्वाह करने वाले कम होते हैं। जैसा ईरान के प्रसिद्ध कवि उमर ख़य्याम ने कहा है,

अस्रारि अज़ल् रा न तू दानी व न मन्,
ईं हर्फ़ि मुअम्मा न तू दानी व न मन्,
हस्त अज़ पसे पर्दा गुफ़्तुगूए मन् ओ तू,
चूँ पर्दा बियुफ़्तद् न तू मानी व न मन्।

सृष्टि के आदि अन्त का, और उसके सिर्जनहार का, पता न तुम को है, न मुझ को; इस पहेली को न तुम बूझ सकते हो, न मैं; हमारी तुम्हारी बातचीत पर्दे की ओट से हो रही है; जब वह पर्दा, अर्थात् शरीर, उठ जायगा, तब न तुम रहोगे, न मैं। अधिकांश मनुष्यों को, जीवन-संग्राम और विपदों मे सहारा, दृढ़ता, बल देनेवाला, किसी साकार देवता पर विश्वास और भरोसा ही होता है; उसी के भरोसे वह धर्म मे स्थिर रहता है; 'धर्मो हि विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजाः उपसर्पंति', (महानारायणोपनिषत् ,) 'धर्म एव हतो हंति, धर्मो रक्षति रक्षितः', (मनु), तथा 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः', (गीता)। और श्रद्धा भी तीन प्रकार की, गीता मे, कही है, सात्त्विक, राजस, तामस; अतः, सात्त्विक देवताओं की ही सुन्दर मूर्तियों पर श्रद्धा जमाना चाहिये।

(२) मद्यपान और मांसभक्षण

(२) मद्यपान बन्द होना चाहिये, औषधार्थ छोड़ कर, 'औषधार्थं सुरां पिबेत्'। चाय, कौफ़ी, का उपयोग बहुत बढ़ जाने से, तथा बहुत से साइनेमा-गृहों के, बड़े नगरों मे, खुल जाने से, शराबख़ोरी मे कुछ तो कमी हुई है, पर साइनेमा के चित्रों मे बड़े दुर्भाव आ गये हैं; सर्कार की ओर से नियंत्रण तो होता है, पर सफल कम होता है; ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि सत्भाव और सज्ज्ञान के वर्धक चित्र ही दिखाये जायं; यह, बिना स्वयंसेवकों की सहायता के नहीं सधैगा, और पर्याप्त संख्या मे

स्वयंसेवक जब तक नहीं मिलेंगे तब तक देश मे सद्धर्म की शिक्षा और धार्मिक बुद्धि का प्रचार प्रसार न होगा। रोग का मूल, धर्म का ह्रास है; रोग के मूल की चिकित्सा होनी चाहिये, लक्षणो की नहीं; 'कारणं चिकित्स्यं, न तु कार्यं।

मांस-भक्षण भी कम होना चाहिये। पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह उचित है। प्राय: बीस (अब तीस) वर्ष हुए होंगे, 'लीग औफ़ नेशन्स' ने १५० वैज्ञानिकों की एक समिति नियुक्त की; दो वर्ष तक, बहुत देशों में घूम-घूम कर, वहां-वहां की जनता के आहार की, और उनकी आयु के परिमाण की, जांच कर के, एक सहस्र पृष्ठों में अपनी खोज का विवरण छापा; निष्कर्ष, अंत मे, दो पृष्ठों में यह दिया, कि एक-दल और द्वि-दल, अर्थात् गोहूं, जौ, चावल, सब जाति की दाल, विशेष कर चना और मटर, शाक-तर्कारी, दूध और दूध के परिणाम, विशेष कर दही और मठा, यही मनुष्यों के लिये स्वास्थ्यकर, हितकर, सस्ते भी, भोजन है; इस देश मे प्रसिद्ध है, 'भोजनान्ते पिबेत् तक्रं', 'तक्रं शक्रस्य दुर्लभं', न तक्रदग्धा: प्रभवंति रोगा:'; उक्त वैज्ञानिकों ने देखा कि यूरोप के पूर्व-दक्षिण कोण के देशों मे दधि का पान बहुत होता हैं और वहाँ शतायु मनुष्य बहुत हैं। यह भी अपनी रिपोर्ट मे लिखा कि यदि ऐसा ही मन न मानै, तो अंडे खायं। अब यूरोप अमेरिका मे निरामिष-भोजियों की संख्या बढ़ती जा रही है; प्रसिद्ध नाटक-लेखक बर्नर्ड शा, चौरानबे वर्ष के होकर, १९५० ई० मे शांत हो गये; आजीवन उन्हों ने मद्य मांस नहीं छूआ, न सिगार सिगरेट। अब तो इस अभागे देश मे अति दुर्गंध 'बीड़ी' का प्रचार, देखते-देखते फैल गया है। धर्म की दृष्टि से भी, हिंसा नहीं करनी चाहिये; पशुओं को पाल कर मारना, और अपने मांस के पोषण के लिये उन का मांस खाना, यह निश्चयेन पाप है। मनु (५.४५-५६) ने मांस-भक्षण का निषेध किया है; किंतु ऐसे जंगली पशुओं का जो खेती नष्ट करते हैं, जैसे विविध जाति के हरिण और वन-वराह, इन का हनन और भक्षण, सैनिकों, और

कृषकों, के लिये भी, कथंचित् अनुज्ञेय है; यद्यपि, स्यात् उन को खेतों मे गाड़ देना अच्छा हो, उपज अच्छी होगी; ऐसे पशुओं के चर्म से, तथा स्वतः-मृत ग्राम्य-पशुओं के चर्म से, जूते, तथा अन्य बहुतेरी गृहस्थोपयोगी, और कल् कारखाने के, तथा सेना के, काम की, वस्तु बन सकती हैं।

(३) संस्कार, उपनयन, और विवाह।

संस्कारों से 'ब्राह्मी इयं क्रियते तनुः' (मनु.)। अस्थि, मांस, रुधिर, चर्म से बना, नितान्त अपवित्र शरीर, संस्कारों से शुद्ध किया जाता है, विविध उत्तम ज्ञान, और सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञान, के योग्य बनता है; 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रं इह विद्यते' (गीता)। अतः उपनयन संस्कार ही, सब संस्कारों में से, आवश्यक है। विवाह संस्कार आवश्यक नहीं; मनु ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की प्रशंसा की है। स्मृतियों और पुराणो मे नैष्ठिक कुमार ब्रह्मचारियों और कुमारी ब्रह्मचारिणियों की चर्चा है। और जनसंख्या की अति वृद्धि की दृष्टि से तो यह युग चाहता है कि कुछ युवा युवती, अविवाहित रह कर, जनता की, विविध प्रकार की, सुविचारित सेवा मे लगे रहैं। पर नैष्ठिकता कठिन है। तो प्रत्येक युवा युवती को, शपथ लेकर तीन, वा पांच, वा सात वर्ष, अपनी योग्यता के अनुसार सार्वजनिक कार्यों मे लगना चाहिये। विशेष कर ऐसे कार्यों मे जिन से भारतीय संस्कृति के किसी न किसी अंग का नवीकरण हो। कभी-कभी दैनिकों मे छपता है कि अमुक ग्राम के मनुष्यों ने मिलकर, बिना शुल्क के, इतनी मील की सड़क बना ली, वा नहर, नाली, तालाब खोद लिया, वा गाँव की गन्दगी दूर कर के उसे स्वच्छ कर दिया। ऐसे सब कार्य बहुत प्रशंसनीय हैं। और अधिकाधिक होने चाहियें। इस संबंध मे, अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक विलियम जेम्स ने 'मौरल् एक्विवॉलेंट आफ़ वार' पर जो लिखा है वह बहुत मंतव्य है। युवा युवती स्वयंसेवकों को ऐसा परार्थ कार्य, दिन में दो तीन घंटे ही करना चाहिये, शेष समय में जीविकासाधनी शिक्षा

का ग्रहण करें। विशेष उपद्रवों के समयों मे ये पुलीस और स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारियों की भी बहुत सहायता कर सकते हैं।

(४) अंत्येष्टि संस्कार।

उपनयन के पश्चात् शिक्षा, तथा विवाह और स्त्रीधन, के विषय मे पहिले कह आये हैं। एक और संस्कार, अंत्येष्टि, की ओर ध्यान देना चाहिये। काशी के महास्मशान को दुर्दशा देखकर बड़ा त्रास और दुःख होता है। कुत्ते, गधे, तथा अन्य पशु फिरते रहते हैं, उन का मल मूत्र फैला रहता है। तथा मनुष्यों का भी। अधजली अस्थियाँ भी बिखरी रहती हैं। धोबी कपड़े धोते रहते हैं। डोम एक ओर कोलाहल करते हैं, भिक्षुक दूसरी ओर। और अब तो लकड़ी कपड़े की कमी के कारण, तथा महामारियों के दिन मे स्थान न मिलने के कारण, सबेरे से शाम तक शव पड़े रहते हैं। इतिहास-पुराण ने, महाराजा हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र की कथा मे, काशी के स्मशान का वर्णन तो और भी भयंकर घृणाकारी बीभत्स है। शवों को कुत्ते, शृगाल, वृक, गृध्र, चील, कौवे नोच नोच कर खाते थे। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय स्मशान से बस्ती दूर थी। अब तो उस के चारों ओर घर भरे हैं। नहीं जान पड़ता है कि प्राचीनो ने अंत्येष्टि कर्म की ऐसी दुर्दशा क्यों की, और मृत्यु को और प्रेत लोक को ऐसा भयावना, क्यों बना दिया। हाँ, पापियों को डराना उचित है, पर सब को क्यों? एक फ़ारसी कवि ने बहुत अच्छा कहा है,

> याद् दारी कि वक़्ति ज़ादनि तो,
> हमा ख़ंदाँ बुदन्दो तू गिरियाँ;
> चूँ ज़ी कि वक़्ति मुर्दनि तो,
> हमा गिरियाँ बुवन्दो तू ख़ंदाँ।

जब तुम्हारा जन्म हुआ तब सब कुटुम्बी हँसते थे, और तुम रोते थे, कि किस मुसीबतों की दुनियाँ मे आ पड़े। तो अब अपनी जिन्दगी

को ऐसी ख़ूबी से निबाहो कि जब तुम यहाँ से जाने लगो तो सब रोवें और तुम हँसो, कि आज़ाद हुए।

हिन्दुओं के उक्त अप्रिय आचार को बदलना चाहिये। ऋषियों की बात हम कैसे बदलें, इस धोखे में मत रहिये। 'पुराणं इत्येव न साधु सर्वं', जो परमात्मा उन ऋषियों में था, वही आप में है। किस से भूल नहीं होती ? स्वयं व्यास जी ने कहा है 'सर्वः सर्वं न जानाति, सर्वज्ञो नऽस्ति कश्चन'; कोई भी सर्वज्ञ नहीं। प्रत्यक्ष है कि भौतिक विज्ञान में पाश्चात्य लोग प्राचीन ऋषियों और सिद्धों से बहुत आगे बढ़ गये हैं। भूल को सुधारना चाहिये। मनु की आज्ञा पहिले कह आये, अच्छे ज्ञान, अच्छे धर्म, जहाँ मिलैं वहां से लेना उचित है। पश्चिम मे, यद्यपि ईसाई और यहूदी धर्मों मे शव का निखनन ही दो सहस्र वर्षों से चला आता है, पर अब, वैज्ञानिक दृष्टि से इसके बहुत से दोष देख कर, 'क्रेमाटोरियम' बनाना आरम्भ किया है, जहाँ विद्युत् की अति पवित्र दैवी अग्नि से शव का दाह होता है। सामाजिक दृष्टि से भी, जब जीने वालों को बसने का स्थान नहीं मिल रहा है, तो मुर्दों पर भूमि का अपव्यय क्यों ? अब पश्चिम मे लाखों मनुष्य अपने 'विल', इच्छापत्र, वसीयतनामे, मे, लिख देते हैं कि हमारा मृत शरीर 'क्रेमाटोरियम्' मे जाय। तदनुसार, लाखों शवों का ऐसा ही संस्कार हो रहा है। भारत में इन स्थानों को सुन्दर बृहत्शाला का रूप देना चाहिये, 'धर्मराज-यमराज-मंदिर' इनका नाम हो। जो काम साधारण अग्नि से घंटों में नहीं होता, वह इन मे मिनटों में हो जायगा। बची भस्म का, पास की नदी या अन्य जलाशय में, अपनी श्रद्धा के अनुसार बंधु बांधव प्रवाह कर दें। 'क्रेमाटोरियम्' के पास एक अन्य बड़ी शाला भी होनी चाहिये, जहाँ बंधु-बांधव, छाया में बैठ सकैं। एक बार कहीं यह धर्मराज मंदिर बन जाय, और कुछ लोग अग्रसर हो कर रास्ता दिखावें, तो उनके पीछे बहुत लोग आवैंगे। 'गतानुगतिको लोकः'; जब काशी मे, पच्छत्तर वर्ष पहिले (सन् १८८८ मे) वाटर-वर्क्स बने और पाइप का पानी

चला, तब एक छोटा सा बल्वा हो गया। अब पवित्रतमंमन्य सज्जन भी नित्य अधिकाधिक 'टॉप', पानी देनेवाली टोंटी, अपने घरों में लगवाना चाहते हैं। आश्चर्य नहीं, कुछ काल में मुसलमान लोग भी "क्रेमाटोरियम्" के प्रकार को पसन्द करने लगें। बंबई से एक सज्जन गत २९ जनवरी को मेरे पास आये, उन्हो ने बताया कि उस नगर मे एक बड़ा 'क्रेमाटोरियम्' समुद्र के किनारे बन गया है और उस का उपयोग नित्य अधिकाधिक होता जाता है। ऐसे धर्मराज-मंदिर सभी नगरों मे बनने चाहियें; और बड़े नगरों मे जहाँ दस से साठ लाख तक की आबादी हो गयी है, कई-कई चाहियें। बहु-कोटिपति, बहु-व्यापारी, बहु-दानी टाटा कुटुम्ब ने, कई वर्ष हुए, बम्बई में, एक बनवा देना चाहा, परन्तु, पारसी ब्राह्मणो ने, जिन को दस्तूर कहते हैं, ऐसा कोलाहल मचाया कि वे यह उत्तम कार्य न कर सके। सब धर्मो के धर्मध्वजों की यही कथा है। पारसी शवों की जो महा बीभत्स भीषण दुर्दशा होती है वह सब लोग जानते ही हैं। ऊँची भित्तियों से घिरे एक खुले स्थान मे शव रख दिये जाते हैं; और उनको गृध्र, चील, कौवे नोच-नोच कर खाते हैं; और मांस के खण्डों को घेरे के बाहर भी सड़कों पर गिराते हैं; जहाँ कुत्ते उन के लिये लड़ते हैं; और राह चलने वालों को क्षोभ होता है। स्मृतियों में कहा है, 'तिस्रो गतयः, भस्मांता वा, रसान्ता वा, विडन्ता वा, 'तिस्रः' के स्थान पर 'चतस्रः' पढ़ें तो भी ठीक है; शरीर की चार गति, भस्म बन जाना; रसा, पृथ्वी, मे निखनन; रस; पानी, मे प्रवाह; पशु पक्षी खा लें, और विष्ठा बन जाना। पहिली गति उत्तम, अंतिम निकृष्ट। पहिली मे भी वैद्युताग्नि से संस्कार सर्वोत्तम; मै बहुत चाहता हूँ कि काशी मे एक बनै और मेरे शरीर का अंतिम संस्कार उसमे हो।

विधान सभा।

(५) धर्म-परिषदों, विधान सभाओं, मे अच्छे विद्वान् अनुभवी,

निःस्वार्थ, स्त्री पुरुष जब तक नहीं पहुँच जायँगे तब तक देश का कल्याण नहीं। अच्छे सुविचारित प्रज्ञान से पूत विधि विधान ही प्रजा का भला कर सकते हैं। और ऐसे विधान तभी बनेंगे जब उक्त गुणों को रखने वाले प्रतिनिधि, प्रजा के, उन सभाओं के सदस्य बनाये जायँगे। वर्तमान दशा को सभी लोग जानते हैं। म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों मे, तथा प्रदेशीय और केंद्रीय, सभाओ मे, ऐसे ही लोग जाते हैं जिन मे उक्त गुणों के विरोधी दुर्गुण भरे हैं। अपने क्षुद्र स्वार्थ-साधन के लिये ये लोग मतदाताओं की चाटुकारी, खुशामद, करके, उन को झूठी आशायें दिला के, रुपये भी दे के, अपना चुनाव करा लेते हैं; फिर बिविध प्रकारों से अपना स्वार्थ साधते हैं और प्रजा की बड़ी हानि करते हैं।

दिल्ली के विधान भवन की छत पर लिखा है,

न सा सभा यत्र न संति वृद्धाः, वृद्धा न ते ये न वदंति धर्मं,
धर्मो नऽसौ यत्र न सत्यमस्ति, सत्यं न तद् यत् छलं अभ्युपैति।
(म. भा.)

वह सभा नहीं जिस मे वृद्ध नहीं, वे वृद्ध नहीं जो सद्धर्म नहीं बताते, वह धर्म नहीं जो सत्य पर प्रतिष्ठित नहीं, वह सत्य नहीं जिस मे छल कपट मिला हो। सादी ने भी 'पंदनामा' मे लिखा है,

पंद अगर बिश्नवी, ऐ पादशाह !
दर हमा दफ़्तर बेह् अज़ ईं पंद नीस्त।
जुज़ ब ख़िरदमंद म फ़र्मा अमल,
गर्चि अमल कारे ख़िरदमंद नीस्त।

अमल, शासन कार्य, ख़िरदमंद' के सिवा दूसरे को हर्गिज़ न सुपुर्द करो, गो कि शासन करना ख़िरद्मंद का कार्य नहीं है। नेक और वद का तमीज़ करने वाली अक़्ल को 'ख़िरद' कहते हैं। पंडित शब्द का ठीक यही अर्थ है 'सद्-असद्-विवेकिनी बुद्धिः पंडा, सा यस्य सः पंडितः', सत् और असत् का जो विवेक करै वह बुद्धि पंडा, वह जिस के पास हो

वह पंडित। पर आजकाल के बहुतेरे पंडितों की वह दशा है जिस को तुलसीदास जी लिख गये हैं, 'सोइ पंडित जो गाल बजावा'।

क्षमापन।

मैंने बीच-बीच मे, कुछ लोगों के लिये क्रूर शब्द कहे हैं; उनके लिये मै सब सज्जनो से हार्दिक क्षमा मागता हूँ। विशेष कर इस लिये कि स्वयं मुझ मे गुण बहुत कम और दोष बहुत अधिक हैं। पर डाक्टर मे निजी दोष कितने भी हों, किन्तु शल्य कर्म मे निपुण हो, तो उस से क्रूर शल्य कर्म करा ही लिया जाता है। सो मेरी निपुणता तो केवल प्राचीन आर्ष आदेशों का, नये शब्दों मे, आप के सामने रख देना है। इस के सिवा मुझ मे कोई निजी प्रवीणता नहीं। सादी ने भी कहा है, 'जर्राहि रग्-ज़न कि मर्हम् निहृअस्त', जर्राह नस् को चीरता है तो उस पर मरहम भी लगा देता है।

पुराना श्लोक महाभारत का एक और आप को सुना दूँ। जिसमे भारतीय जनता को उपदेश दिया है,

दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं, परं इच्छथ माऽपरं,
धर्मं चरत माऽधर्मं, सत्यं वदत मा ऽनृतं।

दीर्घदर्शी दूरदर्शी हो; इस कर्म का दीर्घकाल मे दूर जा कर क्या फल होगा, इस को बिचारो; तत्काल इस से मुझे क्या लाभ होगा, इतने ही को मत देखो। बड़ी वस्तु की, सब से बड़ी वस्तु परमात्मज्ञान की, इच्छा करो, क्षुद्र वस्तुओं की नहीं। धर्म करो, अधर्म नहीं। सत्य बोलो, झूठ नहीं। ऐसे दूरदर्शी धार्मिक सज्जनो को निर्वाचित सभाओं मे भेजिये।

प्राज्ञो के विधान-सभाओं मे न जाने के कारण।

यदि ऐसे पंडित ख़िरदमंद आदमी विधान-सभाओं मे कम जा पाते हैं तो उस के कारण दो हैं।

(१) एक यह कि भारत संविधान (कॉन्स्टिट्यूशन अफ़ाँ

इन्डिया) के धारा ३२६ (अनुच्छेद) मे, २१ वर्ष या अधिक, सभी स्त्री-पुरुषों को मतदान का अधिकार दे दिया है। अधिकांश इन मे अशिक्षित हैं, और मतऽआकांक्षियों, उम्मेदवारों, से अपरिचित होते हैं, उन के गुण-दोष को कुछ नहीं जानते। न यही जानते हैं कि कैसे विधि-विधान से हमारा भला होगा, कैसे से बुरा। झूठी आशायें जो बढ़-बढ़ के दिलाता है, जो अधिक झूठ बोलता है, उस की बातों में आ जाते हैं और उसी को वोट दे देते हैं। (२) दूसरा कारण यह है कि उक्त सात्त्विक गुणो के आदमी खुशामद चाटुकारी कर नहीं सकते, न झूठी आशा दिला सकते, न रुपया देकर वोट मोल ले सकते, तथा वर्तमान दशा मे इन राजनीतिक झंझटों और उपद्रवों से अलग रहना चाहते हैं। इस लिये मतदाता उन को जानते भी नहीं। पर आपत्ति यह है कि यदि अच्छे सज्जन सभाओं मे न जायँगे तो दुर्जन जायँगे और प्रजाघातक विधान बनावेंगे।

इस लिये जैसे हो तैसे, सज्जनो को पहिचानिये, मनाइये, धर-पकड़ के विधान-सभाओं मे भेजिये। मै ने इसका उपाय 'स्वराज्य की रूप-रेखा' ('आउट लाइन स्कीम आफ़ स्वराज') मे दिखाने का यत्न किया है, जिसे देशबन्धु चित्तरंजन दास ने और मै ने मिल कर सन् १९२३ की जनवरी मे लिखा। पीछे, छपा कर, महात्मा गान्धी जी और अन्य सब प्रमुख नेताओं के पास भेजा। पर किसी ने आज तक उस पर ध्यान नहीं दिया। अब इधर ता. ३० दिसम्बर १९५१ के 'लीडर' मे मैने पढ़ा कि श्री जवाहरलाल नेहरू जी ने, विशाखपत्तन के स्टेशन पर, प्रेस वालों से कहा कि, अब मै भी ऐसा समझता हूँ कि २१ वर्ष के सब आदमियों को मतदान का अधिकार देना ठीक नहीं है; नीचे की सभाओं के लिये ऐसा होना चाहिये, क्योंकि उन मे मतदाता अपने परिचित आदमियों को भेज सकेंगे; पर ऊँची सभाओं के लिये नीचे की सभाओं को अपने परिचित आदमी चुनना चाहिये। यही बात जो नेहरू जी ने अब कही है, देशबन्धु चित्तरंजन दास ने और मैने, तीस

वर्ष पहिले, उक्त रूप-रेखा मे लिखी, और यह सूचित किया कि, कितने-कितने आदमियों के, कैसे-कैसे, नगरों और ग्रामो मे निर्वाचन क्षेत्र होने चाहियें; पंचायत के ऊपर पंचायत, जिला के, प्रदेश वा राज्य के, तथा समग्र भारत के लिये, कितने सज्जनों की कैसी बननी चाहिये; उन पंचायतों के क्या कर्तव्य और अधिकार हों; इत्यादि। उक्त रूप-रेखा अब, सन् १९५० मे, 'सायंस ऑफ़ सोशल् ऑर्गॅनिजेशन' की तीसरी जिल्द के अंत में छाप दी गयी है। थोड़े दिनो से, उत्तर प्रदेश मे जो ग्राम-पंचायतै बनी हैं, उन की दुर्दशा भी सब को विदित है, तथा उस का कारण भी, अर्थात् पंच सदाचारी निस्स्वार्थ नहीं। प्रतिपद सद्भाव वाले मनुष्यों की आवश्यकता सामने आती है।

उपसंहार।

भारतीय संस्कृति का यह नवीकरण बहुत कठिन है, कैसे होगा, इस विचार मे पड़कर शिथिल मत हो जाइये। कृष्ण ने अर्जुन से कहा, 'क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ परंतप!', हृदय की दुर्बलता को दूर करो, भारतोद्धार के युद्ध मे कमर कस के जुट जाओ। एक बुद्ध ने, पाँच शिष्यों से आरम्भ करके आज साठ करोर मनुष्यों को अपने धर्म का न्यूनाधिक विश्वासी अनुयायी बना दिया; ऐसे ही ईसा ने; ऐसे ही मुहम्मद ने; हम लोगों के देखते-देखते, महात्मा गाँधी ने भारत को, स्वराज तक पचीस वर्ष मे पहुँचा दिया। त्रुटियाँ उस मे बहुत रह गयी हैं; कारण अभी कहा; उन को दूर करना आप का कर्तव्य है। 'मनोरथानां अगतिः न विद्यते', 'ह्वेयर देयर इज़् ए विल, देयर इज़् ए वे', 'ह्वाट् सो एवर दाउ लवेस्ट्, दॉट् बिकम् दाउ मस्ट, गॉड् इफ़् दाउ लव् गॉड, डस्ट इफ़् दाउ लव् डस्ट', 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः सः एव सः' 'तू जुज़्वी, व हक़ कुल अस्त्, गर् रोज़े चन्द अन्देश-इ-कुल् कुनी, कुल बाशी', इन सब वाक्यों का आशय यही है कि जिस वस्तु की हृदय से दृढ़ इच्छा करोगे उसे अवश्य पाओगे। यदि एक सौ संशप्तक,

शपथ किये आदमी, पहिले कहे प्रकारों के, इस भारतोद्धार के कार्य मे लग जाँय, और एक नगर मे कुछ सुधार हो जाय, तो देखादेखी अन्य स्थानो मे भी वैसा कार्य आरम्भ हो जायगा। एक सौ के दो सौ, दो सौ के चार, चार के आठ, आठ के सोलह सौ संशप्तक बनेंगे, दिन दूना रात चौगुना यह कार्य फैलेगा। इस लिये अन्त मे वेद और व्यास के वाक्यों से यह व्याख्यान समाप्त करता हूँ।

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत।
उत्थातव्यं, जागृतव्यं, योक्तव्यं भूतिकर्मसु,
भविष्यति इत्येव मनः कृत्वा सततं अव्यथैः।

जागिये, उठिये, वृद्धों के, ऋषियों के, आदेश के अनुसार, हितकारी, विभूतिकारी, समृद्धिकारी कार्यों मे, अथक हो कर लग जाइये, मन में दृढ़ विश्वास कर के कि कार्य सिद्ध होगा ही, भारतीय संस्कृति का उद्धार होगा ही।

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु;
सर्वः सद्बुद्धि आप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु। ॐ

ॐ सब लोग जीवन के कठिन स्थलों को पार कर लें, सब भले दिन देखैं, सबको अच्छी बुद्धि मिलै, सब सुखी हों। ॐ

भगवद्गीता

का

आशय और उद्देश्य

क्षमापन

महाभारत नाम के अद्भुत ग्रंथ के जिन शूरवीर महापुरुषों को, आज पाँच सहस्र वर्षों से, 'हिंदू' कहलाने वाली जनता बहुत आदर, बहुत सम्मान, बहुत पूजनीयता की दृष्टि से देख रही है, उन महापुरुषों के चरित्र मे बड़े दोष दिखाने पर उद्यत हूँ; इस अतिधृष्टता के लिये, उन महापुरुषों से, तथा उनके पूजकों से, जिन पूजकों मे मै भी हूँ, किंतु अपवाद सहित, क्षमा मागकर, अपना कर्त्तव्य करता हूँ। जनता मेरे समग्र लेख को, ध्यान से, पढ़ कर के, स्वयं निर्णय करै कि मैं ने, दोषारोपण तथ्य किया है वा मिथ्या।

तो ऐसा काम ही क्यों करते हो जिसके लिये क्षमा मागना पड़े ? तो इसलिये कि, 'हिंदूदास' को पंडितम्मन्यों ने, धर्माधिकारियों, धर्मध्वजों ने, ऐसा मूर्ख, अंधश्रद्धा और मूढ़ग्राही बना दिया है कि वह गुण-दोष का विवेचन करना सर्वथा भूल गया है, यद्यपि विद्वान् का लक्षण है 'गुण-दोष-ज्ञ:'। उस विवेचन शक्ति को जगाने के लिये, अंधश्रद्धा और मूढ़ग्राहों को हटाने के लिये, प्राचीनों के दोषों का उद्घाटन कर रहा हूँ।

दो शब्द

सन् १९४८ में डाक्टर बाबा कर्तार सिंह ने अपने स्वर्गीय पिता कर्नल बाबा जीवन सिंह की पुण्य-स्मृति में श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्री गुरु ग्रन्थ साहिब पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में व्याख्यान का आयोजन करने के लिये ५०००) रु० का एक कोष स्थापित किया था। 'एन्डाउमेंट' की शर्तों के अनुसार प्रति दो वर्ष में एक बार व्याख्यान की व्यवस्था की जाती है। किसी विशिष्ट विद्वान् को इस कार्य के लिये आमंत्रित किया जाता है और मूलधन के व्याज से व्याख्यानों के प्रकाशन की व्यवस्था की जाती है।

इस वर्ष समिति ने श्रद्धेय डाक्टर भगवान्दासजी से श्रीमद्भगवद्-गीता पर कम से कम दो व्याख्यान देने की प्रार्थना की। विश्वविद्यालय उनका कृतज्ञ है कि उन्होंने समिति की प्रार्थना को स्वीकार किया और २०, २१, तथा २२ जनवरी को गीता पर अपने लिखित भाषण दिये। यह भाषण पुस्तक-रूप में 'कर्नल बाबा जीवन सिंह मेमोरियल एन्डाउमेंट', की ओर से प्रकाशित किये जाते हैं। आशा है सुविज्ञ पाठक इस से लाभ उठावेंगे।

नरेन्द्रदेव,

वाइस-चांसलर

सूचीपत्र

४८—'योग' की कई परिभाषा।

४९—चंचल मन का निग्रह कैसे हो ? अभ्यास और वैराग्य से।

५०—अनाहतनाद का अभ्यास; वह प्रणव की ध्वनि ही है।

५१—प्रणव के संयोजक अक्षरों का सर्वोत्कृष्ट अर्थ।

५२—गीता उपनिषत् आदि मे यह महा-वाक्य।

५३—इस महावाक्य से जगत् का सृष्टि-स्थिति-संहार कैसे सिद्ध होता है ? उत्तर।

५४—यह समझ कर बुद्धिमान्, कृत-कृत्य, स्थित-प्रज्ञ हो जाओ।

५५—जगत् का क्रमिक विकास-संकोच, और चौरासी लाख योनियों मे जीवों का आवागमन।

५६—पुनर्जन्म मे विश्वास, मानवमात्र मे सदा व्याप्त रहा और है।

५७—पुनर्जन्म का आध्यात्मिक प्रमाण।

५८—मानव जीव का आरोह ही होता है वा अवारोह भी ?

५९—शरीर त्याग के पश्चात् जीव दृढ़ सूक्ष्मशरीर धारण करता है, यातनार्थीय।

६०—अंतरात्मा ही सच्चा यमराज है।

६१—प्रेत-पितृलोकादि का अपने दैनंदिन अनुभवों से प्रमाण। प्रत्यक्ष और उपमान, दो ही प्रमाण।

६२—यह कैसे निश्चय हो कि पुण्य का फल सुख और पाप का दुःख ? उत्तर।

६३—अनासक्ति और भक्ति का समन्वय। संक्षेप से समग्र ज्ञान-विज्ञान का वर्णन।

६४—आत्मा की विभूतियों का पुनः वर्णन।

६५—अल्प बुद्धियों से कहना उचित नहीं कि परमात्मा से ही धर्म भी अधर्म भी उत्पन्न होते हैं; न कहने का कारण।

६६—विश्वरूप-दर्शन।

६७—यह विश्वरूप मनुष्यमात्र को प्रतिक्षण दिख रहा है।

६८—कौन मुझे पाते हैं ? उत्तर।

६९—सर्व-भूत-हित कार्य करना भी आवश्यक।

७०—तीन एषणाएँ और उनके रूप।

७१—कृष्ण को, बहुत साधारण वस्तुओं को ही, अपने भक्तों से पाने का लोभ।

७२—नरक के तीन द्वार; उन मे भी लोभ सब से बड़ा।

७३—काम-क्रोध-लोभ आदि से उत्पन्न दुर्व्यसनों के घोर दुष्फलों के उदाहरण।

७४—युधिष्ठिर की अत्यंत निर्लज्ज द्यूत-व्यसनिता तथा महाभारत के अन्य महापुरुष भीष्म, द्रोण आदि के घोर चरित्र-दोष।

७५—षड्रिपुओं की अतिवृद्धि से घोर प्रजाविनाशन।

७६—कामीय विषयों के उपभोग से काम-वासना कभी शांत नहीं होती, प्रत्युत बढ़ती ही है।

७७—स्व-धर्म क्या है ? चतुर्विध मनुष्य; प्रत्येक का स्व-धर्म, अधिकार-कर्तव्यात्मक।

७८—पुरुष-सूक्त मे आये, 'अत्य (ध्य)तिष्ठद्दशांगुलं' का सत्य अर्थ।

७९—दैव और पुरुषकार के विरोध का संकेत। उदाहरण, वसिष्ठ और विश्वामित्र का, तथा जमदग्नि-परशुराम और सहस्रार्जुन का युद्ध। कामधेनु गौः का रहस्यार्थ।

८०—इस दैवी, गुणमयी, ज्ञानियों को भी भ्रम मे डाल देने वाली माया को कैसे जीते ? जीतने का उपाय। दैव-पुरुषकार के विरोध का शमन।

८१—अर्चिर्मार्ग और धूम-मार्ग का रहस्यार्थ।

८२—गीता मे कहे 'शास्त्र' शब्द का तात्विक अर्थ।

८३—कृष्ण के बहुत बार कहे 'अहं' शब्द का मार्मिक अर्थ।

८४—ऋषि के शाप से यमराज का विदुर शूद्र के जन्म मे अवतार; पृथ्वी पर मानव जन-संख्या की अति-वृद्धि, तज्जनित घोर-संघर्ष और महाभारतादि युद्ध आदि का तात्विक अर्थ।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं,
व्यासेन ग्रथितां पुराण-मुनिना मध्ये-महाभारतं,
अद्वैतऽमृतवर्षिणीं भगवतीं अष्टादशऽध्यायिनीं,
अम्ब! त्वां अनुसंदधामि, भगवद्गीते! चतुःसाधनीं,

१. गीतादेवी से मेरे परिचय का आरंभ—प्रायः अस्सी वर्ष हुए गीतादेवी से मेरी जान-पहचान आरंभ हुई। आयु के तीसरे वर्ष मे मेरा

अक्षरारंभ पिता जी ने कराया, पाँचवें-छठवें वर्ष में हिन्दी अच्छी, रीति से पढ़ने लगा; मेरी विधवा दादी मुझ से बहुत स्नेह करती थीं, मेरे बड़े भाई और चचेरे भाई से उतना नहीं; कारण यह कि वे नटखट थे और मैं भोला-भाला; बड़ी धर्मिष्ठ थीं; कृष्ण मर्मर की डेढ़ हाथ ऊँची कृष्ण-मूर्ति के सामने बैठ कर, प्रातः दो घंटा सवेरे पूजा पाठ करती थीं; पूजा समाप्त होने पर गीता का एक अध्याय, मूल श्लोक भी और हिंदी अनुवाद भी, उनको सुना देता था, समझता कुछ नहीं था, किन्तु पढ़ देता था सुस्पष्ट; दादी जी अच्छी तरह समझती थीं, स्वयं भी संस्कृत श्लोक और हिंदी अच्छी तरह पढ़ लेती थीं, पर वार्धक्य के कारण आखें दुर्बल हो रही थीं, अतः मुझ से पढ़वाती थीं। इस रीति से गीता पचासों बार पढ़ गया, पर उलटे घड़े पर पानी, अर्थ भीतर कुछ नहीं गया। दादी जी का देहावसान जल्दी ही, ६० वें वर्ष मे हुआ, मेरा बारहवाँ था; एन्ट्रेंस् मे पढ़ता था; मुझे भारी दुःख हुआ, तभी से सोचने लगा, 'जीना मरना क्या है, क्यों मनुष्य मरते हैं, क्यों सुख-दुःख पाते हैं' इत्यादि। अब गीता के अर्थ की ओर ध्यान गया; किंतु सातवें वर्ष मे क्वीन्स कौलेजियेट् स्कूल मे भरती हो गया था, फिर कौलेज मे गया। स्कूल कौलेज की पढ़ाई, और पाठ्य ग्रंथ बहुत, इस से गीता का अध्ययन न हो सका। बी० ए० के लिये मै ने 'साइकौलोजी' 'फ़िलौसोफ़ी' तथा संस्कृत लिया था; सन् १८८४ मे बी० ए०, 'फ़िलौसोफ़ी' मे 'औनर्स' के साथ और एम० ए० १८८७ मे उत्तीर्ण हुआ। इन तीन वर्षों मे मै ने 'सर्वशास्त्र-मयी गीता' (म. भा., भीष्मपर्व, अ. ४३, श्लोक २) पर भी बल लगाया और दर्शनों के आर्ष सूत्रों भाष्यों को पढ़ने का यत्न किया, प्रायः स्वयं ही; विशेषज्ञ विद्वानो से पढ़ने का अवसर कम मिला, क्योंकि पिता जी की इच्छा हुई कि सर्कारी नौकरी मे जाऊँ, इस लिये उर्दू फ़ारसी भी सीखना पड़ा; फिर नौकरी मे पड़ गया। १८९७ में उन के देहावसान के बाद नौकरी छोड़ा, सेंट्रल हिंदू कौलेज के काम में लग गया, डाक्टर ऐनी बिसेन्ट के साथ। छात्रों की शिक्षा के लिये, सनातन आर्य मानव

धर्म के तात्विक सत्य रूप के निरूपण के हेतु, गीता तथा अन्य मुख्य धर्मग्रंथों का विशेष अध्ययन करना पड़ा। सन् १८०३—४ मे श्रीमती बिसेंट की इच्छा हुई कि गीता को, मूल संस्कृत मे, पढ़ूँ और स्वयं अनुवाद अंग्रेज़ी मे करूँ। उन के लिये मै ने प्रत्येक श्लोक के एक-एक समस्त पद का समास-विश्लेषण कर के अंग्रेज़ी तुल्यार्थ शब्द रक्खे; उस के सहारे उन्होंने अनुवाद किया।

२. गीता के मुख्य भाष्य और टीका—इस कार्य के लिये मै ने बहुत ध्यान से गीता के शांकर भाष्य, मधुसूदन सरस्वती की टीका, और श्रीधर स्वामी की टीका पढ़ी। यों तो बीसियों भाष्य और टीका, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि की बनी और छपी भी हैं, पर ये तीन ही अधिक प्रसिद्ध और व्यवहार मे हैं। रामानुजादि के अनुयायी अपने-अपने सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों के ग्रंथों का अधिक परिशीलन करते हैं। अन्य सब से सरल, मूल शब्दों का सीधा-सीधा अर्थ बताने वाली, श्रीधरी है। मधुसूदनी का यह विशेष है; कि योग सूत्रों और भाष्य के शब्दों से गीता के वाक्यों का सामानाधिकरण्य, यथासम्भव, दिखाती है; एवं उपनिषदों के वाक्यों से भी।

शांकर भाष्य मे पांडित्य तो बहुत है, कठिन वाक्यों को, जिन का अर्थ स्वतः स्पष्ट नहीं है, स्पष्ट करने के लिये अच्छी-अच्छी युक्तियाँ लगायी हैं; पर बड़ा दोष यह है कि हठात् सिद्ध करना चाहता है कि गीता कर्म-मार्ग का सर्वथा निषेध करती है, केवल ज्ञान-मार्ग से, केवल मोक्ष ही साधने का उपदेश देती है, यद्यपि सुस्पष्ट है कि समग्र गीता का एकमात्र आशय अर्जुन को घोर युद्धकर्म मे लगाना है, 'तस्माद् युध्यस्व, भारत !' 'माम् अनुस्मर, युध्य च'। अर्जुन ने पूछा ही, 'तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि, केशव ?'।

३. गीता 'भवद्वेषिणी' नहीं, पुरुषार्थसाधनी है—पाठकों ने देखा होगा कि गीता की स्तुति के श्लोक का प्रसिद्ध पाठ है, 'भगवद्-गीते !, भवद्वेषिणीं', और मै ने उस के स्थान पर 'चतुःसाधनीं' पढ़ा।

ऐसा मै ने इसी हेतु से किया कि मै गीता को केवल 'भवद्वेषिणी' नहीं मानता। भवद्वेषिणी का आशय है सर्वथा एकमात्र मोक्षमार्गदर्शिनी, मै उसे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चतुःपुरुषार्थ-साधनी समझता हूँ।

४. अन्य भाषाओं में अनुवाद—पचासों, क्या सैकड़ों, अनुवाद गीता के, अङ्ग्रेज़ी मे हो चुके हैं, और अब भी नये-नये होते जाते हैं, भारतीयों ने तो आठ-आठ नौ-नौ सौ पृष्ठों के विस्तृत भाष्य अंग्रेजी मे उस पर छपवाये हैं। किंतु सब से मधुर सर एड्विन आर्नौल्ड का 'दि सौङ् सेलेस्ट्यल्' है। यद्यपि अक्षरानुवाद नहीं है तद्यपि आशय के प्रकटन मे कहीं चूक नहीं है। इस के पश्चात् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का 'बीतारहस्य' नामक अनुवाद, बृहद् उपोद्घात के सहित, प्रकाशित हुआ। आज तक जितने भी अनुवाद, संस्कृत, मराठी, हिन्दी, अंग्रेज़ी आदि किसी भी भाषा मे लिखे गये हैं (और पृथ्वी की कोई सभ्य भाषा नहीं है जिस मे इसका अनुवाद न हो) सब से उत्तम है। स्पष्ट हेतु यह है कि शंकरादि को वह वैज्ञानिक सामग्री उपलब्ध नहीं थी जो तिलक जी को थी; और उन्हों ने गीता को भवद्वेषिणी नहीं, प्रत्युत भवस्नेहिनी; कर्मत्यागिनी नहीं, कर्म-कारिणी; सिद्ध किया है।

५. लोकमान्य तिलक जी से गीतादि-विषयक संवाद—प्रसंगवशात्, एक रोचक इतिवृत्त आप को सुना दूँ। सन् १९२० के फ़रवरी मास मे अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन थियोसोफ़िकल सोसायटी के विशाल आवसथ मे हुआ। उस मे सम्मिलित होने के लिये लोकमान्य भी आये; उन के बड़े मित्र, बड़े हास्यरसिक, श्री खापर्डे जी, तथा अन्य मित्र भी आये; मेरे स्थान के पास ही एक उद्यान मे ठहरे। लोकमान्य जी का दर्शन करने गया। दर्शन-विषयक चर्चा चली।

६. सांख्य-कारिका की लुप्त कारिका—प्रसिद्ध है कि सांख्य कारिका में ७० कारिका हैं, किन्तु ६९ ही मिलती थीं; तिलक जी ने लुप्त कारिका को गौड़पाद भाष्य के शब्दों से खोज निकाला। यह

मैं ने 'गीता रहस्य' के हिंदी अनुवाद में पढ़ा था; वह मूल तो मराठी मे लिखा गया, पीछे गुर्जरी, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में भी अनुवाद हुए। ६१ वीं के अनन्तर, ६२ वीं यह है,

कारणं ईश्वरं एके, कालं परे, स्वभावं वा;
प्रजाः कथं निर्गुणतो, व्यक्तं, कालः, स्वभावश्च ।

अब जो कारिका ७० वीं मानी जाती है, उस मे दर्शन की बात कुछ नहीं, केवल गुरु-परम्परा कही है। तिलक जी से मैं ने कहा कि आप ने नष्ट कारिका का उद्धरण किया; प्रसन्न हुए, मुस्कुराये; फिर औगस्ट कामृटे आदि के दार्शनिक विचारों की चर्चा हुई; मैं प्रणाम करके चला आया। तिलक जी ही की राजनीति सच्ची थी, 'रेस्पांसिव् को-औपरेशन्' (अर्थात् प्रत्युत्तररूपी सहयोग, जो तुम्हारे साथ जैसा करै, वैसा ही तुम भी उसके साथ करो) जिसे अन्त मे गांधी जी को भी व्यवहारतः मानना ही पड़ा, चाहे मुख से न माना। प्राचीन महाभारत का श्लोक है जो गीता के आशय का सर्वथा अनुसरण करता है, जिसे तिलक जी ने अपने सार्वजनिक व्याख्यानों मे पुनः पुनः कहा,

शठं प्रति शठं कुर्यात्, सादरं प्रति सादरं ।

अन्य स्थल पर महाभारत में इसी आशय को दूसरे शब्दों मे कहा है,

साध्वाचारः साधुना वर्तितव्यः,
मायाचारो मायया प्रत्युपेयः ।

७. गीता के श्लोकों को शृंखलित करने की आवश्यकता—

श्रीमती बेसेंट की शंकाओं के समाधान के लिये, और स्वयं मेरे मन में उठते प्रश्नो के उत्तरण के लिये मुझे बहुत विचार करना पड़ा। प्रत्येक श्लोक, गीता का एक रत्न है; जीवन मे जो कठिनाइयाँ, दुर्ग, समय-समय पर, आपत्ति-विपत्ति के रूप मे आ पड़ती हैं, उनके तरण के लिये, 'सर्वस्तरतु दुर्गाणि', उन मे धैर्य रखने, हृदय को दृढ़ रखने, ढाढ़स बाँधने मे, गीता के श्लोक सहारा देते हैं; परन्तु सब अलग-अलग मणियों

के से हैं, अत्यन्त बहुमूल्य, किन्तु परस्पर असंबद्ध, 'अशृङ्खलित, जैसे बहुत से हीरे, पन्ने, लाल, नीलम, मोती, पुखराज, गोमेद, आदि एक थैले में रख दिये जायँ, पर बिना सूत्र के; 'मयि सर्वं इदं प्रोतं, सूत्रे मणिगणाः इव', मुझ परमात्मा मे, यह सब, इस अनंत संसार की समस्त वस्तु ओत-प्रोत हैं, जैसे एक सूत्र मे बहुत से मणि, परमात्मा की, 'मै' की, एक चेतना ही इन सब को धरे हैं, वह न हो तो यह सब लुप्त हो जायँ। गीता के श्लोक एक सूत्र से ग्रथित नहीं हैं; ग्रथित हो जायँ तब माला गले मे सदा धारण की जा सके।

८. अर्जुन को समझाने के लिये, कृष्ण का, विभूतिमत्सत्त्वों मे प्रादुर्भाव, और बहुतेरे व्यतीत जन्मों का उद्देश—अर्जुन को समझाना तो यह है कि 'युध्यस्व'; फिर त्रिविध आहार की बात; 'मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं', स्थल-जन्तु-शास्त्र की बात; 'झषाणां मकरश्चऽस्मि', जल-जन्तु-शास्त्र का संकेत, (मकर को अंग्रेजी मे 'शार्क' कहते हैं); 'वैनतेयः च पक्षिणां', विहंगमशास्त्र का उल्लेख; 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि', कामशास्त्र का सार; 'अध्यात्मविद्या विद्यानां', मनोविज्ञान, चित्तविज्ञान, की चर्चा; आसुरी दैवी सम्पत् की बात; 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहं अव्ययं, विवस्वान् मनवे प्राह, मनुः इक्ष्वाकवेऽब्रवीत्', इस परम्परा का उल्लेख; 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चर्जुन!', 'इवोल्युशन्', क्रम-विकास-शास्त्र, की बात; ऐसे-ऐसे बीसियों शास्त्रों का सूचन, 'सर्व-शास्त्रमयी गीता' मे कर दिया है। विचारना चाहिये कि मृगेंद्र, मकर, वैनतेय आदि भयंकर हिंस्र जंतुओं का विशेष आदर है; 'प्रथमहिं बंदौं दुर्जनचरणा', तुलसीदास जी ने दुर्जनो को पहिले और सुजनों को पीछे नमस्कार किया है।

९. तुलसीदास जी को अपने समय मे दुर्दशा, और अब पूजा—प्रसिद्ध है कि उन के समकालीन पंडितों ने तुलसीदास को गालियाँ दीं, मारा पीटा, इस लिये कि इस ने वाल्मीकि रामायण का हिंदी अनुवाद कर के हमारी जीविका मारी; हम लोग, व्यास रूप से,

वाल्मीकि के संस्कृत रामायण का अर्थ, श्रद्धालु भक्तों को, समझाते थे, और उनसे बहुत धन पाते थे। आज उन्हीं पंडितों के वंशज तुलसीदास जी के चित्रों की पूजा करते हैं, उन की रामायण को सिर पर रखते हैं, लाखों रुपयों के व्यय से उन के स्मारक, जन्मस्थान राजापुर, तपस्या-स्थान चित्रकूट, रामायण रचना और निधन के स्थान काशी, मे बनाने का यत्न कर रहे हैं। अस्तु !

१०. चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति, और स्व-धर्म की प्रशंसा—

धर्म्याद् हि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते;
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीं।

धर्म्ययुद्ध से बढ़ कर कोई लाभ क्षत्रिय के लिये नहीं है; यदि मारा जाय तो स्वर्ग, जीत जाय तो पृथ्वी का राज्य। अर्जुन को शंका होना उचित है कि क्षत्रिय आदि वर्णभेद क्यों और कैसा ? धर्म-अधर्म क्या ? कृष्ण को समझाना पड़ा, ';

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः;
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवैः गुणैः।
स्व-धर्मे निधनं श्रेयः, पर धर्मो भयावहः; इत्यादि।

'सर्व-शास्त्र-मयी गीता', 'सर्व-ज्ञान-मयो मनुः', का ही साथी एक श्लोक प्रसिद्ध है,

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः,
या स्वयं पद्मनाभस्य मुख-पद्माद् विनिःसृता ?

किंतु इन श्लोकों की चरितार्थता तो तब हो जब गीता की व्याख्या विस्तीर्ण की जाय, अर्थात् जहाँ-जहाँ किसी शास्त्र का संकेत हो वहाँ-वहाँ उस शास्त्र की सार-सार बातें लिख दी जायँ। पर आज तक ऐसी कोई टीका नहीं बनी; नितांत कठिन है। कम से कम २५-३० शास्त्री, एक-एक शास्त्र के विशेषज्ञ, मिल कर लिखें, जैसे आजकल 'एन्साइक्लोपीडिया' लिखी जाती है, तब ऐसी टीका बन सकती है।

११. अध्यायों और श्लोकों को श्रृंखलाबद्ध करने का उपाय–

ऐसे ही विचारों से मै ने, अंग्रेजी अनुवाद मे, विषय-सूची, 'कंटेंट्स', के स्थान पर 'आर्ग्युमेंट' लिखा है, अर्थात् 'तर्क', 'युक्ति', 'दलील', इस अध्याय का विषय किस हेतु से लिखा गया। इस प्रकार से, एक अध्याय के विषय से दूसरा, दूसरे से तीसरा, उत्पन्न हुआ; एवं अट्ठारहो अध्याय परस्परसंबद्ध शृंखलित हो जाते हैं। यथा,

प्रथमाध्याय का नाम है 'अर्जुन-विषाद-योगः', सब बंधु-बांधवों को, परस्पर मार डालने को, सन्नद्ध देख कर अर्जुन को अत्यंत विषाद, ग्लानि, वैराग्य हुआ। दूसरे अध्याय का नाम है 'सांख्य-योगः'; कृष्ण ने समझाया, अंतरात्मा कभी जन्मता मरता नहीं, शरीर ही जन्मते मरते हैं, अतः व्यर्थ शोक मत करो, अपने क्षात्र-धर्म का, दुष्टों अधर्मियों के निग्रह का, दमन का, पालन करो। तीसरा अध्याय 'कर्म-योगः' है; अर्जुन पूछते हैं, माना, अंतरात्मा अमर है, पर शरीरों की हिंसा करो, यह कैसे धर्म सिद्ध होता है; कृष्ण समझाते हैं, कर्म के फल की ओर दृष्टि मत करो, उस मे आसक्त मत हो, अपना धर्म ही करो; संसार-चक्र का भी संकेत करते हैं, यह चक्र अनादि काल से घूम रहा है, और अनंत काल तक घूमता रहेगा, इस को चलाते रहना ही धर्म है, इसी चक्र के भ्रमण से तत्तत्कालोचित धर्म उप्पन्न होते हैं; इत्यादि। ऐसे ही युक्तियों से अट्ठारहो अध्यायों का अन्योन्य-बंधन किया है।

१२. **गीता के बीज, शक्ति, और कीलक**—इस स्थान पर यह भी कह देना उचित है कि, परम्परा से यह माना गया है कि, 'अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वं, प्रज्ञावादांश्च भाषसे' यह बीज है, जिस से गीतारूपी वृक्ष उत्पन्न हुआ; यदि अर्जुन को अनुचित शोक उत्पन्न न होता तो गीता के गान का प्रयोजन ही न होता। एवं, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मां एकं शरणं व्रज' यह शक्ति है, मुझ परमात्मा मे शरण लो, जानो कि तुम परमात्मा के अंश हो, तभी तुम मे यह महासंग्राम लड़ने और जीतने की शक्ति उत्पन्न होगी, अन्यथा नहीं। तीसरी बात, 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' यह कीलक है, मेढ़ी है, खूटी है, जिसी के चारो ओर गीता के सब उपदेश घूमते हैं।

१३. **पाप से पुण्य उत्पन्न होता है**—ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबल मे कहा है 'औट् औफ़ ईविल् कमेथ् गुड्' इसका साक्षात् उदाहरण गीता है। अर्जुन के अनुचित विषाद को दूर करने के लिये गीता गायी गयी, जिस से पाँच सहस्र वर्षों से समस्त मानव जाति का प्रभूत उपकार हो रहा है। एवं केकयी के दुराचरण से, और रामचंद्र को अयोध्या से निकलवा देने से, आदिकाव्य रामायण लिखा गया, जिस से न जाने कितने सहस्र वर्षों से मनुष्यमात्र को शिक्षा मिल रही है, 'रामवद् आचरितव्यम् , न रावणवत्' । ऐसे ही, मूर्ख क्रोधालु ऋषिपुत्र के शाप से परिक्षित् को अनशन करता पड़ा और उन के अनशन की व्यथा को भुलवा देने के लिये, और उत्तम उपदेश, उन के व्याज से, समग्र मानवलोक को देने के लिये, शुक ने अद्वितीय ग्रंथ भागवत सुनाया; अद्वितीय दो अर्थों मे, एक तो बेजोड़, वैसा उत्तम ग्रंथ संस्कृत मे कोई दूसरा है नहीं, दूसरा यह कि, यद्यपि प्रसिद्धि है कि वह भक्ति,प्रतिपादक है पर, तत्त्वतः उस का मूल आशय अद्वितीय परमात्मा ब्रह्म का प्रतिपादन है, 'वंदति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यत् ज्ञानं अद्वयं, ब्रह्मेति, परमात्मेति, भगवान् इति कथ्यते'—श्रीधरस्वामी ने टीका किया है 'ब्रह्म इति मुक्तानां, परमात्मा इति मुमुक्षूणां; भगवान् इति भक्तानां' ।

वाही कौं पुनि तत्व कहतु हैं सत कौ है जिन जाना,
सब दुजागरो-रहित, शून्य दुविधा सों, अद्वय ज्ञाना,
वही ब्रह्म, वाही परमातम, वाही है भगवाना।

१४. **आध्यात्मिक अर्थ**—पहिले अध्याय मे महारथों अतिरथों की गणना है। किन्हीं सज्जनो ने यह दिखाने का यत्न किया है कि ये सब नाम भी आध्यात्मिक तत्वों के रूपक हैं। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र इस भूर्लोक और मनुष्य शरीर के द्योतक हैं, यहाँ धर्म के अनुसार कर्म करना चाहिये।

स्वर्गस्तु फलभूमिः स्यात् , कर्मभूमिः इयं स्मृता ।

यह पृथ्वी कर्म भूमि है, स्वर्ग फल भूमि है। एवं पंच पांडव पाँच

इन्द्रिय हैं, द्रौपदी बुद्धि है, कृष्ण साक्षात् परमात्मा हैं, साक्षीमात्र हैं, सारथिमात्र हैं, सारथ्यमात्र करते हैं, स्वयं अस्त्र-शस्त्र नहीं चलाते। उपनिषत् मे कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ;
तयोः एकः पिप्पलं स्वादु अत्ति, अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति।

१५. सर्वं द्वन्द्वमयं जगत्—एक ही वृक्ष, मानवशरीर, पर दो पक्षी बैठे हैं, जीवात्मा और परमात्मा; एक उस के स्वादुफल खाता है, सुख-दुःख भोगता है, दुःख भी, क्योंकि सु-स्वादु के साथ दुः-स्वादु भी लगा ही है, 'सर्वं द्वन्द्वमयं जगत्', 'द्वंद्वैः विमुक्ताः सुख-दुःख-संज्ञैः', 'इच्छा-द्वेष-समुत्थेन द्वन्द्व-मोहेन भारत !' 'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः भजंते मां दृढ़-व्रताः'; मनु ने भी कहा है कि सृष्टि के आदि मे ब्रह्मा ने समस्त सृष्टि को सुख-दुःख-मय बनाया, 'द्वन्द्वैः अयोजयत् च इमाः सुख-दुःखादिभिः प्रजाः'। एवं पांडवों का पक्ष, धर्म और पुण्य की सेना है; धृतराष्ट्र अन्धा है, धर्म-अधर्म का, पुण्य-पाप का, विवेक नहीं कर सकता; दुर्योधन का पक्ष, पाप की सेना है, काम-क्रोधादि षड्-रिपुओं का दल है, अन्धे जीव को अपने पक्ष मे खींचे रहती हैं। भीष्म, द्रोण, आदि बहुत विद्वान् होते हुए भी, अपनी मूर्खता से, दुर्योधन को मना करते हुए भी, उसी का साथ देते हैं। विदुर, साक्षात् धर्म का अवतार हो कर धृतराष्ट्र का सौतेला भाई, उस को बहुत समझाता डाँटता हुआ भी, तटस्थ रहता है। इत्यादि।

१६. रहस्यार्थ के अन्य रूपक—भागवत के अंतिम अध्याय मे विष्णु की अष्ट भुजाओं का, चक्र, गदा, खड्ग, पद्म आदि का, 'छंदोमयेन गरुडेन समुह्यमानः' गरुड़ का, आध्यात्मिक अर्थ कहा है; तथा द्वादश आदित्यों का अर्थ बारह महीने के बारह सूर्य हैं, जिन से प्रत्येक मास मे पृथ्वी के मनुष्य वनस्पति आदि पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है; इति प्रभृति। पुराणो मे सैकड़ों रूपक भरे पड़े हैं जिन मे से कुछ का अर्थ,, अपनी अत्यल्प बुद्धि के अनुसार, अटकल से, संदिग्ध अनुमान रूप से दिखाने का यत्न अपने अन्य ग्रन्थों मे मैं ने किया है।

यह सब यत्न ठीक ही है; जो अनपढ़ हैं, उन के मनबहलाव के लिये बहुत अच्छा है; इसी बहाने वे स्थूल अर्थ से सूक्ष्म अर्थ की ओर बढ़ेंगे ।

स्त्री-शूद्र-द्विज-बंधूनां त्रयी न श्रुति-गाचरा,
तेषां कर्मसु मूढ़ानां श्रेयः एवं भवेद् इह;
इति भारतं आख्यानं व्यासेन मुनिना कृतं,
भारतव्यपदेशेन वेदार्थं उपदिष्टवान् ।

जो विद्वान् हैं, पढ़े लिखे हैं उन के लिये ऋषियों के रचे षड्दर्शनो के सूत्रों और भाष्यों मे यह सब आध्यात्मिक अर्थ विस्पष्ट लिख दिये हैं। किंतु भारत में अधिकांश स्त्रियाँ, शूद्र, और द्विजत्व से पतित संस्कार-हीन द्विजबंधु, पढ़े लिखे नहीं होते; उनको विवेक नहीं कि क्या कार्य करना चाहिये, क्या नहीं; अतः उनके श्रेयः, भलाई, उद्धार, के लिये, वेद व्यास जी ने महाभारत नाम का ग्रंथ रचा, और वेद का अर्थ उस मे रख दिया ।

१७. अर्जुन का वैराग्यः—'पितॄन् अथ पितामहान्, आचार्यान्, मातुलान्, भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान्, सखींस्तथा, श्वशुरान्, सुहृदश्चैव', सामने, युद्ध के लिये, मरने मारने को सन्नद्ध देख कर अर्जुन को बड़ा विषाद हुआ, करुणा उमड़ी, मैं तो युद्ध न करूँगा; धन के लोभी ये मुझे मार डालैं सो बहुत अच्छा, मैं इन की हत्या न करूँगा; ये अर्थ-काम हैं; धन के लोभ से अन्ध हो रहे हैं, पाप करने को उद्यत हैं; पर हम लोगों को तो धर्म-अधर्म का भेद विदित है, हम क्यों महापातक करैं ?', ऐसा कह कर, धनुः फेंक कर, अर्जुन रथ की पटरी पर बैठ गये ।

१८. ब्रह्मज्ञान का अधिकारी कौन ?—'विवेक-वैराग्य-वतो बोध एव महोदयः' (योग-वासिष्ठ) । 'नित्यऽनित्य-वस्तु-विवेकः, इहऽमुत्र-फल-भोग-विरागः, शम-दमऽादि-साधन-षट्क-संपत्, मुमुक्षा च' ये चार गुण ब्रह्म-जिज्ञासु मे होना आवश्यक है, ऐसा शंकर ने ब्रह्म-सूत्रों पर रचे अपने शारीरक भाष्य के आरम्भ मे, उपनिषत् के शब्दों को ले कर,

लिखा है ; अर्जुन को आत्मविद्या का उपदेश दे कर घोर युद्ध कर्म मे प्रवृत्त कराना है, अतः अर्जुन को विवेक विराग आदि होना आवश्यक है; जब तक निर्विवेक और सराग है तब तक आत्मज्ञान संभव नहीं । उधर पीठ फेरे रहै तो सूर्य का भी दर्शन नहीं ।

हम खुदा ख़्वाहो व हम् दुनियाइ दूँ,
ईं ख़याल् अस्त ओ महाल् अस्त ओ जुनूँ । (सूफ़ी)
यी कैनौट् सर्व गौड ऐंड मॉम्मन् बोथ् । (बाइब्ल)

ख़ुदा को, गौड को, भी चाहो और दुनिया को, 'मॉम्मन्' धन दौलत को, भी चाहो, यह पागलपन है । हाँ, आत्मा को पहिचान लो, तब फिर सांसारिक पदार्थों को धर्मानुसार उपयोग के लिये, चाहो तो अनुचित नहीं; अथ किं, संसार तो आत्मा का रचा है, स्वयमेव तुम को मिलैगा ।

१९. **वैराग्य के तीन प्रकार—(१) स्मशान-वैराग्य :—**वैराग्य के तीन प्रकार होते हैं, (१) स्मशान-वैराग्य; अति प्रिय बन्धु-बान्धव, युवती स्त्री, युवा पति, पुत्र, पुत्री आदि के निधन से, उस के शव को चिता पर जलते देख, संसार की असारता जान, असीम वैराग्य उत्पन्न होता है, यह सब लोक झूठा है, अनित्य है, नश्वर है, मनुष्य क्या हैं बुल्बुले हैं, एक क्षण मे उत्पन्न हुए और दूसरे ही क्षण मे नष्ट हुए । किंतु श्मशान से लौट कर घर आने पर, महीने दो महीने मे वह वैराग्य कम हो जाता है, क्रमशः सर्वथा मिट जाता है, अपने काम काज व्यापार मे मनुष्य पुनः लग जाता है;

२०. **(२) राजस-तामस; भर्तृहरि के 'नीतिशतकादि' ग्रन्थों की वैराग्य-जनित रचना** (२) दूसरा प्रकार राजस-तामस है, जैसा भर्तृहरि का; भार्या व्यभिचारिणी है, यह जाना, बड़ा क्रोध हुआ, ग्लानि हुई, उज्जयिनी का विशाल राज्य छोटे भाई विक्रमादित्य को देकर चरणाद्रि मे गङ्गा के तट पर, काशी के समीप आ बसे, बहुत वर्षों तक जीवित रहे, 'कलि मे अमर राजा भरथरी', अति प्रसिद्ध तीन शतक,

नीति, शृङ्गार, वैराग्य, लिखे, जो आज तक बहुत आदर से पढ़े पढ़ाये जाते हैं; बहुत अनुभवों के, राजनीति के, भोग विलास के, और इच्छा के व्याघात से जनित वैराग्य के, निष्कर्ष से ये शतक भरे हैं। 'वाक्यपदीयं' नामक सवा लाख श्लोकों का विशाल-काय ग्रन्थ भी लिखा, क्योंकि 'बहुकाल-प्रवाहेण भ्रष्टो व्याकरणागमः'। पंडित मण्डली मे प्रथा है कि यह 'वाक्यपदीयं' पातंजल महाभाष्य की टीका है; किंतु महाभाष्य मे कहा है, 'यवनः साकेतं रुरुधे', तथा 'पुष्यमित्रं याजयिष्यामः', जिस से सिद्ध होता है कि पतंजलि, ईसा पूर्व दूसरी शती मे हुए, और कालिदास ने 'मालविकाऽग्निमित्रं' नामक नाटक लिखा, और अग्निमित्र पुष्यमित्र का पुत्र था, और उज्जयिनी मे उस की ओर से उपराज, राज-प्रतिनिधि, 'वाइस्-राय', था, अतः ५७ ई० पूर्व अर्थात् ईसा-पूर्व पहिली शती मे वह नाटक बना। तो सौ वर्ष ही मे व्याकरणागम भ्रष्ट हो गया, यह समझ मे नहीं आता। सम्भव है, उस समय छापा, रेल, नहीं रहे इससे प्रचार न हो सका हो। यदि पाणिनि से आशय हो तब ठीक है, क्योंकि पाणिनि, बुद्ध देव से प्रायः दो सौ वर्ष पहिले हुए, ऐसा मत, कुछ पुरातत्वान्वेषक विद्वानो का है। भर्तृहरि का वृत्त भी उसी नियम का उदाहरण है कि बुराई से भलाई उत्पन्न होती है।

२१. राम और गौतम बुद्ध का शुद्ध सात्विक वैराग्य— (३) तीसरे प्रकार का वैराग्य शुद्ध सात्त्विक है, जैसा रामचन्द्र का और गौतम बुद्ध का। कथा विख्यात है कि, दशरथ से राम को मागने के लिये, विश्वामित्र आये; ताड़का का, मारीच और सुबाहु का, वध कराना है, यज्ञ में विघ्न करते हैं। शक्ति रखते भी, विश्वामित्र उन्हें स्वयं मार नहीं सकते, क्योंकि क्षत्रियकार्य त्याग दिया है, ब्रह्मर्षि हो गये हैं, 'न्यस्तदंडाः वयं विभो!'। दशरथ ने कहा, 'ले जाइये, पर राम की दशा अति विचित्र हो रही है, न खाते हैं, न पीते हैं, सारे दिन चुप बैठे रहते हैं, पीले हो गये हैं, नितांत कृश दुर्बल हो गये हैं, पूछने से उत्तर नहीं देते, परिचारकों के बहुत कहने समझाने से नित्य कर्म कर लेते

हैं, फिर जैसे के वैसे'। विश्वामित्र ने कहा 'बुलाइये'। राम आये, विश्वामित्र ने पूछा। राम की वाग्धारा बह निकली,

परमेष्ठी अपि निष्ठावान्, ह्रियते हरिः अपि अजः,
भवोऽपि अभावं आयाति, का एव आस्था मादृशे जने!

ब्रह्मा भी मर जाते हैं, विष्णु को भी काल खा लेता है, भव-शिव का भी अभाव हो जाता है, मेरी क्या गिनती है!; चारो ओर दुःख ही दुःख देख कर,

मम न निर्वृतिं एति मनो, मुने!, निगड़ितस्य यथा वनदंतिनः। 'जंगल का हाथी, अभी-अभी पकड़ कर, शृंखला, सांकल से, निगड़ से, बाँध दिया गया, घबराता है, इधर-उधर भागने दौड़ने का यत्न करता है, भाग नहीं पाता, सो दशा मेरे मन की हो रही है'। विश्वामित्र ने कहा 'यह सब तो बहुत शुभ लक्षण हैं, "विवेक-वैराग्यवतो बोधः एव महोदयः", जिस को नश्वर और अनश्वर अविनाशी का विवेक हो गया है, और नश्वर से विरक्त हो गया है, उस को आत्मबोध निश्चयेन हो जायगा; तब वह प्रसन्न चित्त से उस घोर कर्म को अपना क्षात्र स्व-धर्म जान कर, ताड़कादि रावणादि ब्रह्मर्षिपुत्र ब्रह्मराक्षसों का भी और वानरसम्राट् बाली का भी वध करेंगे; सो आप अपने कुलगुरु वसिष्ठ को बुलाइये, वे ही आत्मविद्या का उपदेश इन्हें देंगे; यद्यपि मैं भी दे सकता हूँ तद्यपि वंश-परम्परया, आदि वसिष्ठ के वंशज, वसिष्ठ-नामक, आप के कुलगुरु हैं, उन्हीं से उपदेश दिलाना उचित है'। वासिष्ठों के कुल के जो ज्येष्ठ थे, राजा का निमंत्रण पा कर आये; ३२००० श्लोकों मे 'महारामायण' नामक उपदेश उन का समाप्त हुआ; बहुत रोचक आख्यानकों द्वारा ब्रह्मविद्या की शिक्षा हुई, राम को बोध हुआ, क्षत्रिय कार्य मे प्रवृत्त हुए। यह ग्रंथ भी वाल्मीकि ने रचा; ऐसी प्रथा है। 'महारामायण' भी इस का नाम प्रथित हुआ।

ऐसी ही कथा गौतम बुद्धदेव की है। उन का भी वैराग्य विशु सात्त्विक, महाकरुणा-प्रेरित, जगत्कल्याणार्थ हुआ। पिता राजा शुद्धोदन

ने जन्मपत्र बनानेवाले ज्योतिषियों से सुना कि बालक समग्र वसुधा का एकछत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा, वा मानवमात्र, अपितु देवों, के भी कल्याणार्थ बड़ा तपस्वी, त्यागी, संन्यासी होगा। शुद्धोदन ने बहुत यत्न किया कि सूखी पत्ती भी पुत्र न देखे, बहुत सुन्दर हृदयग्राहिणी युवती यशोधरा से विवाह कर दिया, पुत्र राहुल अति प्रियदर्शन भी हुआ। पर देवों ने ऐसी माया रची कि बुद्धदेव, एक दिन, जब अपने अत्यंत रुचिर, सुगंध पुष्पों, सुस्वादु फलों के, वृक्षों से भरे उद्यान मे, जो कोसों लंबा चौड़ा था, और बहुत ऊँचे प्रावार से चारो ओर घिरा था, रथ पर बैठकर घूमने को निकले, तो उन को एक बहुत बूढ़ा मनुष्य, कमर झुकी, लाठी टेकता, खाँसता, सड़क पर चलता देख पड़ा; फिर, एक रुग्ण मरणासन्न, चारपाई पर पड़ा, सड़क के किनारे देखा; फिर एक शव भी देख पड़ा जिस को उस के संबंधी कंधों पर उठाये, श्मशान को ले जा रहे थे। बुद्ध को बड़ा आश्चर्य हुआ, सारथी से पूछा, यह सब क्या है ? उस ने बताया। पूछा, 'क्या यशोधरा की, राहुल की, मेरी भी यही दशा होगी ?' उत्तर मिला, 'अवश्य'। अपार दया से हृदय भर गया, सात्त्विक उन्माद हो गया। 'चलो, घर लौटो'; लौट आये; आधी रात को, सब छोड़ कर, अपने प्रिय घोटक कंटक पर बैठ कर, सारथी छन्न को साथ ले, नगर के बाहर आये; अश्व से उतरे, अपने सब महर्घ आभूषण छन्न को दे दिया, 'अश्व लेकर लौट जाओ'; बहुत रोया, रटा, 'आप भी चलिये', 'नहीं, तुम जाओ'। नगर के सिंह-द्वार पर घूम कर, दक्षिण बाहु उठा कर शपथ किया।

२२. अश्वघोष का 'बुद्धचरित' नामक उत्तम काव्य—'जनन-मरणयोः अदृष्टपारः, न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा'। यह अश्वघोष के 'बुद्धचरितं' नामक महाकाव्य का एक श्लोक है। इन के पद्य कालिदास के श्लोकों से अच्छे नहीं तो उनके सर्वथा समकक्ष हैं, विषय नितरां हृदय-ग्राही वैराग्योत्पादक ज्ञानवर्धक, और काव्य सर्वथा अश्लीलता से रहित है। खेद है कि १७ सर्ग ही मिलते हैं, शेष लुप्त हो गये। सर् एड्विन्

आनौंल्ड का अति प्रसिद्ध 'लाइट् आफ़ एशिया' नामक बहुत सरस काव्य करुण-प्रधान, इसी 'बुद्धचरित' का अनुवाद सा है, यद्यपि आनौंल्ड ने उसे प्रायः देखा न होगा। काव्य के ६० संस्करण तो कवि के जीवन-काल मे ही हो गये, तत्पश्चात् स्यात् २०० अब तक। मैं ने ऐसा कहीं पढ़ा है कि उस की इतनी प्रथा देख कर 'आर्च-बिशप औफ़ कैंटरबेरी' ने उन से कहा कि आप ने जीसस् क्राइस्ट के स्थान मे गौतम बुद्ध को बैठा दिया; यह उचित नहीं किया'। तब उन्होंने 'लाइट् औफ़ दि वर्ल्ड' नामक काव्य लिखा, क्राइस्ट का महिमा गाया। काव्य अच्छा ही है, किन्तु पहिले काव्य के जोड़ का नहीं; उसका प्रचार कम हुआ।

२३. अर्जुन का वैराग्य, मिश्रित सत्त्व और रजस् का है— यह दो उदाहरण शुद्ध सात्त्विक वैराग्य के हुए। (४) अर्जुन का वैराग्य मिश्रित सत्त्व और रजस का है। हिंसा करने को सज्ज, किंतु उक्त हेतु से दया मन मे छायी। आत्मविद्या के उपदेश से भ्रम दूर हुआ। इन सब वैराग्यों के जीवद् उदाहरण मैं ने काशी मे तथा अन्य तीर्थों मे देखा है। शुद्ध सात्त्विक का एक ही, काशी मे, स्वामी भावानन्द तीर्थ।

भीष्म ने, शरशय्या पर पड़े, कृष्ण की स्तुति की,

व्यवहित-पृतना-मुखं निरीक्ष्य, स्वजनवधाद् विमुखस्य दोषबुद्ध्या,
कुमति अहरद् आत्मविद्यया यः, चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु।

स्वजन-वध से विमुख अर्जुन की भक्ति को, परम-आत्मा के अति सूक्ष्म अंश के अवतारभूत कृष्ण ने, गीता मे भरे आत्म-ज्ञान से दूर किया; उन की भक्ति मेरे मन मे सदा बनी रहै।

२४. आत्म-विद्या क्या है जिस से अर्जुन का भ्रम दूर हुआ— यह आत्म-विद्या क्या है जिस मे ऐसे अद्भुत गुण भरे हैं?

अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे!
गतासून् अगतासूंश्च नाऽनुशोचंति पंडिताः।

जिन के लिये शोक नहीं करना चाहिये उन के लिये शोक करते हो, और प्रज्ञा की, बुद्धिमत्ता को, पंडितम्मन्यों की सी बड़ी बात करते

हौ ! जिन के असु, प्राण, चले गये, तथा जिनके नहीं गये, उन दोनों के लिये सच्चे पंडित शोक नहीं करते ।

२५. कश्मीरी गीता के पाठ-भेद । अभिनव गुप्त आचार्य—कश्मीर की गीता का पाठ कुछ भिन्न है, 'प्राज्ञवन् नाऽभिभाषसे', प्रज्ञा-वान् के ऐसी बात नहीं करते हौ; यह पाठ अधिक अच्छा है, किन्तु यदि प्रचलित पाठ को व्यंग्यात्मक भर्त्सनात्मक समझैं तो वही अच्छा है। कश्मीरी पाठ अभिनवगुप्त का है । बड़े विद्वान् हुए; दशम शती ईसवी के द्वितीयार्ध और एकादशम के प्रथमार्ध मे रहे। थे तो कान्यकुब्ज ब्राह्मण, पर श्रीनगर, कश्मीर की राजधानी, मे जाकर बस गये। उस समय के वहाँ के राजा ने इन की विद्वत्ता की कीर्ति सुन कर, आदर से इन को बुलाया, और अपने नगर मे बसाया । इन्हों ने बहुत ग्रन्थ, उत्तम-उत्तम लिखे; गीता की टीका भी की, जो थोड़े ही वर्ष हुए, श्रीनगर मे छपी; बहुत स्थलों मे इन का पाठ, इस प्रान्त मे प्रचलित पाठ से भिन्न है, और बहुधा अच्छा है । इन का पूरा नाम अभिनव-गुप्तपाद था; जन्मपत्र मे इनका नाम क्या रक्खा गया, इस का पता नहीं चलता; व्याकरण के विशेषज्ञ विद्वान् हुए, अतः गुरु ने अभिनव-गुप्तपाद, नया, सर्प, शेषावतार पतंजलि, रख दिया; वही चल पड़ा, क्रमशः जनता मे 'पाद' छोड़ दिया, 'गुप्त' रह गया ।

२६. त्रिकदर्शन, वा शैवदर्शन—इन के सम्प्रदाय का दर्शन 'त्रिकदर्शन' अथ च 'शैवदर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है । इन से पहिले भी, बहुत अच्छे-अच्छे ग्रंथ, सूत्रात्मक, गद्यमय, पद्यमय, इसी संप्रदाय के अन्य ग्रन्थकारों ने लिखे हैं, जो 'कश्मीर संस्कृत सीरीज़' में छपे हैं। 'शैव-दर्शन' इस हेतु से कि, शिव और शक्ति की संज्ञाओं से ही परमात्मा और मूलप्रकृति का निरूपण किया है । 'त्रिक-दर्शन' इस कारण से कि, 'सर्वं एतत् त्रिवृत् त्रिवृत्' को इस सम्प्रदाय के ग्रन्थकारों ने बहुत उत्कृष्ट रीति से सिद्ध किया है, यथा 'ज्ञानगर्भ' नामक ग्रन्थ के श्लोक मे,

क्रम-त्रय-समाश्रय-व्यतिकरेण या संततं,
क्रम-त्रितय-लंघनं विदधती विभाति उच्चकैः ।
क्रमैक-वपुः अक्रम-प्रकृतिः एव या शोभते,
करोमि हृदि ताम् अहं, भगवतीं परां संविदम् ॥

भूत-भवद्-भविष्य, इन तीन कालों के क्रम का आश्रय ले कर भी सतत, सदा, तीनों का लंघन, निषेध, करती है; तीन-क्रमो से ही उस का वपुः, शरीर, बनता है, व्यक्त होता है, तथापि स्वयं सदा अ-क्रम, निष्क्रम अव्यक्त है, कालातीत है; तीनो काल उस परमात्मा की संविद्, चेतना, मे, सदा एक साथ वर्त्तमान ही हैं, भूत-भवद्-भविष्य सब को एक सब देख रहा है; ऐसी संवित् का हृदय मे ध्यान करता हूँ; अर्थात् यह भावना धारणा करता हूँ कि समस्त संसार मे कोटियों कोटि वर्षों में जो कुछ भी वृत्त हुआ, बीता, तथा हो रहा है, और होगा, एवं कोटियों, अर्वों, खर्बों योजनों मे, मेरे पीछे-यहाँ-आगे, इस त्रिक मे; एवं मेरे दक्षिण-वाम-यहाँ; ऊपर-यहाँ-नीचे; अर्थात्, चारो ओर, जो कुछ भी, जिस किसी भी, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर, नभश्चर, मनुष्य, देव, दैत्यादि की जो भी क्रियाएँ, हुईं, हो रही हैं, होंगी, वे सब इसी क्षण मे मेरे हृदय मे वर्त्तमान हैं, 'हृदि अयं, तस्माद् हृदयं', एवं मै परमात्म-स्वरूप हूँ, ब्रह्म हूँ ।

२७. त्रिक्रम मे त्रिष्क्रम का उदाहरण, अपने दैनंदिन अनुभव मे :—यह भाव कठिन है; यों समझिये; किसी बड़े इतिहास के ग्रन्थ मे, यथा इतिहास पुराण मे जगत् की सृष्टि से भावी महाप्रलय तक का वर्णन किया है; सब वृत्त उस मे एक साथ ही हो रहे हैं, लिखे हैं, प्रसुप्त हैं, किन्तु जब आप ग्रन्थ पढ़ें, तब क्रम से ही पढ़ेंगे, क्रम का उदय होगा, और वृत्तों का व्यंजन होगा, एक-एक करके व्यक्त होंगे; एक पृष्ठ पढ़ गये, भूतकाल हुआ; दूसरा पढ़ रहे हैं, भवत् हो रहा है; तीसरा पढ़ेंगे, भविष्य होगा; तीन क्रम उदय हुए; जो पहिले क्रमाऽभाव मे अव्यक्त था वह अब व्यक्त हुआ, निष्क्रम में क्रम हुआ, क्रम-त्रितय-लंघिनी

भगवती सं-वित् ने (सर्वं, गतं-गच्छद्-आगामिनं, सम्यक्, सदा वेत्ति या सा सं-वित्) परमात्मा की प्रकृति ने, रूप-रहित ने, रूप धारण किया, ब्रह्म-परमात्मा और क्रमरूपिणी माया का, लंघनरूपी, निषेधन-प्रतिषेधन-रूपी, संबंध समझ में आया।

२८. माया का अर्थ या-मा :—'मा-या' का अर्थ है 'या-मा', जो है भी और नहीं भी, साथ ही साथ, 'ऐज़ इफ़्', 'मेक्बिलीव्', 'इल्युझन्', भ्रम।

एक और उदाहरण लीजिये; जो दैनंदिन आप के अनुभव मे, अति समीप, आता है। गहिरी सुषुप्ति मे, न काल है, न देश है, न क्रिया है, न क्रम है। जागे, और सब व्यक्त हो गया। सुषुप्ति मे प्रलय मे, चींटी और हस्ती, सिंह और हरिण, भिक्षुक और सम्राट्, सब तुल्य हैं, जागने पर सब भिन्न।

अपने जीवन की सब मुख्य-मुख्य घटनाएँ, पाँच छः वर्ष की आयु से आज काल की आप की स्मृति मे भरी पड़ी हैं, सुप्त हैं; सब एक साथ हैं, उन मे कोई क्रम नहीं है, प्रयोजन होने पर जिस घटना को चाहते हो, सुप्त से जाग्रत कर लेते हौ, और काम हो जाने पर पुनः सुप्त कर देते हौ; ऐसे ही भविष्य मे, आप जो कुछ करना चाहते हौ, वह सब एक साथ, बिना क्रम के, आप के चित्त मे भरा हुआ है; पर जब अपने व्यवसायों को पूरा करना चाहोगे तब क्रम से ही, एक के बाद एक, करना पड़ेगा।

२९. श्रीधर स्वामी की व्याख्या पर शंका :—पहले कहा कि श्रीधर स्वामी ने 'ब्रह्म इति मुक्तानां, परमात्मा इति मुमुक्षूणां' लिखा है; पर यहाँ सन्देह होता है; 'ब्रह्म' यह प्रथम पुरुष की उक्ति है, 'ब्रह्म' क्या है यह समझ नहीं पड़ता, कोई दूर की वस्तु होगी; 'परमात्मा' उत्तम पुरुष का शब्द है, आत्मा, आत्ता, आपा, आप, इस क्रम से भ्रंश होते-होते आत्मा का रूप, प्रचलित हिंदी, अपना, आपा, आप हो गया; गुरु नानक का भजन है,

काहे रे मन ? बन खोजन जाई,
पुहुप माहि जस बास बसतु है, मुकुर माहि जस छाँई,
तैसे ही हरि बसत निरंतर, घटहि मे खोजहु भाई,
कह नानक बिनु आपा चीन्हे, मिटै न भ्रम की काई ।

'अपनहि आपा चीन्हो', पुराना श्लोक है,

अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद, परोक्षं ज्ञानं अस्ति तत् ।
अस्मि ब्रह्म इति चेद् वेद, प्रत्यक्षं ज्ञानं अस्ति असौ ।

अक्बर इलाहाबादी ने यही भाव बहुत रुचिकर व्यंग्य और हास्य मिश्रित शब्दों मे प्रकट किया है,

जाहिदे गुमराह के मै किस तरह हमराह हूँ,
वह कहै अल्लाह है, औ मै कहूँ अल्लाह हूँ ।

३०. आत्मा अजर-अमर है :—जब अर्जुन जान जाय कि मरने जीने का क्रम भ्रम-मात्र है, तब उसको निश्चय होगा कि परमात्म-रूप जीवात्मा भी अजर-अमर है,

न जायते म्रियते वा कदाचित, नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः,
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।
य एनं वेत्ति हंतारं, यश्च एनं मन्यते हतं,
उभौ तौ न विजानीतो, नाऽयं हंति, न हन्यते ।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि,
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही ।
अच्छेद्योऽयं, अदाह्योऽयं अक्लेद्यो,ऽशोष्यः एव च,
नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः । इत्यादि ।

आठ दस और श्लोकों मे जीव की अमरता कही है ।

३१. एक शंका और प्रश्न—'अच्छा, माना, परमात्मा का अंश होने के कारण जीवात्मा भी अमर है, पर एतावता भाई-भतीजों, बाप-दादों, को मार डालना मेरा कर्तव्य कैसे हो गया ?' 'तो सुनो; यह तुम्हारा क्षत्र-धर्म है; क्षत्रिय हो; धर्मानुसार युद्ध करके दुष्टों को, धर्म-

ध्वंसकों को मारना, सज्जनों की, धर्म की, रक्षा करना, इस से उत्तम कार्य क्षत्रिय के लिये अन्य कोई है नहीं; सो, तुम को, अनायास, खुला हुआ स्वर्ग का द्वार मिल रहा है; तिस पर भी यदि ऐसा धर्म्य संग्राम न करोगे तो पाप लगैगा, अपयश होगा, महारथ शत्रु तुम को भीरु, कायर, कापुरुष मानैंगे; इस से अधिक लज्जा की बात तुम्हारे लिए क्या हो सकती है ?; अतः अवश्य रण मे प्रवृत्त हो; मारे गये तो स्वर्ग, जीते तो समग्र वसुधा, 'वसूनां, धनानां, रत्नानां धात्री', के सम्राट् बन कर उत्तमोत्तम भोगों को प्राप्त करोगे। अतः 'सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभाऽलाभौ, जयाऽजयौ' को समान मान कर, तुल्य जान कर, युद्ध करो।

इसी संबंध मे, पुनः पुनः जन्म, और सनातन परमात्मा से सनातन धर्म की उत्पत्ति, तथा वर्णाश्रम-धर्म की, बात विस्तार से आगे कही जायगी।

३२. सांख्य और योग—कृष्ण और कहते हैं, यह तो मै ने तुम से सांख्य दर्शन की बात कही, अब योग दर्शन के सिद्धान्त सुनो। स्वर्ग-नरक की बात झूठी नहीं है, पर इसी पर बल देना, इसी को रटना—यह उन मूर्खों का काम है जो वेदों का कर्मकांड, यज्ञादि, और यज्ञ से स्वर्ग मिलता है, इन बातों को छोड़, और कुछ जानते ही नहीं; ऐसे मूर्ख लोग समाधि का मर्म नहीं जानते, जिस समाधि से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। सो तुम त्रिगुणात्मक माया की सराहना करने वाले कर्मकांडी वेदों को छोड़ो, उन्हीं वेदों के ज्ञानकांड उपनिषदों के अनुसार निस्त्रैगुण्य होने का यत्न करो, त्रिगुण-रहित, त्रिगुणातीत भाव को प्राप्त करो, अपने ही मे संतोष करो; 'आत्मनि एव आत्मना तुष्टः', आत्मा ही ने सब संसार रचा है, सब का मालिक स्वामी वही है, सब उसी का है, फिर असंतोष का हेतु क्या ? बाहरी स्वर्गादि सुखों का भी लोभ लालच छोड़ो; धर्म्य-कर्म करने का ही हम को तुम को, सब ब्रह्मवेत्ताओं को, अधिकार है, कर्म का फल भला होगा या बुरा इस की

चिंता न करो। योग साधो, अर्थात् जीवात्मा परमात्मा के योग, संयोग, एकत्व को साधो पहिचानो; और, इस प्रकार से सांख्य दर्शन और योग दर्शन की शिक्षा एक ही है, यह समझो।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति, न पंडिताः।
यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैः अपि गम्यते।

पुराकाल मे अद्वैत वेदांत ही सांख्य-योग कहलाता था।

३३. इष्ट और आपूर्त—प्रसंग प्राप्त एक बात और इस स्थान पर कहने योग्य है। यज्ञ का विषय चला है; मुंडकोपनिषत् मे कहा है,

इष्टऽापूर्तं मन्यमानाः वरिष्ठं, नाऽन्यत् श्रेयः वेदयंते प्रमूढ़ाः। इष्ट और आपूर्त को ही श्रेष्ठ जानने वाले, यह विश्वास करने वाले, कि इन से बढ़ कर अन्य कोई कर्म नहीं है, नितांत मूढ़ हैं। इष्ट का अर्थ है, यज्ञयागादि; आपूर्त का, वापी-कूप-तटाकादि का लोकोपकारार्थ निर्माण। यजुर्वेद मे पाँच प्रकार के यज्ञ कहे हैं, अजमेध, महिषमेध, अश्वमेध, गोमेध, नरमेध, अर्थात् बकरे का, भैंसे का, घोड़े का, गाय का, और मनुष्य का बलिदान, इन पशुओं को मार कर इष्ट देव को बलि देना, इन के मांस, मन मे तथा मंत्रों द्वारा वाणी से, तथा कर्मणा हस्त-संचालन से, अग्नि मे मांसादि के खंड डालना, 'अग्निर्वै देवानां मुखं', इत्यादि; फिर शिष्ट मांस को याजक यजमान का स्वयं खा लेना। इस से, तथा पारस्कर-गृह्यसूत्र और भाष्य टीका मे वर्णित 'शूलगवो नाम यागः' से, सिद्ध होता है कि वैदिक काल मे गोमांस सभी महर्षि तक खाते थे, अन्यों की क्या कथा। कृष्ण ने इस गोमेध और गोभक्षण को बंद किया, गोवर्धन मख उस के स्थान पर चलाया। यह तो हुआ, पर विशेष ध्यान देने की बात है कि यजुर्वेद मे अश्वमेध का जो क्रिया-कलाप कहा है वह नितांत अश्लील अभद्र बीभत्स है, वह किसी सात्त्विक तपस्वी ऋषि का बनाया नहीं हो सकता, प्रत्युत किसी घोर वाममार्गी पंच-मकार-सेवी पापिष्ठ तांत्रिक का चलाया है।

३४. यजुर्वेदोक्त पशु-मेधों का रहस्य आध्यात्मिक अर्थ—हाँ, यदि उस का आध्यात्मिक अर्थ समझाया जाय तो सब बात बदल जाती है; अज काम-प्रधान जन्तु है, महिष क्रोध-प्रधान, अश्व दर्पालु गर्वमय मदमय, गौ मोहमय, भयमय, नर अभिमान का, अहंभाव का, रूप है। योग-सूत्र मे कहे 'अविद्या-अस्मिता-रागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः' के ही ये पाँच नामान्तर रूपान्तर हैं; इन का बलिदान, दमन, शमन, अपने चित्त मे कर के, 'नाऽन्यत् श्रेयः यस्मात्, तत् निःश्रेयसं,' को निश्चयेन पा सकता है। उचित मात्रा मे आपूर्त्त, वापी, बड़ी बावली, कूप, तटाक, वृक्षारोपण, लखराँव लगाना, सड़क बनवाना, पशु-चिकित्सालय, मनुष्य-चिकित्सालय, पाठशाला, विद्यापीठ आदि बनवाना, स्थापित करना—यह सब परोपकारी कर्म बहुत अच्छे, बहुत पुण्यमय हैं, पर उचित मात्रा मे, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। पाठशालाओं, विद्यापीठों, की संख्या बहुत बढ़ जाने से जो जीविका-रहित मानवों की, एवं चिकित्सालयों की अतिवृद्धि से जनसंख्या की, भयङ्कर अतिवृद्धि हो रही है उस की चर्चा आगे की जायगी।

३५. 'बुद्धौ शरणं अन्विच्छ'—कृष्ण ने पुनः पुनः समझाया है 'बुद्धौ शरणं अन्विच्छ', सुकृत दुष्कृत की बहुत सूक्ष्मेक्षिका को त्यागो, बुद्धि की शरण लो, तब अन्त मे जनन-मरण के बन्धन से छूटोगे, और इस समय शान्त स्थिर बुद्धि से धार्मिक युद्ध कर सकोगे।

इस पर अर्जुन ने पूछा, 'स्थिर बुद्धि क्या है, समाधि साधे हुए समाहित-चित्त स्थित-प्रज्ञ के लक्षण क्या हैं, कैसे बोलता, बैठता, उठता, चलता, फिरता है?'

उत्तर मे कृष्ण ने उन्हीं सांख्य योग की बातों को दुहराया। जैसे कच्छप अपने हाथ पैर सिर को ढाल के भीतर खींच लेता है, वैसे जो मनुष्य सब इन्द्रियों को विषयों से खींच लेता है, उस की प्रज्ञा प्रतिष्ठित, स्थित, स्थिर हो जाती है। विषयों से इन्द्रियों को हटाने का यह आशय नहीं है कि खाना-पीना, देखना, सुनना, छोड़ दो, प्रत्युत यही कि उन का

लोभ, उन की कामना, छोड़ दो, भोजनादि मे कुछ कमी कर दो, और शरीर-सुख देने वाले पदार्थों का मन मे भी ध्यान बहुत मत करो, क्योंकि ऐसा ध्यान करने से उन के लिये काम अर्थात् लोभ बढ़ता है; काम—इच्छा के व्याघात से क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृति-विभ्रम; क्रोध से प्रेरित होकर जो हिंसादिरूप कार्य मनुष्य कर डालते हैं उस का फल बुरा होता है, इस तथ्य की स्मृति नष्ट हो जाती है, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश, और उस से सर्वनाश। योग-सूत्र (२, २९) है, 'यम-नियम-ऽासन-प्राणा-याम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधयः अष्टौ अंगानि' तथा 'स्वविषयाऽ-सम्प्रयोगे, चित्तस्य स्वरूपाऽनुकारः इव इंद्रियाणां प्रत्याहारः'; इन्हीं सूत्रों का आशय गीता के श्लोक मे कहा है।

३६. काम-क्रोधादि की अति के फल विश्वयुद्ध—प्रत्यक्ष उदाहरण हम सब की आँखों के सामने है। दो-दो विश्वयुद्ध इन्हीं कारणों से हुए। सभी देशों के शासक चाहने लगे कि हमारे पास अन्य सब से अधिक धन हो, भूमि हो, पराजित जातियों के करोरों स्त्री-पुरुष दास बन जायँ, अन्य सब से बड़े बृहत्काय युद्ध-वहित्र, युद्धक विमान, अंतर्जलचर पोत्र हों, बृहत्तम सेना, तोप, शतघ्नी, बम, महाविनाशकारी ऐटम बम और हाइड्रोजन बम हों, ऐसे अति लोभ से आपस मे कट मरे, सब नितांत दरिद्र हो गये, अति समृद्ध, अति शक्तिशाली, ब्रिटेन, तथा जर्मनी, फ़ान्स, आदि मे, तथा अन्य देशों मे लोग भूखे और नग्नप्राय रहने लगे; ब्रिटेन को, विवश होकर, भारत को छोड़ देना पड़ा। हाँ, अमेरिका और रूस का; विशेष कारणो से, इतना ह्रास नहीं हुआ, पर बहुत कुछ हुआ भी, जिस का पता गहिरी खोज करने से लगता है। महाभारत के पश्चात्, फिर यादव संहार के पीछे, भारत की भी यही दशा हुई। ब्रिटेन द्वारा शोषण ने छूटने पर भी भारत अभी तक नीवाक और प्रयाम और सम-भक्त ('राशनिङ्', 'कंट्रोल', और सब को तुल्य, समान, अन्न-वस्त्रादि) के जाल मे फँसा ही है, यद्यपि स्वराज्य मिले छः (अब दश) वर्ष हो

गये ।[1] इस मे कारण, भारत के वर्तमान शासकों के भी कई बड़े दोष हैं; नेकनीयत होते हुए भी दूरदर्शी नहीं हैं; कई अच्छे काम कर रहे हैं, तो कई बुरे भी, जिनका परिणाम बहुत शंकामय है ।

३७. कौन सचमुच सोता है, कौन जागता है ?—कृष्ण ने कहा,

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी;
> यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।

जब रात मे सब अन्य प्राणी सो जाते हैं, तब संयमी योगाभ्यासी जागता हैं, क्योंकि उस समय शांति रहती है, एकाग्रता मे विक्षेप करने वाले कोलाहल बंद हो जाते हैं; एवं जब दिन मे अन्य प्राणी जागते हैं तब योगी मुनि सोता है, रात्रि-जागरण की कसर निकालने को । इस श्लोक अन्य रहस्यार्थ भी हो सकते हैं, किंतु स्पष्ट शब्दार्थ ही पर्याप्त है ।

---

१ सन् १९५४ ई० के जून मास से 'राशनिङ्' और 'कण्ट्रोल', प्रायः सभी प्रान्तों मे बन्द हो गये, और अन्नादि कुछ थोड़ा सस्ता हुआ है ।

(a) अति-वृष्टि से, या पानी न बरसने से जिस देश मे अन्न की उपज मारी गयी हो, और दुर्भिक्ष वा बड़ी महँगी की दशा हो गयी हो, वहाँ दूकानों पर, तथा धनिकों के घर, क्रेताओं को वा दरिद्र भिक्षुओं को, यही बात सुनाई जाती हो कि 'यहाँ बेचने को कुछ अन्न नहीं है', तथा 'दान' देने के लिए अन्न नहीं बचा है; वहाँ 'नो-वाक' हो गया । एवं, किसी बड़ी राजधानी पर प्रबल शत्रु ने आक्रमण किया हो, और उसके सब फाटक बन्द कर दिये गये हों, अतः अन्न बाहर के खेतों से नगर के भीतर न आ सकता हो, तब ऐसा प्रबन्ध कर दिया गया हो, कि महाराज और उसके अल्पतम वेतन पाने वाले भृत्य को, प्रधान सेनापति को और पदाति सैनिक को, कोटिपति व्यापारी को और उसके छोटे से छोटे अनुचर को, सब को तौल मे बराबर ही, समान ही अन्न दिया जाय—इस को 'सम-भक्त' कहते हैं ।

आश्चर्य है कि ऐसा ही भाव, कृष्ण के साढ़े चार सहस्र वर्ष पीछे, मौलाना रूम ने भी, तीस सहस्र श्लोकों के, अर्थात् साठ सहस्र पंक्तियों के बृहद् ग्रंथ 'मस्नवी' के कुछ पद्यों मे कहा है।

> हर के बेदार् अस्त ऊ दर् ख़्वाब तर् ;
> हस्त बेदारीश् अज़् ख़्वाबश् बतर् ।
> हर के दर् ख़्वाबस्त, बेदारीश् बेह,
> हस्त ग़फ़लत् ऐन हुशियारीश् बेह ।

'जो जागता है वह सो रहा है; उस का जागना उस के स्वप्न से, सोने से, बुरा है। जो सो रहा है उसे चाहिये कि वह सूक्ष्म लोक मे जागै; उस का सोते रहना बहुत बुद्धिमत्ता है।'

३८. जब कर्म से बुद्धि अच्छी है, तब घोर कर्म मे मुझे क्यों लगाना चाहते हौ ?—अर्जुन पूछते हैं, 'जब बुद्धि को कर्म से अच्छा समझते हौ, तब आप मुझे ऐसे घोर कर्म मे क्यों लगाना चाहते हौ ?' पुनः पुनः कृष्ण वही उत्तर देते हैं, यदि यज्ञ-बुद्धि से, अर्थात् यह कर्म जो मै कर रहा हूँ धार्मिक है, परार्थ है, स्वार्थ नहीं, ऐसा समझ कर, घोर से घोर कर्म करोगे तो भी पाप नहीं लगैगा, बन्धन नहीं होगा जिस से पुनः पुनः जनन-मरण का दुःख सहना पड़ै, 'लोकोऽयं कर्मबन्धनः' 'ऋणानुबन्धो लोकोऽयं', इत्यादि। हिंसा और दंड मे बड़ा भेद है, यह सदा याद रखना चाहिये; निरपराध को मारना हिंसा है, सापराध को मारना दंड है; और ऐसा दंड देना, क्षत्रिय का, राजा का परम धर्म है, 'दमनाद् दंडः', दुष्टों का दमन करना हिंसा नहीं है।

३९. यतः दंडयोग्य को दंड देना क्षत्रिय राजा का परम धर्म है—

> अदंड्यान् दंडयन् राजा, दंड्यांश्चैवाप्यदंडयन्,
> अयशो महदाप्नोति, नरकं चाधिगच्छति।
> पिता, ऽाचार्यः, सुहृन्, माता, भार्या, पुत्रः, पुरोहितः,
> नाऽदंड्यो नाम राज्ञोऽस्ति, यः स्वधर्मे न तिष्ठति।

मनु ने इन दो श्लोकों मे गीता का मूल उपदेश युक्ति-युक्त, रख दिया है। पहिले कह आये, जो ही कार्य परहित-बुद्धि से, लोकहितार्थ, लोकसंग्रहार्थ, विना स्वार्थ, के किया जाय वही यज्ञ है, देवों के नाम से, उन के प्रीत्यर्थ, पशुओं की हत्या करना, उन का मांस खाना, यह सब यज्ञ नहीं है, प्रत्युत वाममार्गियों की ठगाई है। ऐसे परोपकारक कर्म से प्रसन्न हो कर, उचित समयों पर इन्द्र देव वर्षा करते हैं, अन्न होता है, प्राणियों का पोषण होता है, वे पुनः सत्-यज्ञ करते हैं; एवं धर्म-चक्र-प्रवर्तन होता रहता है, मेरे चलाये इस धर्म-चक्र का अनुवर्तन जो नहीं करता है, स्वार्थ ही कार्य करता है, वह अघ-ऽायु है, उस की आयु, उस का जीवन अघ-मय पापमय, है, व्यर्थ है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः,
अघायुः, इन्द्रियारामः, मोघं, पार्थ !, स जीवति।

मनु ने भी कहा है,

अघं स केवलं भुंक्ते यः पचति आत्मकारणात्;
यज्ञशिष्टाऽशनं हि एतत् सतां अन्नं विधीयते।

वेद मे अधिक उद्दाम शब्दों मे कहा है।

मोघं अन्नं विंदते अप्रकेताः, सत्यं ब्रवीमि, वध इत् स तस्य;
नाऽर्यमणं पुष्यति, नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी।

मौलाना रूम को भी ये ही तथ्य सूझे,

अब्र नऽायद् अज़् पसे मनए ज़कात्,
वज़ ज़िना उफ़्तद् बला अंदर् जिहात्।

जहाँ ज़कात्, धर्मार्थ दान, नहीं होता वहाँ अब्र, अभ्र, बादल, वारिद, नहीं आते। जहाँ पर-दार-गमन, पारदारिकं, होता है, वहाँ भारी आपत्तियाँ पड़ती हैं।

४०. परदार-गमन से बड़ी बिपत्तियाँ। क्षयरोग का उदाहरण—

नैतादृशं अनायुष्यं यथा एतत् पारदारिकं।

हत्याएँ, 'मर्डर्स', प्रायः दो ही कारणो से होती हैं, धन के लोभ से, वा पराई स्त्री के लोभ, और तज्जनित ईर्ष्या और क्रोध से। रावण की स्वर्ण-मयी लंका इसी कारण से जलाई गई, लाखों ब्रह्म-राक्षस मारे गये। और भी; ऐसे अत्याचार से प्रायः क्षय रोग हो जाता है। कालिदास ने, रघुवंश के अंतिम सर्ग मे, इस का उदाहरण दिया है। मनु का, रघु का, आत्यंतिक एक-पत्नी-व्रत-धारी अज का, राम का, वंशधर दंडधर अग्निवर्ण, तबल्ची, नचनिया, घोर दुराचारी वेश्यागामी हो गया। स्वयं मृदंग बजाता, गले मे फूलों की माला डाले, वेश्याओं का नृत्य देखता, और जब अभिनय मे उन से चूक होती तब उन को टोंकता, और तौर्यत्रिक शास्त्र के अपने पांडित्य का रसास्वादन करता; राज-प्रासाद मे पचासों सुन्दर युवतियाँ घूमती रहती थीं, उन के साथ मैथुन किया करता; राजयक्ष्मा, क्षय रोग, हुआ, मर गया,

सः स्वयं प्रहतपुष्करः, कृती, लोलमाल्यवलयो हरन् मनः,
नर्तकीः अभिनवातिलंघिनीः, पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत्।
आमयस्तु रतिरागसंभवो, दक्षशाप इव चंद्रं, अक्षिणोत्।

भारत के कितने ही राजा महाराजों नवाबों की सैकड़ों वर्षों से यही दशा हो रही है; और अब साइनेमा और 'को-एड्युकेशन', युवकों और युवतियों की एक साथ शिक्षा, 'सहाऽध्ययन', की कृपा से विद्यार्थियों मे भी यह महामारी फैल रही है। यह सब बात, गीता के विषय से दूर जान पड़ती है, किंतु प्रसंगप्राप्त है, यतः हमारे अभागे देश के अधः-पात के कारणो और सुधार के उपायों की सूचना देती है। अस्तु!

४१. स्वधर्म क्या है? अपना धर्म गुण-रहित भी अच्छा, उस का पालन करते हुए मर जाना भी अच्छा, पर-धर्म, पराये का धर्म, भयावह है, उस को नहीं करना।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्;
स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।

प्रश्न उठता है, स्वधर्म क्या, परधर्म क्या? आजकाल के, सब नहीं,

पर बहुतेरे पंडित सज्जन कहते फिरते हैं, 'धर्म मे बुद्धि को स्थान नहीं, जो शास्त्र कहै वही धर्म, और जो हम कहैं वही शास्त्र'। ऐसे मूढ़ग्राहों से जनता का वंचन और अधिकाधिक भ्रंशन हो रहा है। कृष्ण ने गीता के पहले छः अध्यायों मे बुद्धि ही का महिमा गाया है; शास्त्र का नहीं। ये छः अध्याय ज्ञानमार्गी ज्ञानपरक हैं; दूसरे छः भक्तिमार्गी (अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति की इच्छा दिखाते) हैं, तीसरे छः क्रिया-निर्देशक, कर्म-मार्गी हैं। जीवन का क्रम भी यही है; पहिले किसी वस्तु का ज्ञान होता है, और अनुभव होता है कि यह सुखद है वा दुःखद; यदि सुखद, तो काम, राग, इच्छा, उस के ग्रहण की होती है और उसकी प्राप्ति का यत्न किया जाता है; यदि दुःखद, तो क्रोध, द्वेष, उस के अपसारण की अभिलाषा; तदनंतर क्रिया, कर्म, बलात् हटाना, मारना, नाश करना।

> आहाराः राजसस्य इष्टाः, दुःखशोकऽामयप्रदाः;
> सत्त्वं...सुखसंगेन बध्नाति, ज्ञानसंगेन चैव हि;
> काम एष, क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः;
> इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन, भारत!;
> रजो रागात्मकं विद्धि; कर्म कर्तुं इहाऽर्हसि;
> एतानि अपि तु कर्माणि कर्तव्यानि;
> स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभतेऽर्जुन!
> सहजं कर्म न त्याज्यं; सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणः;
> नियतं कुरु कर्म, त्वं! कर्म ज्यायो हि अकर्मणः;

प्रथम श्लोक की व्याख्या पहिले की जा चुकी है। अन्य श्लोकों का अर्थ, 'गीता प्रेस' मे छपी, हिन्दी अनुवाद-सहित गीता मे देखना चाहिये।

इत्यादि कर्म मे लगानेवाली गीता मे बहुशः कर्म पर बल दिया है। यों तो तीनो षट्कों मे ज्ञान-इच्छा-क्रिया तीनों की प्रशंसा भरी है, पर 'वैशेष्यात् तु तद्वादः तद्वादः' रूपी न्याय के अनुसार कहा गया है कि एक-एक षट्क मे एक-एक की विशेष प्रशंसा और शिक्षा है। यथा जिस कुर्सी पर मैं बैठा हूँ, वह काष्ठ की बनी है, किन्तु उस का नाम काष्ठ

नहीं कहा जाता है, अपितु कुर्सी, यतः कुर्सी ही उसका 'विशेष' रूप है।

गीता मे पुनरुक्ति बहुत है, एक ही भाव को दस-दस बीस-बीस बार कहा है, शब्द भेद से। यह दोष नहीं है; प्रतिपादनीय शिक्षणीय विषय ऐसा गहन है कि शीघ्र मन मे बैठता नहीं। जैसे नौसिखवे बालक को एक ही बात सैकड़ों बार रटना पड़ता है। कहीं-कहीं तो शब्दों में भी भेद नहीं किया है, यथा 'मन्मना भव, मद्भक्तो, मद्याजी मां नमस्कुरु', नवें अध्याय मे भी और अठारहवें मे भी।

४२. ब्रह्मा शब्द का अर्थ; देवों और मनुष्यों की परस्पर सहायता—यज्ञ कर्म की चर्चा चली है; तृतीय अध्याय में कहा हैं,

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरा उवाच प्रजापतिः—
अनेन प्रसविष्यध्वं, एष वोऽस्तु इष्टकामधुक्।
देवान् भावयताऽनेन, ते देवाः भावयंतु वः,
परस्परं भावयंतः श्रेयः परं अवाप्स्यथ।

प्रजापति ब्रह्मा ने, अर्थात् जगद्व्यापक महद्बुद्धि, महानात्मा, 'युनिवर्सल् माइंड', 'इंटेलेक्टस् माइंड', 'अक्लि-कुल्' ने प्रजाओं का, जीवों का, विशेष कर मनुष्यों का, उत्पादन किया, और उन के साथ ही यज्ञ का, यज्ञबुद्धि, परस्परोपकार-भाव, अन्योऽन्य-सहायताभिलाषा का भी उत्पादन किया, और उन को उपदेश आदेश दिया, कि इसी पारस्परिक सहायता से अपने सब अभीष्ट वस्तुओं को पाओगे। स्पष्ट ही है, 'संघे शक्तिः' जहां परस्पर सहायता नहीं, परस्पर द्वेष है, वहां अन्योऽन्य विनाश ही होता है। भारत का अधःपात इसी हेतु हुआ; हिन्दूनामधारी लोक, ढाई सहस्र परस्पर-द्वेषिणी जाति उपजातियों मे विभक्त हो कर विधर्मियों विदेशियों के दास प्रायः बारह सौ वर्षों तक बने रहे; और अब, अपने पौरुष से कदापि नहीं, प्रत्युत ब्रिटेनो के भी, वैसे ही अन्य यूरोपीय और जापानी जातियों से परस्पर-द्वेष-जनित संग्राम और दौर्बल्य से, जब स्वराज मिला तो अब भी नहीं चेतते हैं, उन्ही पारस्परिक द्वेषों द्रोहों मे सने हैं।

४३. यज्ञों के प्रकार। जप-यज्ञ सब से अच्छा। प्रणव का जप; प्रणव का अर्थ—यज्ञ कै प्रकार के होते हैं ? इस का उत्तर कृष्ण ने आठ श्लोकों मे दिया,

द्रव्ययज्ञाः, तपोयज्ञाः, योगयज्ञाः, तथाऽपरे
स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञाः च वितता ब्रह्मणो (वेदस्य) मुखे;

इन बहुविध यज्ञों मे कौन सब से अच्छा है ? तो 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।' पर एक ही शब्द वा मंत्र लाखों बार रटना जप नहीं। योगसूत्र है, 'तज्जपः तदर्थभावनं।' क्या जपना ? तो प्रणव ; अ-उ-म रूपी; 'तस्य वाचकः प्रणवः', तस्य ईश्वरस्य, परमात्मनः, 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ(ता)-बीजं।' परमेश्वर परमात्मा का मुख्य नाम 'प्रणव', ॐ, है, जो अ-उ-म तीन अक्षरों की संधि से बना है; इस ॐ मे सर्वज्ञता का बीज है, इस के अर्थ के मनन निदिध्यासन से सब ज्ञानों के बीज, सब शास्त्रों के मुख्य-मुख्य सिद्धांत, जीव को विदित हो सकते हैं। कैसे ? उपनिषदों मे, गोपथ आदि ब्राह्मणो में, अ-उ-म इस त्रिक के बहुतेरे रहस्य अर्थ दिखाये हैं। अ ब्रह्मा, उ विष्णु, म शिव; अ लक्ष्मी, रजस, क्रिया, सत्; उ सरस्वती सत्त्व, ज्ञान, चित्; म गौरी-शक्ति, तमस्, इच्छा, आनन्द; इत्यादि सैकड़ों त्रिक, 'सर्वमेतत् त्रिवृत् त्रिवृत्'; इस अर्थ के भावन से, गंभीर अन्वेषण से, सब शास्त्रों के मूल तत्त्वों का ज्ञान मनुष्य को मिल सकता है। विस्तार से संपूर्ण अपरिमित ज्ञान परिमित जीव को असंभव है; वह अपरिमित परमात्मा के ही हृदय मे सदा प्रसुप्त अव्यक्त प्रलीन है, 'तस्यैव मात्रां उपजीवंति सर्वे', उस अनंत ज्ञान की अत्यन्त छोटी-छोटी मात्राएँ एक-एक नितांत परिमित जीव मे व्यक्त होती रहती हैं।

४४. ब्रह्मा-विष्णु-महेश और सरस्वती-लक्ष्मी-गौरी का संबंध—पौराणिक प्रथा तो यह है कि ब्रह्मा की पत्नी, सरस्वती गिरा है, 'गिरामाहुः देवीं द्रुहिणगृहिणीं आगमविदः' विष्णु की लक्ष्मी, शिव की गौरी-पार्वती; फिर ब्रह्मा और लक्ष्मी का, विष्णु और सरस्वती का, साथ क्यों नहीं कहा ? तो इस लिये कि क्रियात्मक ब्रह्मा को ज्ञानात्मक

सरस्वती चाहिये, विना ज्ञान के क्रिया नहीं; एवं विष्णु को लक्ष्मी, क्योंकि ज्ञान का उपयोग कर्म में ही होता है; शिव-शक्ति का साथ, अर्ध-नारीत्वेन, ठीक ही है, दोनो ही इच्छात्मक तमोमय आनंदमय हैं; इच्छा का संबंध दोनो से, एक ओर ज्ञान से, दूसरी ओर क्रिया से, है। सरस्वती और लक्ष्मी के, तथा विष्णु और ब्रह्मा के, रूप नहीं बदलते, नाम ही कई होते हैं, पर शिव और शक्ति के रूप भी कई होते हैं, प्राधान्येन दो-दो, यथा भव और रुद्र, काम और क्रोध, और शक्ति के गौरी और काली, अन्नपूर्णा, दुर्गा, चंडी आदि। सत्य-ज्ञान नहीं बदलता; क्रिया के भी कतिपय प्रकार बँधे हैं, नहीं बदलते, पर इच्छा के प्रकार असंख्य हैं, और उस के, अर्थात् शक्ति के, व्यंजन के प्रकार भी असंख्य हैं; जितने भी कर्म होते हैं, देव, दानव, मानव, पश्वादि के, सभी इच्छा-प्रेरित हैं।

या देवी सर्वभूतेषु विद्याऽविद्यारूपेण संस्थिता,
निद्रा-तुष्टि-पुष्टि-श्रद्धा-दया-रूपैस्तथैव च,
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमो नमः।
विद्याः समस्ताः तव, देवि !, भेदाः,
स्त्रियः च सर्वाः स-कलाः जगत्सु। इत्यादि। (दुर्गा-सप्तशती)

४५. **इकार शक्तिवाचक**—विद्या, अविद्या, निद्रा आदि, तथा सब विविध शास्त्रों का ज्ञान, तथा सब स्त्रियाँ और सब कला भी उसी एक देवी के बहुविध रूप हैं। पाणिनि के व्याकरण मे चौदह माहेश्वर सूत्र हैं; पहिला सूत्र 'अ इ उ ण्' है; अ और उ तो प्रणव मे स्पष्ट हैं, म के स्थान मे ण है; इ शक्ति का वाचक है, वह प्रणव के 'अ' मे और 'म' मे लीन है, छिपी है। ज्ञानेंद्रिय देख पड़ते हैं, कर्मेंद्रिय भी; पर इच्छा नहीं देख पड़ती, न उस का अधिष्ठान शरीर का जो अंग है; अंग्रेजी मे उसे 'न्यूरोसाइट' कहते हैं, वह देख पड़ता है, शरीर चीरने पर अणुवीक्षक यंत्र से; परमात्मा की इच्छा ही माया शक्ति है, उस की इच्छा से ही जगत् बनता बिगड़ता रहता है।

४६. ज्ञान और विज्ञान के भिन्न अर्थ—गीता मे 'ज्ञान' शब्द का अर्थ 'प्रज्ञान', प्रकृष्ट उत्कृष्ट ज्ञान, 'मेटाफ़िज़िक', फ़िलौसोफ़ी', परा विद्या, आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या, 'सर्वविद्या-प्रतिष्ठा' है। उस का अंग, अंश, ही अध्यात्म-विद्या, जीव (चित्त)-विद्या है। 'विज्ञान' का अर्थ, अपरा विद्या, अधिभूत-शास्त्र, 'सायंस', सैकड़ों प्रकार के। 'ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा' 'ज्ञान-विज्ञान' आदि। एक श्लोक मे दोनो का रूप दिखाया है,

> यदा भूतपृथग्भावं एक-स्थं अनुपश्यति,
> ततः एव च विस्तारं, ब्रह्म संपद्यते तदा (गीता)
> द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवाऽपरा च। (मुंडक. उप.)

अनंत भूतों पदार्थों के पृथक्त्व को, मूलप्रकृति के नानात्व को, एक मे, पुरुष परमात्मा मे, केंद्रित देखता है—यह आत्म-विद्या, परा विद्या, 'यया तद् अक्षरं अधिगम्यते' हुई। फिर उसी एक मे से असंख्य नाना के विस्तार को देख समझ लेता है—यह अपरा विद्या, अधिभूत विद्या, वि-ज्ञान, विशेष पदार्थों का, परस्पर-कार्य-कारण-भाव से संबद्ध, द्रव्यों और उन की शक्तियों का, ज्ञान; जब ये दोनों ज्ञान जीव को हो जाते हैं, तब उस का ब्रह्म अर्थात् ज्ञान संपन्न सम्पूर्ण हो जाता है और वह जीवात्मा स्वयं ब्रह्म हो जाता है, अर्थात् अपनी और परमात्मा की तात्त्विक एकता को पहिचान लेता है, जीवन्मुक्त हो जाता है, सब शंकाओं, भयों से, विशेषतः मृत्यु के भय से, जो सब भयों का सार है, मुक्त हो जाता है, क्योंकि उस को निश्चय हो जाता है कि मै अमर, अजर, अनंत, अपरिमित हूँ। तब वह शांत मन से सब धार्मिक कृत्य करता है, धर्म-विहित मारने मरने से नहीं हिचकता।

४७. अति का वर्जन, योग से भी और साधारण व्यवहार मे भी, हितकर; गौतम बुद्ध का उदाहरण—उस योग को जिस से परमात्मा पहिचाना जाता है सिद्ध करने के उपायों मे मुख्य उपाय है, 'अति का वर्जन';

> नाऽति-अश्नतः तु गोऽस्ति, न च एकांतं अनश्नतः,

न चाऽति स्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नाऽति चाऽर्जुन !

बहुत खाने वाला भी योग नहीं साध सकता, न अनशन करने वाला; न बहुत सोने वाला न सदा जागने वाला—अतः बीच का मार्ग पकड़ना चाहिये।

वनस्थ के लिये मनु की आज्ञा है 'क्रमशो वर्धयेत् तपः' गीता में भी उस तपस् को आसुर और तामस कहा है जो शरीर मे स्थित भूत-ग्राम का कर्षण शोषण करता है।

कर्षयंतः शरीरस्थं भूतग्रामं अचेतसः,
मां चैवाऽन्तःशरीरस्थं; तान् विद्धि आसुर-निश्चयान्।

बीच का रास्ता पकड़ो, अति, सभी बात की, बचाओ। बुद्ध ने भी अपने प्रचारित धर्म को 'मज्झिम पटिपदा', मध्यम परिपाटी, नाम दिया है। उन के जीवन का एक वृत्त प्रसिद्ध है; ध्यान मे मग्न, एक वृक्ष के नीचे बहुत दिन तक बिना अन्न जल के रह गये, एक दिन अति क्षीण हो जाने से निःसंज्ञ हो कर गिर गये, भूमि पर पड़े रहे; सुजाता नाम की कन्या ने देखा, घर से शुद्ध दूध लाई, धीरे-धीरे बुद्ध के मुख मे एक-एक बूँद डाला। कुछ देर मे संज्ञा लौटी; स्वयं शिक्षा, अपने अनुभव से, पाई, कि मध्यम मार्ग पर चलो। आज काल भारत मे, जीवन के सब विभागों मे अत्यंत 'अति' का राज हो रहा है, विश्वविद्यालयों से प्रति वर्ष लाखों की संख्या मे निकलते, डिग्री प्राप्त किये हुओं की 'अति', डाक्टरों की, वकील मुख्तारों की, सर्कारी नौकरों की, कचहरी के मामिलों मुकद्दमों की, मिलों की, दूकानों की, स्कूलों की अत्यन्त अति; सर्वोपरि, जनसंख्या की नित्य-नित्य भयंकर अत्यन्त वृद्धि। फल भी प्रत्यक्ष है। नित्य वर्धमान घोर घोरतर जीवन-संग्राम।

अति के वर्जन का उपदेश आध्यात्मिक योग का ही साधक नहीं है, अपितु सभी साधारण व्य वहारिक कार्यों मे भी हितकर है; यथा अध्ययन मे अति परिश्रम करने से भी विद्यार्थी को क्षय रोग हो सकता है, अति व्यायाम के अति-कर्षण से श्वासकास, क्षय भी; आयुर्वेद मे दो प्रकार

के यक्ष्मा, अर्थात् क्षय, कहे हैं, अनुलोम और प्रतिलोम; अनुलोम तो मस्तिष्क मे आरम्भ हो कर नीचे उतरता है, हृद्रोग, पुप्फुसरोग, मंदाग्नि आदि उत्पन्न करता है; प्रतिलोम, अति मैथुन और वीर्य-हानि से जननेन्द्रिय में शैथिल्य उत्पन्न कर के ऊपर को चढ़ता है, और मृत्यु मे परिणत होता है, जैसे अग्निवर्ण, और आज काल सहस्रों लक्षों का, जैसा सभी वैद्य डाक्टर हकीम अच्छी रीति से जानते हैं।

४८. 'योग' की कई परिभाषा—योग की कई परिभाषा गीता में की गई है, 'योगः कर्मसु कौशलं', 'समत्वं योगः उच्यते', 'दुःखसंयोगवियोगः योग-संज्ञितः', अर्थात् जिस उपाय से दुःख से संयोग का वियोग हो जाय, दुःख मिट जाय, वह। 'अमरकोष' मे कहा है, 'योगः सन्नहन-उपाय-ध्यान-संगति-कर्मसु', सन्नहन, सन्नद्ध होना, सेना मे जब पुकार होती है' 'योगो योगः', शत्रु आ गये, अति शीघ्र शस्त्रास्त्रों से योग करो, उन को उठा लो, युद्ध के लिये सन्नद्ध हो जाओ; एवं, सभी उपाय योग हैं, इस युक्ति से यह कार्य सधैगा, यह प्रतिज्ञा सिद्ध होगी; ध्यान का विषय तो चला ही है; योग-सूत्र-भाष्यादि मे प्रतिपादित है; संगति, दो पदार्थों का संगम, और भी अनेक अर्थ हैं, और उन मे प्र-योग इस शब्द के होते हैं, यथा वैद्यक मे 'योग', नुस्खा, 'रेसीपी', के अर्थ मे आता है; कल्प शब्द भी यही आशय रखता है, 'इति एको योगः, वा कल्पः; इति अपरो योगः वा कल्पः'; 'युग', जूआ, बैलों के कंधों पर रखने का, जिस से दो बैलों का संयोग होता है, अंग्रेजी मे 'योक्', स्त्री-पुरुष के विवाह को अंग्रेजी मे 'कौन्-ज्युगै-लिटी' कहते हैं, इति प्रभृति। किन्तु सभी अर्थों मे एक भाव अनुस्यूत है, दो पदार्थों का एक मे मिलना; मन को, चित्त की, किसी पदार्थ से, मुख्यतः जीवात्मा को परमात्मा से, मिलाना, जोड़ना, ध्यान द्वारा, यह प्रस्तुत 'योग' है।

४९. चंचल मन का निग्रह कैसे हो? इसका उत्तर, अभ्यास और वैराग्य से—मन तो बहुत चंचल है, कैसे स्थिर कर के परमात्मा मे लगाया जाय?

चंचलं हि मनः, कृष्ण !, प्रमाथि बलवद् दृढं;
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करं ।

उस का निग्रह करना मानो वायु को रोक देना ।

अभ्यासेन तु, कौंतेय !, वैराग्येण च गृह्यते ।

विषयों से वैराग्य करना, अभीष्ट की ओर पुनः पुनः लगाना, 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः"—(यो० सू० अ० १, सूत्र १२) यही उपाय है । योगसूत्रों मे कई उपाय कहे हैं, अंत में 'यथाभिमतध्यानाद्वा', जो ही वस्तु तुम्हें अधिक प्रिय हो उसी के मानस चित्र पर ध्यान जमाओ । यदि सुन्दर पुष्प, वा पशु, वा पक्षी, वा चमकते हीरक, नीलम्, माणिक्य आदि जो ही तुम को अति प्रिय हो उसके मानस चित्र पर, अथवा उसी वास्तविक पदार्थ पर, सुन्दर मूर्ति वा चित्र पर, मन लगाओ, क्रमशः स्थिर एकाग्र हो जायगा, स्वतः अन्य पदार्थों से विरक्त हो जायगा; एवं अभ्यास-वैराग्य से एक दिन परमात्मा मे भी लग जायगा । जैसे लक्ष्य-वेध साधने वाला धनुर्बाण से, वा राइफ़ल से, आरंभ मे पास के स्थूल पदार्थों पर प्रयोग करता है, क्रमशः दूर-दूरतर और सूक्ष्म-सूक्ष्मतर वस्तुओं पर, एक दिन अति दूर अति सूक्ष्म लक्ष्य को भी वेध लेता है ।

५०. अनाहत नाद का अभ्यास । वह प्रणव की ध्वनि ही है— अभ्यासी योगी प्रायः अनाहत नाद सुनने का अभ्यास करते हैं । अनाहत वह जो दो घन वस्तुओं की परस्पर आहति के विना सुन उत्पन्न होते हैं; अंतर्मुख वृत्ति कर के, श्रोत्र आदि सब इन्द्रियों को अपने विषयों से हटा कर, आँख मूद कर ध्यान करने से कपाल के भीतर दोनों कानो के बीच मे मृदु, मधुर, वंशीनाद के ऐसा शब्द अविच्छिन्न प्रवाह से सुन पडता है, वह अनाहत नाद है । आहत नाद सब सादि सान्त होते हैं; अनाहत नाद अनादि अनन्त है । 'नादबिंदूपनिषत्' 'हंसोपनिषत्' आदि मे कहा है कि अभ्यासी को मेघ-गर्जन के ऐसे शब्द से आरम्भ कर के अंत मे वीणा और वंशी के से सुन पड़ते हैं । यही अनाहत नाद, वैशेषिक दर्शन के शब्दों मे नाद-सामान्य है; आहत नाद, विशेष है; सत्ता-सामान्य

परमात्मा ही है, केवल शुद्ध सत्ता, निर्विशेष, 'अहं', 'ब्रह्म' ही है; जीव, चरम विशेष है, उस से नीचे अन्य कोई विशेष नहीं है, उस के खंड नहीं किये जा सकते; और यही गुण परमात्मा का भी है, उस के भाग असंभाव्य हैं; अतः जीवात्मा परमात्मा एक ही है। अंग्रेज़ी में कहावत है, 'एक्सट्रीम्स मीट', दोनो अंतिम कोटि, छोर मिल जाती हैं, जैसे सर्प के मुख और पुच्छ को मिलावै तब। सर्प के रूप मे, पुराणो मे, अनेक रूपक कहे हैं, अनंत शेष, समुद्र-मंथन मे मंदर पर्वत का वेष्टक मंथानक वासुकि, आदि। पुराणो को, रामायण महाभारत इतिहासों को, पुनः पुनः पढ़ने और गंभीर विचारने से कुछ कुछ अर्थ, कुछ रूपकों के, समझ मे आ सकते हैं, सो भी संदिग्ध रूप में; क्योंकि निश्चित रूप से अर्थ को जानने के लिये पुराणकार वेदव्यास, पराशर, आदि के ही इतना ज्ञान होना चाहिये, जिन्हों ने बुद्धिपूर्वक उन को बनाया है।

यह अनाहत नाद ही प्रणव की ध्वनि है, और अव्यक्त ब्रह्म का आदिम व्यंजन और नाम है, 'सर्वं ज्ञानं प्रकर्षेण नवीकरोति, ततः प्रणवः'; इस के अन्य पर्याय, दस बारह, कोष मे कहे हैं, सब बहुत अर्थ-गर्भ हैं; उन की विस्तृत व्याख्या मै ने 'मानव-धर्म-सारः' नाम के ग्रंथ मे, यथा-बुद्धि करने का यत्न किया है।

५१. प्रणव के संयोजक अक्षरों का सर्वोत्कृष्ट अर्थ :—पहिले, अ-उ-म के बहुत अर्थों की सूचना की; पर सब से अधिक उत्कृष्ट अर्थ यह है, अर्थात् 'अ' का 'अहं', 'उ' का 'एतत्', 'म' का 'न'; तीनों मिल कर 'अहं-एतत् न' ऐसा महावाक्य बनता है। क्या बात हुई ? इस से, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा', ब्रह्म-जिज्ञासु का संतोष कैसे हो ? 'यन्नेति नेति वचनैः निगमाः अवोचन्' न-इति, न-इति, जो भी कोई व्यक्त पदार्थ ले कर कहा जाय कि यह ब्रह्म है, परमात्मा है, तो नहीं है, नहीं है, ऐसे निषेध किया जाता है, वेदों मे, निगमो मे; पर यह तो कुछ भी नहीं हुआ, यह नहीं, वह नहीं, इस से मेरा संतोष कैसे हो ? क्या है, यह बताओ, 'तन्न', 'तन्न' कहना व्यर्थ है; 'तत् किं', 'तत् किं' बताओ।

प्रथम-पुरुष के शब्दों को छोड़, उत्तमपुरुष के शब्दों मे कहा जाय, तब संतोष हो । अर्थात् 'तद् अहम्', 'तद् अहम्' ।

'अस्ति ब्रह्म' इति चेद् वेद, परोक्षं ज्ञानं एव तत्;
'अस्मि ब्रह्म' इति चेद् वेद, प्रत्यक्षं ज्ञानं अस्ति तत् ।

'ब्रह्म है' कहा तो परोक्ष ही ज्ञान हुआ; 'ब्रह्म हूँ' जब कहै तब उसका बोध अपरोक्ष, साक्षात् , प्रत्यक्ष होता है । जैसे पहिले कह आये, अकबर इलाहाबादी ने भी यह मर्म पहिचाना है,

ज़ाहिदे गुम्राह के मै किस तरह हम्राह हूँ ?
वह कहै अल्लाह है, और मै कहूं अल्लाह हूँ !

सत्य से भटकता मुल्ला कहता है कि अल्ला है, ऐसे के साथ मै कैसे चलूँ ? मै कहता हूँ कि अल्लाह हूँ । कितने ही अन्य सूफ़ियों ने ऐसा ही कहा है ।

एक बार यह समझ मे आ गया कि 'मैं यह (शरीर) नहीं हूँ' तब फिर उपनिषदों मे, गीता मे; बीसियों स्थलों मे यही देख पड़ने लगता है जहाँ पहिले सर्वथा गुप्त था । शंकराचार्य ने व्यासकृत ब्रह्म-सूत्रों पर शारीरक भाष्य लिखा; प्रथम सूत्र के भाष्य मे लिखा है, 'युष्मद्-अस्मत्-प्रत्यय-गोचरयोः विषय-विषयिणोः तमः-प्रकाशवद्-विरुद्ध-स्वभावयोः इतरेतर-भावाऽनुपपत्तौ सिद्धायां' इत्यादि । वाचस्पति मिश्र ने भाष्य पर 'भामती' नाम की अपनी टीका मे इस पर लिखा है, 'इदं-अस्मत्-प्रत्यय-गोचरयोः इति वक्तव्ये युष्मद्ग्रहणं अत्यंत-भेदो-पलक्षणार्थं', 'अहं-इदं (न)' कहना उचित था, सो न कह कर 'अहं-त्वं, (न)' कहना, दोनो का, अर्थात् विषय और विषयी का, द्रष्टा और दृश्य का, केवल अत्यंत भेद दिखाने के लिये कहा; अन्यथा 'मै तुम (नहीं)' कहना सर्वथा अनुचित था । व्याकरण का प्रसिद्ध श्लोक है,

इदमः तु सन्निकृष्टं, समीपतरवर्ति च एतदो रूपं,
अदसः तु विप्रकृष्टं, तद् इति परोक्षे विजानीयात् ।

निकट के लिये इदं, और अधिक समीप के लिये एतत्, दूरवर्ती के लिये

अदः, परोक्ष के लिये तत् शब्द कहते हैं, जो सर्वथा व्यवहित हो, देख न पड़ता हो।

५२. गीता, उपनिषत्, आदि मे यह महावाक्य—अब देखिये, गीता मे यह महावाक्य, 'अहं-एतत्-न', रूप बदल-बदल कर कितने बार आता है। सप्तम अध्याय मे 'मत्तः' अहमः, परतरं अन्यत् एतत्, न, मैं यह शरीर, अथ च सर्व दृश्य पदार्थ, मुझ विषयी का विषय नहीं हूँ। नवमाऽध्याय मे 'मां', अहमं अनन्य-मनसः' 'अहं एतत् न' ऐसी बुद्धि स्थिर कर के। ऐसे ही विष्णु-भागवत मे, देवी-भागवत में योग-वासिष्ठ मे, महाभारत मे, उपनिषदों मे, कहीं 'अनिदं' के रूप मे, विशेषतः वराह-उपनिषत् मे 'अहं एव सुखं, न अन्यत्', महाभारत मे 'सोऽहमेव, न मेऽन्योऽस्ति' (अनुशासन पर्व, अ० १६८)। पर सब से अधिक विस्पष्ट चरकसंहिता के शारीर-स्थान के प्रथम अध्याय मे दिखाया है।

यावन् न उत्पद्यते सत्या बुद्धिः 'न-एतद्-अहं' यया,
'न-एतन्-मम' इति विज्ञाय, ज्ञः (आत्मा) सर्वं अधितिष्ठते।

जब (तक) यह सच्ची बुद्धि, मनुष्य के हृदय मे (नहीं) उत्पन्न होती (है) कि, "मैं-यह-नहीं (हूँ)" तथा "यह-मेरा-नहीं (है)", तब (तक), ज्ञः आत्मा सर्व जगत् के ऊपर अधिष्ठित होता है। योग-सूत्र (अ० २, सू० ५), एवं (अ० ३ सू० ५४), का यही आशय है। बुद्धदेव ने कहा है 'यद् अनात्मा तद् एतन् मम', अर्थात् यह दृश्य अनात्मा मेरा है, मैं उस का नहीं, न मैं अनात्मा हूं, 'न-एषः (एतत्) अहं अस्मि', इत्यादि पुनः पुनः भिन्न-भिन्न अवसरों पर यह महावाक्य कहा गया है। विष्णु-भागवत मे 'अहं एव न मत्तोऽन्यत्, इति बुध्यध्वं अंजसा'। स्यात् अच्छा होता यदि चरक मे भी, 'न एतन् मम' के स्थान में 'च एतन् मम' लिखा होता, अर्थात् यह देह मैं नहीं हूँ, किंतु यह मेरा है, मेरा परिग्रह, धन, मिल्कीयत है, मै इस देह का और सब दृश्य का मालिक हूँ, स्वामी हूँ; जैसा योगभाष्य मे कहा है, 'चित्तं दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः' (१.४)। किन्तु यदि 'न मम' का अर्थ यों लगाया जाय कि इस देह मे

मुझे आसक्ति नहीं है, तो प्रचलित पाठ भी ठीक है; योगवासिष्ठ में भी एक स्थान पर लिखा है, 'नाऽहं देहो, न मे देहः'। देवीभागवत में, (स्कं० १, अ० १५)

> श्लोकाऽर्धेन तया प्रोक्तं भगवत्याऽखिलाऽर्थदं,
> सर्वं खलु इदं एव 'अहं-न-अन्यद्' अस्ति सनातनं।

'अखिलाऽर्थदं' और योग-सूत्र (अ० १, सू० २५, २७) 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञताबीजं', 'तस्य वाचकः प्रणवः' का एक ही अभिप्राय है।

५३. इस महावाक्य से जगत् का सृष्टि-स्थिति-संहार कैसे सिद्ध होता है ? इस प्रश्न का उत्तर—अच्छा, यह तो हुआ कि ब्रह्म का, परमात्मा का, तात्त्विक स्वरूप यह है कि 'मैं-यह-नहीं हूँ', पर इससे जगत् की सृष्टि, रक्षा, संहार, क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र का कार्य कैसे सिद्ध होता है ? तो ऐसे, 'मैं यह' ध्यान करते ही असंख्य शरीर उत्पन्न हो गये और 'अहं' से, 'मैं'-रूपी चेतना से, जीवों से, अनुप्राणित हो गये, ब्रह्मा का, जगत् के बृंहण प्रसारण का कार्य हुआ; जब तक वह ध्यान-संकल्प, स्थिर रहा, तब तक शरीर बने रहे, विष्णु का कार्य हुआ, 'विसिनोति सर्वान् पदार्थान्, विशति च सर्वेषु', सब पदार्थों को एक मे सीये गूथे रहता है, सब मे प्रविष्ट है, अतः 'विष्णु' शब्द के संकेत से कही सर्व-व्यापिनी चेतना का, 'मैं', 'अहं', परमात्मा का, ही नामांतर रूपांतर; महावाक्य का दूसरा अंश 'यह नहीं' ध्यान मे आया तो देह की मृत्यु हुई, संहार हुआ, रुद्र का कार्य हुआ, 'रोदनात् रुद्रः', 'मरे मनुष्य के चारो ओर रोना-धोना होने लगता है। यह तीनो कार्य समग्र संसार मे संतत चलते रहते हैं, एक स्थान में देहधारी जीव का जन्म, दूसरे मे यौवन, तीसरे मे मृत्यु। अनन्त क्रम, भूत-भवद्-भविष्य का, जन्म-स्थिति-मरण का, चल रहा है। महावाक्य के दोनों अर्धों को एक साथ ध्यान मे लाओ, हूँ भी और नहीं भी, तो एक ही क्षण मे, परस्पर विनाशन से, क्रम का अभाव हो जाता है, उत्पत्ति-विनाश एक साथ ही हो जाते हैं, परमात्मा की निष्क्रि-

यता सिद्ध होती है। देखिये, मन मे लाइये, 'इस स्थान मे अश्व नहीं है', अश्व का कल्पन हुआ, अस्तित्व हुआ, मानस चित्र सामने आ गया, पर है तो नहीं, अतः उसी क्षण मे उस का अभाव भी सिद्ध हुआ। परमात्मा की पारमार्थिक दृष्टि से, 'ट्रांसेन्डेंटल व्यु' से, सब सृष्टि-स्थिति-संहार एक ही क्षण मे तीनो हैं, अर्थात् कुछ भी नहीं हैं, सर्वं शून्यं, मा-या, या-मा, है भी नहीं भी, निष्क्रम। इस के विपरीत, जीवात्मा की व्यावहारिक दृष्टि से, 'एंपिरिकल व्यु' से, तीन क्रम, त्र्यध्वा काल, देख पड़ता है, सब वास्तविक है, 'रीयल्' है। संसार का भ्रमत्व, मिथ्यात्व, स्वप्नत्व तो प्रत्यक्ष है, चर्म-चक्षु से देख पड़ता है। दो विश्व युद्ध हो गये, कोटियों स्त्री-पुरुष मारे गये, सहस्र-सहस्र फुट लम्बे अतिविशाल-काय युद्धक पोत्र नष्ट हो गये, नगर के नगर, हिरोशीमा, नागासाकी, एक-एक क्षण मे हवा हो गये, स्मृति मात्र मे रह गये। 'प्रतिक्षण-परिणामिनी प्रकृतिः', कोई वस्तु दो क्षण भी एक सी नहीं बनी रहती, बदलती ही रहती है। जान पड़ता है कि महाशिला अपरिणामिनी है, पर सूक्ष्म रूप से वह भी बदलती रहती है, सैकड़ों वर्ष मे उस का परिणमन जान पड़ता है; कभी-कभी तो, भारी भूकंप मे, कुछ क्षणो मे ही भारी परिवर्तन हो जाता है, जैसे हम लोगों की आँखों के सामने, क्वेटा, विहार, आसाम मे हुआ। कृष्ण के समय की द्वारका, युधिष्ठिर के इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर, आज कहाँ हैं; बुक्कराय, कृष्णराय, सायण, माधव, के समय की किष्किधा को भारतीय विद्वान् भी भूल ही गये थे, एक अंग्रेज, सिवेल, ने भग्नावशेषों से पता लगाया और 'ए फौरगौटन् एम्पायर्' नामक उत्तम अतिरोचक ग्रन्थ मे उसका इतिहास लिखा। कहते हैं कि यही बाली और सुग्रीव की राजधानी थी। जिसे अब, उस प्रांत की भाषा मे, हम्पी पुकारते हैं। हिमालय की चोटियों पर समुद्र के जन्तुओं की अस्थियाँ पायी गयी हैं, जिस से अनुमान होता है कि यह महा पर्वतराज किसी समय मे, न जाने कै लाख वर्ष पहिले समुद्र के नीचे था। जहाँ आज महाद्वीप है वहाँ किसी समय समुद्र था,

जहाँ समुद्र वहाँ महाद्वीप; पाश्चात्य विज्ञान इसको मानता है। योगवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण मे राम ने बहुत विस्तार से कहा है, 'शैला अपि विशीर्यंते', 'शुष्यंत्यपि समुद्राश्च', 'धराऽपि याति वैधुर्यं', 'सोमोऽपि व्योमतां याति', 'मार्तंडोऽप्येति खंडतां', इत्यादि, अर्थात् पर्वत चूर हो जाते हैं, समुद्र सूख जाते हैं, समग्र पृथ्वी, सूर्य, चंद्र, तारा, नष्ट हो जाते हैं। यह प्रति-क्षण-परिणाम का प्रभाव है। इसको समझ कर असार संसार से विरक्त हो, और अपरिणामि अनश्वर अजर अमर वस्तु को खोजो और पहिचानो कि वह तुम ही हो, 'तत् त्वं असि, श्वेतकेतो !', और पहिचान कर, स्थितप्रज्ञ होकर, स्व-धर्म को निबाहो।

५४. यह समझ कर बुद्धिमान्, कृतकृत्य, स्थितप्रज्ञ हो जाओ—'एतद् बुध्वा बुद्धिमान् स्यात्, कृतकृत्यश्च भारत !' घुमा-फिराकर वही उपदेश।

कृष्ण ने अर्जुन से कहा,

> इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहं अव्ययं,
> विवस्वान् मनवे प्राह, मनुः इक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।

अर्जुन ने पूछा,

> अपरं भवतो जन्म, परं जन्म विवस्वतः ;
> कथं एतद् विजानीयां, त्वं आदौ प्रोक्तवान् इति ?

विवस्वान् सूर्य का, अथवा तन्नामक किसी अति प्राचीन महापुरुष का, जन्म तो पहिले हुआ, आप का थोड़े वर्ष हुए, कैसे जानूं कि योग का उपदेश आप ने पहिले किया ?

उत्तर हुआ;

> बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि, तव चाऽर्जुन !'
> तानि अहं वेद सर्वाणि, न त्वं वेत्थ, परंतप !

मेरे बहुत जन्म हुए, तुम्हारे भी; मुझे सब याद हैं, तुम्हें नहीं। आगे और कहा,

> बहूनां जन्मनां अंते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

बहुतेरे जन्मो मे, धीरे-धीरे, बुद्धि, विद्या, ज्ञान की वृद्धि करते-करते, मुझे, परमात्मा को, अपने को, जीव पहिचानता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि,
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि, अन्यानि नवानि देही।

जैसे मनुष्य जीर्ण शीर्ण पुराने कपड़ों को हटाकर, नये पहिनता है, वैसे ही जीव जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़ कर नये शरीर को धारण करता है।

५५. जगत् का क्रमिक विकास-संकोच और चौरासी लाख योनियों में जीव का आवा-गमन—इन श्लोकों में समस्त जगत् के क्रमिक विकास-संकोच, 'इवोल्युशन् इन्वोल्युशन', 'मैनिफ़ेस्टेशन-डिस्सोल्युशन्', व्यंजन-भंजन, का बीज रख दिया है, और जीव का पुनर्जन्म होता है यह स्पष्ट कहा है; बृहद्विष्णुपुराण मे कहा है,

स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नवलक्षकं,
कूर्माश्च नवलक्षं स्युः, दशलक्षं च पक्षिणः,
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च, चतुर्लक्षं च वानराः,
ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्।

चौरासी लाख योनि हिंदुओं मे प्रसिद्ध है। उसकी गणना उक्त श्लोकों मे की है; बयासी ही होती है, उस मे दो लाख मनुष्य की जातियों को मिलाने से चौरासी पूरी होती हैं। बृहद्विष्णुपुराण अब मिलता नहीं है। उपलब्ध प्राचीन किसी ग्रंथ मे ये श्लोक उद्धृत होने से मिल गये हैं। बीस लाख प्रकार के स्थावर, वृक्ष, वनस्पति, वल्ली, लता आदि उद्भिज्ज, स्वेदज; नौ लाख प्रकार के जलजंतु, सूक्ष्म से सूक्ष्म कीट आदि और बृहत् से बृहत् ह्वेल, मकर, तिमिंगिल, आदि; नव लाख कच्छप आदि, जिन मे नक्र, मगर, सर्प आदि सब अंडज जल-जन्तु हैं; दस लाख पक्षियों के भेद जो भी अंडज हैं; तीस लाख पशु-जाति, चार लाख वानर, दो लाख मानव, जो सब पिंडज हैं। ठीक यही क्रम,

जीवों के विकास का, पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने, डार्विन् , वालेस् , आदि ने माना है। इन चौरासी मे से कितनी ही काल के प्रवाह से लुप्त हो गईं, कितनी नई भी उत्पन्न हुईं, कई लाख अब भी मिलती हैं; यदि गिनना संभव हो तो स्यात् चौरासी लक्ष से भी अधिक मिलें। अभी, कुछ वर्ष हुए, एक दल, भारतीय विशेषज्ञों का, यह ढूंढने को कि पक्षियों की कितनी जातियाँ वहाँ मिलती हैं, नैपाल, हिमालय, तिब्बत मे खोजता फिरा, नौ सौ से अधिक मिलीं, ऐसा समाचारपत्रों मे छपा था। वर्षा मे दीपकों के पास पतंगों की सैकड़ों जातियाँ मडराती देख पड़ती हैं।

५६. पुनर्जन्म मे विश्वास मानवमात्र मे सदा व्याप्त रहा और है—पुनर्जन्म की बात कही। हिंदू-मात्र मानते हैं, अंग्रेजी रीति से नव-शिक्षित कुछ थोड़े सर्वज्ञंमन्य युवा सज्जनो को छोड़ कर। मुसलमान ईसाई पहिले नहीं मानते थे, पर अब उन मे भी सभी शिक्षित विचारशील स्त्री-पुरुष मानने लगे हैं। इन के सब प्रसिद्ध दार्शनिक और वैज्ञानिक, प्रत्येक शती मे, मानते रहे हैं; मुस्लिम सूफ़ी तो प्रायः सभी; न बाइबल् मे, न क़ुरान मे, कहीं कहा है कि पुनर्जन्म नहीं होता; प्रत्युत, ऐसे कई वाक्य ईसा और मुहम्मद के मिलते हैं जिन से सिद्ध होता है कि वे पुनर्जन्म मे विश्वास करते थे। आफ़्रिका की सब बर्बर जातियाँ सदा से इसे मानती रही हैं!

क्रमिक विकास-संकोच पर मैने 'एसेंशल् युनिटी औफ़् औल् रिलिजन्स' नाम के ग्रंथ मे बहुत विस्तार से लिखा है और भिन्न धर्मों के धर्म-ग्रंथों से पचासों उद्धरण, इन के समर्थक, उद्धृत किये हैं।

५७. पुनर्जन्म का आध्यात्मिक प्रमाण—पुनर्जन्म का आध्यात्मिक प्रमाण, तर्क द्वारा, क्या है, इसे अब देखना चाहिये। इस लोक मे जन्म के क्षण मे मानव जीव की सृष्टि और मरण पर विनाश; न पहिले कुछ न पीछे; वा मरणान्तर अनंत स्वर्ग वा अनंत नरक, अति स्वल्प काल मे किये पुण्य वा पाप के फल मे; यह सर्वथा बुद्धि-

विरुद्ध न्याय-शून्य स्पष्ट ही है। जिस हेतु से परमात्मा को मानव शरीर धारण करना पड़ा, क्या वह एक ही बार ऐसी प्रेरणा कर के शांत हो जायगा ? यह नितांत असंभव है; अवश्यमेव पुन: पुन: धारण करावेगा। एवं, पचास, साठ, वा अधिक से अधिक डेढ़ दो सौ वर्ष मे किये पुण्य के फल मे अनंत स्वर्ग और पाप के अनंत नरक, यह भी किसी प्रकार मन में नहीं बैठता। ऐसे विचारों से पश्चिम के लिखित पठित स्त्रियों ने पुनर्जन्म मे विश्वास को धारण किया।

जड़वादी मनुष्यों के लिये, जो समझते हैं कि शरीर से भिन्न कोई जीव पदार्थ है ही नहीं, उन के लिये अखंडनीय युक्तियों से सिद्ध कर चुके हैं कि 'अहं' पदार्थ चेतन, 'इदं' पदार्थ जड़ से अवश्यमेव भिन्न है और अविनाशी। पुनरपि थोड़े मे कह दें। शरीर प्रतिक्षण बदलता रहता है; ८९ (नवासी) वर्ष पहिले, बाल्यावस्था में, मेरा शरीर जैसा था, वैसा अब वृद्धावस्था मे तनिक भी नहीं है किंतु "मै" चेतनारूपी जीव, वही बना है; दस वर्ष की अवस्था मे पाठशाला मे पढ़ता था, पंद्रहवें वर्ष मे विद्यालय मे, पैंतीसवें वर्ष कश्मीर गया यह सब बात मेरी स्मृति मे बनी है और ऐसे अन्य सहस्त्रों अनुभवन; अत:, बदलते हुए भावों मे जो न बदलै, वह अवश्य उन से भिन्न है।

५८. मानव जीव का आरोह ही होता है वा अवारोह भी ? **इस का उत्तर**—मानव जीव का, क्रमेण, आरोह ही होता है, वा अवारोह भी ? हिन्दुओं मे यह विश्वास है कि मनुष्ययोनि मे आ कर, पुन: पशु योनि मे भी जा सकता है। वृन्दावन मथुरा मे, जहां बन्दर बहुत हैं और बड़ा उपद्रव करते हैं, मुझ से एक चौबे ने कहा, 'हम लोगों का विश्वास यह है कि चौबे मर कर बन्दर होता है, और बन्दर मर कर चौबे होता है', और यह हँसी के भाव से नहीं, वरन् सच्चे विश्वास के भाव से। सैंकड़ों वर्षों से, वृन्दावन मथुरा ही नहीं, बहुतेरे बड़े नगरों मे, विशेषत: तीर्थ स्थानों मे बड़ा उपद्रव करते हैं; और हिंदू-दास की बुद्धि ऐसी भ्रष्ट हो गयी है कि उन दुष्टों को

मारना पाप समझती है; भूल जाती है कि भगवान् रामचन्द्र ने वानर-सम्राट् बाली को पहिले मारा, और पीछे, महर्षि के पुत्र किंतु महा पापिष्ठ रावण को तथा समस्त ब्रह्मराक्षस कुल को मारा; धर्मिष्ठ विभीषण को लंका का राज दिया। गीता मे भी कहा है,

तान् अहं द्विषतः क्रूरान् , संसारेषु नराधमान् ,
क्षिपामि अजस्रं अशुभान् आसुरीषु एव योनिषु ।

मनु ने भी, द्वादशाध्याय मे, कहा है

श्व-शूकर-खर-उष्ट्राणां, गोऽजऽवि-मृग-पक्षिणाम् ,
चंडाल-पुक्कसानां च ब्रह्महा योनिं ऋच्छति ।
कृमि-कीट-पतंगानां विड्भुजां चैव पक्षिणां,
हिंस्राणां चैव सत्त्वानां, सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ।

मैं, कृष्ण, अर्थात् परमात्मा, क्रूर द्रोहशील अधम नर नारियों को पुनः पुनः आसुरी योनि मे जन्माता हूँ। जो ब्राह्मण का वध करता है वह कुत्ते, शूकर, गर्दभ, उष्ट्र, बलीवर्द, बकरी, भेड़ी, हरिण, पक्षी, चंडाल आदि योनियों मे जाता है; मदिरा पीने वाला ब्राह्मण, कृमियों की, फनगों की, विष्टा खानेवाले पक्षियों की, तथा हिंस्र पशुओं की, यथा बिड़ाल; वृक, तरक्षु, व्याघ्र आदि की, योनियों मे गिरता है। ऐसे दस बारह श्लोक और हैं।

क़ुरान के सूरतुल्-बाक़रा और सूरतुल्-मायदा मे भी कहा है कि जो अल्ला का हुक्म नहीं मानतें और उस को ग़ुस्सा दिलाते हैं वे बन्दर और सूअर हो जाते हैं।

तो क्या यह ठीक है, मानने योग्य है? नहीं, इन वाक्यों का अर्थ लगाना चाहिये। जैसे, पाठशाला में कोई आलसी वा दुष्कर्मी छात्र वार्षिक परीक्षा मे उत्तीर्ण नहीं होता, तो उस को उसी कक्षा मे रोक रखते हैं, पुनः अगली वार्षिक परीक्षा मे बैठाते हैं; ऐसा नहीं होता कि नीचे की कक्षा मे उतार दें। मेरा निजी अनुभव है, एक सज्जन प्रावे-

शिकी परीक्षा मे सात बार अनुत्तीर्ण रहे, किंतु लगन और धुन के जीव थे; वी. ए. मे पहुँच ही गये, मेरा उन का साथ हुआ, मेरा वयस् पंद्रह था, उनका पच्चीस। मनुष्य जातियों मे ही, आज तक, आफ्रिका मे कोई-कोई ऐसी बर्बर जातियाँ हैं जो कच्चा भी, पकाया भी, नरमांस खाती हैं, पर अब कम रह गई हैं, और दिनो दिन कम होती जाती हैं; अंग्रेजों तथा अन्य यूरोपीय जातियों, तथा अरबी मुसल्मानो, के शासनो के विस्तार के कारण। सुरापायी ब्राह्मण भी, वाममार्गी नर-बलि काली को चढ़ाने वाले, मनुष्य के गड़े शव को एडूक (क़ब्र) मे से रात्रि के समय निकाल कर, शृगाल-कुक्कुर-लीला से नोच-नोच कर खाने वाले, कुछ वर्ष पहिले तक भारत मे रहे हैं; पर अब स्यात् ही कहीं लुक छिप के ऐसा घोर बीभत्स कर्म होता है। दैनिकों मे बालकों के बलि का समाचार कभी-कभी छपता है। भारत मे मनुष्यों के शव का भक्षण मनुष्यों द्वारा, शीघ्र विश्वास मे नहीं आता है, असंभव ही जान पड़ता है; पर मै ने एक दिवंगत बहुत प्रतिष्ठित विद्वान् ब्राह्मण से ऐसे एक वृत्त का हाल, बहुत वर्ष हुए सुना। नाम नहीं बता सकता, क्योंकि उन के कुल के कुछ सज्जन अभी जीवित हैं। वाम-मार्गी, पंच-मकार-सेवी, ब्राह्मणादि, तथा अन्य द्विज, अब भी भारत मे सहस्रों होंगे। 'अघोर-पंथी' नाम का एक संप्रदाय अब भी वर्तमान है, काशी मे उस के अनुयायी कभी-कभी देख पड़ते हैं।[१]

१—सन् ११५५ के अन्तिम महीनो मे, मेरट जिले मे, गढ़मुक्तेश्वर के मेले मे, दस बारह मनुष्यों को पुलिस ने पकड़ा, जिन पर शंका हुई कि, मेले मे कई बच्चे खो गये थे, उन को इन्हीं ने चुराया—उन नर राक्षसों के झोलों मे कई बच्चों के कटे हुए हाथ पैर व मुण्ड, मांस, निश्चयेन मिले, और उन्होंने स्वीकार किया कि हम लोगों ने इन को खा लिया, काली को बलि देकर; अपने को 'अघोरपंथी' बतलाया और कहा कि हमारे पंथ के मनुष्य काशी मे, तथा अन्य स्थानों मे भी हैं।

५९. शरीर-त्याग के पश्चात् जीव अति दृढ़ सूक्ष्म शरीर धारण करता है और उस मे नरकादि के दुःखों का अनुभव करता है—मानव जीव के अधो-योनियों मे जाने का अर्थ कैसे लगाया जाय ? तो ऐसे; जिस जीव को इस लोक मे अति उत्कट घोर वासनाएँ रहीं, काम की, क्रोध की, ईर्ष्या, लोभादि की, वह देहपात के पश्चात् प्रेत-लोक मे तद्वासनानुरूप आकार पाता है, और वासना के न्यून वा अधिक उत्कटता के अनुसार, थोड़े वा बहुत वर्षों तक, उस आकृति मे पड़ा रहता है; तत्पश्चात् पितृलोक मे जाता है। मनु ने कहा है (अ० १२. श्लो. १६),

पंचभ्यः एव मात्राभ्यः, प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणां,
शरीरं यातनार्थीयं दृढं उत्पद्यते ध्रुवं।

पाँच तत्त्वों की सूक्ष्म अवस्था की मात्राओं से सूक्ष्म शरीर, अति दृढ़, बनता है, जिस मे, पापी जीव, अपने पापों का फल, रौरवादि नरकों की घोर यातनाओं को भोगता है। भोग समाप्त होने पर नरकों से छूटता है। यथा, इहलोक मे अपराधी कारावास से, दण्ड की अवधि समाप्त होने पर छूटता है। और भी,

६०. अंतरात्मा ही यमराज है—

परस्पर-भयात् केचित्, राज-दंड-भयात् परे,
यम-दंड-भयाद् अन्ये, पापाः पापं न कुर्वते।
न यमं यमः इत्याहुः, आत्मा वै यमः उच्यते;
आत्मा संयमितो येन, यमस्तस्य करोति किं ? (म.भा.)
यमो वैवस्वतो देवः, यः तव एष हृदि स्थितः,
तेन चेत् अविवादः ते, मा गंगां मा कुरून् गमः। (मनु.)

कोई दुष्ट दुर्जन, एक दूसरे के भय से, पाप नहीं करते, 'मै उस की हानि करूँगा तो वह भी मेरी हानि करेगा, मै उस को मारूँगा तो वह भी मुझे मारेगा'; कोई राजा के भय से, राजा दंड देगा; कोई यमराज के भय से। पर सच्चा यम तो अपना आत्मा ही है, 'यम' तो एक पौराणिक रूपकमात्र है, अल्प-बुद्धियों को डराने समझाने के लिये। जिस ने अपने

आत्मा का यमन दमन कर लिया है, दुष्ट वासनाओं को रोक रक्खा है, उस का यम क्या कर सकता है ? । यह देव तुम्हारे हृदय मे ही, अन्तरात्मा के रूप मे बैठे हैं, उन को तुम ने यदि रुष्ट नहीं किया तो तुम्हे गङ्गा वा कुरुक्षेत्र के तटकादि मे स्नान करने का प्रयोजन नहीं ।

६१. **प्रेत-पितृ-लोकादि का अपने दैनंदिन अनुभव से प्रमाण। प्रत्यक्ष और उपमान दो ही प्रमाण**—प्रेत-लोक पितृ-लोक सूक्ष्म शरीर आदि की बात अभी कहा; इन मे विश्वास कैसे हो ? प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का अनुमान किया जाता है । कोई दर्शन दो, कोई तीन, कोई चार, पाँच, छ:, आठ तक; पर तत्त्वतः दो ही हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान, अथवा, यतः अनुमान भी उपमान ही पर निष्ठित है, अतः प्रत्यक्ष और उपमान ही कहना ठीक है । अब प्रसक्त मे देखिये; निद्रा की अवस्था मे, विविध प्रकार के स्वप्न होते हैं, कोई बहुत भयावह, कोई बहुत सुखावह; जिन्हों ने दिन मे पाप किया है, उन को भय होता है कि कहीं पकड़े न जाँय, और उन के स्वप्न दुःखमय होते हैं; जिन्हों ने पुण्य किया है, उन का चित्त प्रसन्न रहता है, उन के स्वप्न आनन्दमय होते हैं; स्वप्नावस्था मे जो शरीर रहता है वही सूक्ष्म मानस तत्त्वों से बना सूक्ष्म शरीर है; जैसे जाग्रदवस्था मे मानस भाव, चित्त की, बुद्धि की, वृत्तियाँ स्थूल चक्षु को अदृश्य हैं, वैसे ही स्वप्न का सूक्ष्म शरीर । स्थूल शरीर के पतन के पश्चात् उन सूक्ष्म तत्त्वों से बना शरीर दृढ़ हो जाता है और कर्मानुसार स्वर्ग नरक के स्वप्नवत् सुख दुःख का अनुभव करता है । जितना मंद वा उग्र पाप पुण्य हो, उतना ही अल्प वा दीर्घ काल तक, तथा मृदु वा तीव्र दुःख वा सुख पाता है ।

६२. **यह कैसे निश्चय हो कि पुण्य का फल सुख और पाप का दुःख ही होगा ? उत्तर**—पुनः प्रश्न उठता है कि यह क्या निश्चय हैं कि पुण्य का फल सुख और पाप का दुःख ही होगा ? आधुनिक मानव जगत् मे तो प्रायः यही देख पड़ता है कि पापिष्ठ, हत्यारे, लुटेरे, डाकू, वंचक, विविध पाप कर्मों से बहुत धन एकत्र करके,

सब प्रकार का सुख भोगते हैं, बहु-कोटि पति बन जाते हैं, और भले आदमी बहुधा दुःख ही सहते हैं; "सततदुर्गतः सज्जनः।" ठीक है; पर आज नहीं तो कल; इह लोक मे नहीं तो पर लोक मे, पापी को दंड और पुण्यवान् को पुरस्कार अवश्य ही मिलैगा। इसका क्या निश्चय? तो क्रिया की प्रतिक्रिया, 'ऐकशन्' का 'रि-ऐक्शन्', होगा ही; यह अटल वैज्ञानिक नियम है, स्थूल लोक मे भी, सूक्ष्म लोक मे भी, 'जैसा करो वैसा भरो,' 'ऐज़् यी सो, दस् शैल् यी रीप्' (बाइबल्), 'उन्चे बर् मास्त् अज़ मास्त्', जैसा बोओ वैसा काटो, जो सुख दुःख हम को मिलता है वह हमारे ही किये का फल है। 'एसेन्शल युनिटी औफ़् औल् रिलिजन्स्' नाम की पुस्तक मे मैं ने पचासों उद्धरण, इस विषय के द्योतक, सब जीवद्धर्मों के धर्मग्रन्थों से दिये हैं। मनु ने कहा है,

न तु एव हि कृतोऽधर्मः कर्तुर् भवति निष्फलः,
यदि न ऽात्मनि, पुत्रेषु, न चेत् पुत्रेषु, नप्तृषु।
अत्युग्रपुण्यपापानां इह एव फलं अश्नुते।

बाइबल मे भी, 'आइ ऐम् ए जेलस् गौड्, विज़िटिङ् दि इनिक्विटी औफ़् दि फ़ादर्स अपौन् दि चिल्ड्रेन् ऐंड् चिल्ड्रेंस चिल्ड्रेन्', 'मै, तुम्हारा ईश्वर, बहुत ईर्ष्यालु हूँ, मै नहीं सह सकता कि कोई पाप करै और दंड से बच जाय; यदि वह दंड से बच भी जाय, तो उस के पुत्रों पौत्रों पर दण्ड पड़ता है'। सुनने वाला आश्चारित होगा, 'यह कैसा न्याय!'। प्रत्यक्ष देखिये; उपदंश, मूत्रकृच्छ्र (सिफ़िलिस्, गोनोर्‌हिया) आदि रोग पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं। आयुर्वेद मे चर्म-रोगो के अष्टादश प्रकार कहे हैं, कुष्ठ भी इन्ही मे है, तथा एकजीमा, आर्द्रखर्जूः, शुष्कखर्जूः, उकवत, जिस से स्यात् ही कोई बचा हो; पाश्चात्य वैज्ञानिकों का कहना है कि यूरोप अमेरिका मे स्यात् ही कोई कुल उपदंशादि रोगों से बचा हो; अब इन से अधिक प्राणहानि न होने का हेतु यह है कि 'इम्म्युनाइज़्ड' हो गये हैं, सैकड़ों वर्षों से भोगते-भोगते सह गये हैं। घोर विष भी अति सूक्ष्म मात्रा से आरंभ कर के क्रमशः बढ़ाया जाय तो सह जाता

है। और यदि पुत्र पौत्र, पूर्वपुरुषों के पुण्यों का फल भोगते हैं, उन के संचित धनादि को पाते हैं, तो उन के पाप का फल क्यों न भोगें ?

सुख-दुःख, दूसरे को दिया हुआ, देने वाले पर क्यों लौटता है इस का हेतु पहिले कह आये। सचमुच कोई दूसरा हो तो न लौटे; पर दूसरा कोई है ही नहीं, अतः लौटता है; 'तत् त्वमसि, श्वेतकेतो'। और भी उपनिषद् मे कहा है,

स्वैः एव दंतैः स्वां जिह्वां दष्ट्वा कं परिदेवयेत्।

अपने ही दांतों से अपनी ही जिह्वा यदि कट जाय तो किस से परिदेवन, शिकायत, करै ? दाहिना हाथ यदि बाईं जाँघ से छुरी मार दे, यह समझ कर दक्षिण तो वाम से भिन्न है, तो पीड़ा क्या वाम से लौट कर दक्षिण को न होगी ? कारण यह कि दोनो एक शरीर के अंग हैं, एक ही जीवन से, आत्मा से, अनुप्राणित हैं। ईसा आदि ने उपदेश तो दिया कि दूसरे के साथ वह काम न करो जो तुम न चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करैं, पर हेतु किसी ने नहीं बताया; केवल वेदांत ने बताया।

६३. अनासक्ति और भक्ति का समन्वय। संक्षेप से समग्र ज्ञान-विज्ञान का वर्णन—सप्तम अध्याय मे भक्ति का उपदेश आरंभ किया है,

मयि आसक्तमनः पार्थ !, योगं युंजन्, मदाश्रयः,
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तत् शृणु।

कर्म के फल मे तो अनासक्त हो, पर मुझ पर, परमात्मा पर, सर्वथा आसक्त, आशिक़, हो, तब ही मेरा सच्चा स्वरूप जानोगे।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं इदं वक्ष्यामि अशेषतः,
यज् ज्ञात्वा न इह भूयः अन्यज् ज्ञातव्यं अवशिष्यते।

अब मै तुम से ज्ञान, प्रज्ञान, 'मेटाफ़िज़िक', और विज्ञान 'सायंस' समग्र कहूँगा, जिसको जान कर फिर जानने योग्य कुछ नहीं रह जाता। यह क्या कह गये ? अशेष ज्ञान-विज्ञान तो अशेष अनंत काल ही मे

कहा जा सकता है, यहाँ सामने शत्रुओं की सेना खड़ी है, अस्त्र शस्त्र चलना ही चाहते हैं, कठिनाई से युद्ध आध घंटा वा अधिक से अधिक एक घंटा रुक सकता है ? उत्तर यह है कि, केवल सार सार, मुख्य मुख्य, सिद्धांत ही, सब आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक शास्त्रों के कहे जायँगे। पहिले कह आये, एक पुरुष परम आत्मा से सब प्रकृति के नाना पदार्थों का विस्तार, और सब नानात्व का मूल एक मे, जब जीव देख लेता है, तब उस का ज्ञान पूर्ण हो जाता है। छांदोग्य उपनिषत् मे कहा है, एकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृण्मयं, एकेन नखनिकृंतनेन सर्वं कार्ष्णायसं, विज्ञातं स्यात्', मिट्टी के एक लोंदे को जान लेने से सभी मृद्विकार, हांडी, पुरवा, कसोरा, छोटे बड़े घड़े नाद आदि, एवं पक्के लोहे की एक नहरनी से लोहे के बने सब पदार्थ, जाने जाते हैं, वैसे ही किसी भी शास्त्र मे वर्णित किसी भी वस्तु का एक नमूना देख लेने से तज्जातीय सब वस्तु विदित हो जाती हैं। अंग्रेज़ी मे इसे 'लौ औफ़् ऐनालोजी' कहते हैं, 'ऐज़् वन् सो औल्', जैसे एक वैसे सब। पहिले कह आये कि मुख्य प्रमाण दो ही हैं, प्रत्यक्ष और उपमान; 'यथा गौः तथा गवयः' नीलगाय, घोड़रोझ, को जिस ने नहीं देखा है, उसे कैसे समझाया जाय ? तो जैसे गौ, बैल, वैसा। अच्छा होता यदि कहते 'यथा अश्वः, घोटकः' क्योंकि बलीवर्द से तो कुछ भी नहीं मिलता, सींग भी नहीं के तुल्य, अति छोटी, सास्ना लहर सर्वथा नहीं, स्कंध कोहान भी नहीं के बराबर, सास्ना के स्थान मे छोटा सा कूर्च, दाढ़ी; देहाती नाम 'घोड़रोझ' अधिक उपयुक्त है; अश्व से भेद इतना है कि अश्व के खुर फटे नहीं होते, नील गाय के होते हैं। पश्चिम का सब विज्ञान इसी एक उपमा-न्याय पर आवृत प्रतिष्ठित है, और उसी के बल नित्य बढ़ता चला जा रहा है।

६४. आत्मा की विभूतियों का पुनः वर्णन—सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति के आठ विकार पहिले कहे; फिर 'मत्तः परतरं नास्ति', 'मेरे' सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, सब 'मै' ही है और हूँ, अद्वैत-वेदांत। सग गिनाना असंभव है, अतः एक-एक जाति की श्रेष्ठ-श्रेष्ठ वस्तुओं के

नाम कहा, 'रसोऽहं अप्सु', 'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः', 'पुण्यो गंधः पृथिव्यां' प्रभृति। पुनः १०म अध्याय मे, सब से प्रथम, जो सारी गीता का निश्च्योत निचोड़ है और पुनः पुनः कहा जाता है, उसे कहा, 'अहं आत्मा, गुडाकेश !, सर्वभूताऽशय-स्थितः, अहं आदिश्च, मध्यं च, भूतानां अन्त एव च'; बाइब्ल् मे 'आइ ऐम् दि आल्फ़ा ऐंड दि औमेगा'; क़ुरान मे 'हुवल् अव्वल्, हुवल् आख़िर्', फिर आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों मे सूर्य, मरुतों मे मरीचि, नक्षत्रों मे चन्द्रमा, वेदों मे सामवेद, देवों मे इंद्र, इन्द्रियों मे मनस्, भूतों मे चेतना, वही आत्मा पुनः-पुनः, फिर, 'न अंतोस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां, एष तु उद्देशतः प्रोक्तः विभूतेः विस्तरो मया; यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं, श्रीमद् ऊर्जितं एव वा, तत् तद् एवऽवगच्छ त्वं मम तेजोंशसभवं', प्रधान-प्रधान पदार्थों को गिनाया, सब शास्त्रों के जो मुख्य-मुख्य विषय हैं; किंतु अनंत विभूतियों को कहाँ तक गिनावैं, जो-जो उत्तमोत्तम श्रीमान्, बलवान्, सत्त्व हैं उन सब को मेरे तेजस् का अंश जानो। तो शेष पदार्थ किस के हैं ? संसार मे जितने भले पदार्थ हैं उतने ही बुरे भी हैं, वह कहाँ से आये ? कहना पड़ा कि 'विष्टभ्यऽहं इदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत्', अपने एक छोटे अंश से सब जगत् को घरे, धारण किये, बनाये हुए हूँ, ध्यान-संकल्प शक्ति से। यह जो बड़े-बड़े भवन विश्वविद्यालय के खड़े हैं, वे सब आरम्भ मे किसी एञ्जिनियर के मन मे ही संकल्पित हुए, पश्चात् उस कल्पना के अनुसार बने।

पर यह बात सब से कहने की नहीं कि मैं परमेश्वर ने ही धर्म भी अधर्म भी, पुण्यात्मा जीव भी और पापिष्ठ भी रचा ;

हिंस्राहिंस्रे, मृदुक्रूरे, धर्माधर्मौ, ऋतानृते, (मनु.) बनाया; क्यों नहीं कहना ?

६५. अल्प-बुद्धियों से यह कहना उचित नहीं है कि परमात्मा ही से नेकी भी बदी भी, धर्म भी अधर्म भी, उत्पन्न होते हैं। न कहने का कारण—(तान् अकृत्स्नविदः मंदान् , कृत्स्नवित् न

विचालयेत्), जो अभी बाल-बुद्धि हैं, कच्ची समझ के हैं, उन से यदि ऐसा कहा जाय तो घबरा जायँगे, और विचारेंगे कि फिर पुण्य करने से क्या लाभ, हम भी अधर्म और पाप क्यों न करें, झूठ क्यों न बोलें, डकैती और हत्या कर के लूट-पाट क्यो न करें ? जब धीरे-धीरे उन की बुद्धि परिपक्व हो, और वे पूछें कि यह पाप और घोर दुःख कैसे उत्पन्न हुए, तब उन को, हेतुओं से, समझाना उचित होगा कि उसी एक ने सब कुछ किया है, और वह तुम ही हो, और अपने किये का फल, सुख, पुण्य का, दुःख पाप का, निश्चयेन पाओगे, क्रिया-प्रतिक्रिया न्याय से। आश्चर्य यह है कि ऐसी शंका मनुष्यों के ही विषय मे ही उठती है; पशुओं के नहीं ; नित्य प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि हिंस्र पशु, सिंह-व्याघ्रऽादि, मनुष्यों को, हरिणो को, खा जाते हैं, और यह स्पष्ट है कि जिस किसी शक्ति ने एक को बनाया उसी ने दूसरे को भी। निष्कर्ष यह है कि सब पुण्य-पाप-मय, सुःख-दुःख-मय, संसार उसी एक प्रभु, परमात्मा 'मैं' की लीला है, माया है, मन-बहलाव है, जिस से वह अनंत अपार क़ाल और दिक् को भर रहा है।

६६. **विश्वरूप दर्शन**—अनंतर, अर्जुन की प्रार्थना से कृष्ण ने विश्व-रूप दिखाया, और कहा 'त्वद् अन्येन न दृष्ट-पूर्वं' तुम से पहिले अन्य किसी ने नहीं देखा। ऐसा क्यों कहा ? अपनी माता देवकी को, द्वितीय माता यशोदा को, समय-समय पर दिखाया ; पांडवों की ओर से दूत बन कर, संधि की प्रार्थना करने गये, और दुर्योधन ने इन को रस्सों मे बाँध कर बंदी बनाने का यत्न किया, तब ऐसा भयंकर विश्व-रूप दुर्योधन के सब पक्षवालों को दिखाया, कि उसे देख कर वहाँ आये देवता भी बहुत त्रस्त हुए, कि दुर्योधनादि के साथ हमारा भी नाश न हो जाय, और स्तुति की,

ज्वालयन् हुतभुग् एकं आलयं, पत्तनस्य सकलस्य भीतिदः ;
एषु कुप्यसि, भृशं वयं भयं मन्महे हृदि, महेश !, मा कुपः।

एक गृह मे आग लगती है, सकल नगर को भय होता है; आप इन

पापिष्ठों पर क्रुद्ध हुए हो, पर हम सब भी भय-भीत हैं, सो, हे महेश्वर !, देवों के देव, कोप मत कीजिये ।

जब कई बार विश्वरूप दूसरों को दिखा चुके तब अर्जुन से ऐसा क्यों कहा ? उत्तर यह कि, प्रत्येक रूप मे कुछ भेद रहा, कुछ सौम्य थे, कुछ रौद्र; तथा यह भी कि, जिस किसी के हृदय में आत्मज्ञान का उदय होता है वह प्रायः समझता है कि मुझ से पहिले और किसी को नहीं हुआ 'नवो नवो भवति जायमानः, अह्नां केतुः', दिवसों के केतु, पताका, सूर्यदेव नित्य नये हो कर जन्म लेते हैं। यह कथा उन की है जिन को गुरु के उपदेश से प्रज्ञान नहीं मिला है, स्वतः गंभीर विचार से उन के चित्त मे उदय हुआ है; उन्हें भी धीरे-धीरे, यह समझ आती है, कि यह आत्मज्ञान बहुत पुराना है, असंख्य ऋषियों मुनियों को, दृढ़ अन्वेषण निदिध्यासन से, तथा गुप्तपरम्परा से, मिला है, 'अहं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् इमं अव्ययं' आदि ।

६७. यह विश्वरूप मनुष्यमात्र को प्रतिक्षण देख पड़ रहा है—और भी; यह विश्वरूप तो हम आप सब को प्रतिक्षण दिखा रहा है, यदि हमारी आप की दृष्टि, दर्शन-बुद्धि, वैसी हो जाय जैसी चाहिये । यह सब असंख्य ब्रह्म के अंडों, ब्रह्मांडों, गोलों, से, सूर्य, चंद्र, ग्रह, तारा, नक्षत्रों से भरा अनन्त आकाश है, पृथिवी पर असंख्य वृक्ष-वनस्पतियों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, मत्स्य-कूर्मों से भरा चारो ओर का देश देख पड़ता है, यह विश्वरूप ही परमात्मा का रूप ही, तो है । पुराणो मे महादेव के रूप का वर्णन किया है; सिर पर गंगा है, चंद्र है, शरीर पर कृत्ति अर्थात् गज का काला चर्म है, भस्म सारे देह मे पुती है, मुण्डों की माला है, इत्यादि । नीला आकाश ही गजकृत्ति है, चंद्रमा प्रत्यक्ष ही आकाश मे उगता है, आकाश-गंगा वह है जिसे देव-पथ कहते हैं, अंग्रेजी मे 'मिल्की वे'; बृहदाकार सूर्यादि गोल हैं, 'और्ब्ज़ औफ़ स्पेस', वे ही श्वेत कपाल हैं जिन की माला शिव पहिने हैं; हम को जो तारे अति दूर होने के कारण अति सूक्ष्म दिखाते हैं, पर हमारे सूर्य से सहस्र-गुण,

अयुत-गुण, कोटियों गुण अधिक बड़े हैं, गज-कृत्ति पर चपके हैं, वे ही भस्म हैं, 'चिति-रजी-धवली-कृत-विग्रह', आदि । इतिहास-पुराणो मे भरे ऐसे ही सैकड़ों रूपकों के अर्थ लगाये जा सकते हैं ।

६८. **कौन मुझे पाते हैं ?** उत्तर—ऐसे विश्वात्मक मेरी भक्ति उपासना जो करते हैं वे मुझे अवश्य पाते हैं ।

> यस्यऽनुग्रहं इच्छामि तद्विशो विधुनोम्यहं । (भाग.)
> चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !,
> आर्तो, जिज्ञासुः, अर्थार्थी, ज्ञानी च, भरतर्षभ !,
> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः एकभक्तिः विशिष्यते;
> उदाराः सर्वे एव एते, ज्ञानी तु आत्मा एव मे मतः ।

कृष्ण ने चार को अलग-अलग कहा, पर उन की शृंखला बना देने से बात अधिक समझ में आती है । केवल अति दुःखी है, वा केवल ज्ञान खोजता है, वा अर्थ, धन, चाहता है, इस से मुझे कैसे पावेगा ? शृंखला यों बाँधी जा सकती है,

> जाको चहौं अनुग्रह वाकी छीनौं संपद सारी,
> सम्पद खोइ, होइ आरत अति, परम अरथ अर्थावै,
> जिज्ञासा करि, ज्ञान पाइ, तब सब जग मे मोहि भावै ।

ज्ञानी भी और एक-भक्ति, अकेले एक मेरी भक्ति करने वाला, भी इन सब मे श्रेष्ठ है, यद्यपि सभी उदार हैं, क्योंकि ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, मुझ मे और अपने मे भेद, विवेक, नहीं करता, दोनों की एकता को पहिचानता है, अतःएव एक-भक्ति है । ज्ञान की परा काष्ठा भक्ति, और भक्ति की परा काष्ठा ज्ञान, और दोनों की परा काष्ठा क्रिया, सर्वभूतहित कर्म, तथा क्रिया की परा काष्ठा दोनों । योग-भाष्य मे भी कहा है, "वैराग्यस्यैव परा काष्ठा ज्ञानं' । परा काष्ठा को पहुँच कर ज्ञान, भक्ति, क्रिया, वैराग्य, सा-राग्य आदि सब एक हो जाते हैं । ज्ञान की परा काष्ठा यह है कि मै हा परमात्मा हूँ; भक्ति की परा काष्ठा वही; अपने से भक्ति

कौन नहीं करता ? 'मा न भूवं हि, भूयासं, इति प्रेम ऽात्मनि ईक्ष्यते', मैं न होऊँ, मर जाऊँ, ऐसा कभी न हो, मैं सदा बना ही रहूँ, यह अत्यंत प्रेम आत्मा का अपने लिये है; तथा, जब जान लिया कि मैं परमात्मा हूँ, सब जीवात्मा मैं ही हूँ तो स्वभावतः सब जीवों का हित चिंतन करूँगा।

एवं तु पंडितैः ज्ञात्वा, सर्वभूतमयं हरिं,
क्रियते सर्वभूतेषु भक्तिः अव्यभिचारिणी। (विष्णु पु०)

जिस पंडित विद्वान् प्रज्ञानवान् को यह विदित हो गया है कि हरि परमात्मा के भीतर सब जीव हैं और सब जीवों के भीतर हरि हैं, वह स्वयमेव सब प्राणियों का भला चाहता है।

सर्वः तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद् बुद्धिं आप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नंदतु।

गीता मे 'सर्वभूतहिते रतः' दो बार कहा है।

६९. सर्व-भूत-हित-कार्य करना भी आवश्यक—और दूसरों का भला करने की इच्छामात्र करना, कुछ हित वस्तुतः करना नहीं, यह ठीक नहीं। खेद है कि आजकाल के अत्यधिकांश संन्यासी, अपने को विशिष्ट ब्रह्मज्ञानी कहते हुए, लोकहित कुछ भी नहीं करते, प्रत्युत लोक से धन दौलत ले ले कर अपना ही हित (हित नहीं, नितांत अहित, संन्यासोचित धर्म की दृष्टि से) कराते हैं। इस विषय मे, बहुतेरे गृहस्थ, अनपढ़ भी, संन्यासियों से अच्छे हैं। अतः भक्ति की परा काष्ठा परार्थ कर्म से ही चरितार्थ होती है। और बिना अत्यंत विरक्ति के प्रकृष्ट ज्ञान मिलता नहीं। पहिले कह आये, 'सांसारिक वस्तुओं से मुह मोड़ो, अंतर्मुख हो, तभी आत्मा को पाओगे; तब लोकैषणा, वित्तैषणा, का उदय संभव नहीं।

७०. तीन एषणा और उन के रूप—बृहदारण्यक उपनिषत् में कहा है,

लोकैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च, पुत्रैषणायाश्च व्युत्थाय भैक्षचर्यं चरंति ।

लोक, वित्त, पुत्रादि तीनो की गर्धा को तज कर भिक्षाटन परिव्रजन करते हैं, आत्मा को खोजते फिरते हैं, तब मुझे पाते हैं । लोकैषणा, लोक मे बना रहूँ, भूयासं; वित्तैषणा, धन संपत्ति की उत्कट लालच; पुत्रैषणा, मेरी बहुत संतान हों, मै उन पर आज्ञा चलाऊँ, अपनी शक्ति का रसास्वादन करूँ ; इसी से इस तृतीय एषणा को कहीं कहीं शक्ति-एषणा भी कहा है । एवं लोकैषणा को चरक-संहिता मे प्राणैषणा का नाम दिया है, मेरे प्राण सदा बने रहें, कभी नष्ट न हों । अध्यात्म-विद्या के शब्दों मे, 'अहं स्याम्' लोकैषणा; 'अहं बहु स्याम्' वित्तैषणा; 'अहं बहुधा स्याम्' पुत्रैषणा । 'अहं स्याम्' और 'अहं बहु स्याम्' तो उपनिषदों मे मिलते है, 'बहुधा स्याम्' नहीं; वह भी 'बहु स्याम्' मे अन्तर्गत मान लिया है ; पर अलग कहने से 'शक्ति' का अर्थ अधिक स्पष्ट होता है ।

७?. कृष्ण को, बहुत साधारण वस्तुओं को ही, अपने भक्तों से पाने का लोभ—गीता के नवमऽध्याय मे कहा है,

पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं, यो मे भक्त्या प्रयच्छति,
तदहं भक्ति-उपहृतं अश्नामि, प्रयतऽात्मनः ।

जो मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल, भक्ति से देता है, वह भक्ति से अर्पित उपहार मै प्रसन्नता से स्वीकार करता हूँ ; एक समय, शर्त, और भी है, उपायन देने वाला प्रयतात्मा हो, मनसा, वचसा, कर्मणा शुद्ध, हो, दुराचारी न हो । कृष्ण जी बहुत सीधे सादे, भोले भाले, बड़े संतोषी हैं, फल फूल पानी पत्ते से ही तृप्त प्रसन्न हो जाते हैं । पर गहिरी दृष्टि से देखिये तो जानियेगा कि सीधे भोले संतोषी नहीं हैं, वरन् सर्वोत्तम वस्तुओं के अत्यंत लोभी लालची हैं। कोहिनूर, होप डायामंड, ओरलौफ़ डायामंड केप डायामंड जो इस समय के सब से बड़े, सब से अधिक भास्वान्, कोटि-कोटि रुपये के मूल्य के महर्घ हीरक हैं, उन को; हीरा पन्ना नीलम को; खा-पी नहीं सकते, उन से

प्राणधारण नहीं हो सकता; आम की नयी रक्त वर्ण की चमकती कोमल कोंपल, कदली का नया सुनहरा अति चिक्कण पत्र, पिप्पल के, वट के, प्लक्ष के नये चमकते पल्लव जो वसंत मे देख पड़ते हैं, विविध रंग के सुगन्ध मनोहर पुष्प, बहुत प्रकार के मधुर आम, जिन का नाम ही रसाल है, रसस्य अलं, जिन मे रस की परा काष्ठा होती है, सुन्दर नील वर्ण के जम्बूफल आदि पचासों फल, स्वादु भी, रुचिर भी, पौष्टिक भी, और तोय, जल, जिस का पर्याय 'जीवन' है, जिस के विना जीवन असंभव है, अन्न विना तो तीस-तीस दिन मनुष्य जीवित रहते हैं, किंतु जल विना तीन दिन भी नहीं, ऐसी उत्तमोत्तम महर्घ महँगी वस्तु कृष्ण ने माग रक्खी है, भक्ति और पवित्रता के साथ; भक्ति के ऐसे भूखे-प्यासे हैं, कि अन्य पदार्थों का नाम एक ही वार लिया, इस का दो वार !

ग्रीस देश के पुराण मे कथा प्रसिद्ध है, एक राजा 'माइडास' (अर्थात् महीदास) नाम का हुआ। 'डायोनिसियस्' नाम के देव, (दिवा-निशं. सूर्य का ही रूपांतर नामांतर) उस पर, भक्ति के हेतु से, प्रसन्न हुए कहा 'वर मागो'; राजा अत्यंत धनलोभी था, कहा जिस वस्तु का मै स्पर्श करूँ वह स्वर्ण हो जाय, 'बहुत अच्छा'; अन्न को, भोजन के लिये, छूआ, स्वर्ण हो गया; घबराया, पुनः डायोनिसियस् की प्रार्थना की, गिड़गिड़ाया; 'अच्छा, पॉक्टोलस् नाम की नदी मे स्नान करो'; किया, पूर्ववत् हो गया, खाने-पीने लगा, और उस नदी मे आज तक बालू के साथ सुवर्ण के छोटे-छोटे कण मिलते हैं।

७२. नरक के तीन द्वार; उन मे भी लोभ सब से बड़ा—

कृष्ण ने कहा,

> त्रिविधं नरकस्य इदं द्वारं नाशनं आत्मनः,
> कामः, क्रोधः, तथा लोभः, तस्याद् एतद् त्रयं त्यजेत् ।

इन तीन मे भी लोभ ही प्रबलतम है। राजा को कौन कौन विद्या विशेषतः सीखना चाहिये, और किस किस से, यह बतला कर,

कौन कौन बात वर्जना चाहिये, वह भगवान् मनु ने आदेश किया है,

दश काम-समुत्थानि, तथाऽष्टौ क्रोधजानि च,
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ।
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः,
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां, क्रोधजेषु आत्मना एव हि ।
मृगया, ऽक्षो, दिवा स्वप्नः, परिवादः, स्त्रियो, मदः,
तौर्यत्रिकं, वृथाऽट्या च, कामजो दशको गणः ।
पैशुन्यं, साहसं, द्रोहः, ईर्ष्या, ऽसूया, ऽर्थदूषणं,
वाग्-दंड-जं च पारुष्यं, क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ।
द्वयोरपि एतयोः मूलं, यं सर्वे कवयो विदुः,
तं यत्नेन जयेत् लोभं, तज्जौ एतौ उभौ गणौ ।
(अ० ७. श्लोक ४५–४९)

७३. काम-क्रोध-लोभ आदि से उत्पन्न दुर्व्यसनों के घोर दुष्फलों के उदाहरण—काम से दस, क्रोध से आठ, व्यसन उत्पन्न होते हैं, जिन का अंत नितांत दुःखद होता है । कामज-व्यसनों मे पड़ कर महीपति अर्थ और धर्म खो देता है. क्रोध से तो प्राण ही गंवाता है । मृगया (शिकार), दिन मे सोना, दूसरों की बुराई करना, 'स्कैंडल्-मंगरिङ्', वेश्यागमन, मद्य-पान से उन्मत्तता, नाच-गाने की अति रुचि, व्यर्थ इधर उधर घूमते फिरना—यह काम-ज दस । दूसरों के छिपे हुए दुष्कर्मों का प्रकाशन, जिस से वे घोर शत्रु बन जाते हैं, साहस अर्थात् निर्दोष स्त्री-पुरुषों का निष्कारण बंधन, उन से द्रव्य बलात् लेने के लिये, 'ब्लैक्-मेल्', द्रोहः अर्थात् गुप्त उपायों से किसी को मार या मरवा डालना, ईर्ष्या अर्थात् दूसरों के गुण का उत्कर्ष वा उन की प्रशंसा को न सहना, बिना कारण किसी सज्जन का धन बलात् छीन लेना, बिना हेतु गाली देना और मार-पीट करना, मंत्रियों भृत्यों आदि को—यह क्रोध से उत्पन्न आठ व्यसन हैं । इन दोनो गणो का मूल अति लोभ है ।

स्पष्ट ही है कि कामज व्यसनों से धर्म और अर्थ की हानि और

क्रोध-जों से प्राण का नाश हो जाता है। सभी देशों के इतिहास इन के उदाहरणो से भरे हैं। भारत के राजा-महराजों नवाबों की दशा किस को नहीं विदित है ? इधर सौ वर्षों मे साढ़े छः सौ मे स्यात् साढ़े छः वा पंद्रह-बीस सच्चे प्रजापालक रहे, राज्यों के भारत-संघ-राज्य मे विलयन तक। वर्त्तमान पटियाला नरेश के पिता और उन के समकालीन महाराजा नाभा के परस्पर द्वेष और एक दूसरे के राज्यों से सुंदर स्त्रियों का पकड़वा मगवाना, उन के साथ बलात्कार करना, इत्यादि का हाल दैनिकों मे छप चुका है। दो नवाबों की भी कुछ ऐसी ही कथा है, पर उन का नाम नहीं लिया जा सकता क्योंकि उन के वंशज जीवित हैं। हिट्लर ने, प्रसिद्ध बहु कोटिपति 'रौथ्स-चाइल्ड' के कुल के एक को, जो औस्ट्रिया मे अपने बृहद् बैंक का कार्य चला रहे थे, पकड़ पाया, और मार डालने की धमकी दी, क्योंकि यहूदी थे; अंततः दो लाख पौंड अर्थात् पौने सत्ताइस लाख रुपये ले कर छोड़ा, और उन के बंक का जो कुछ लहना था वह सब भी खा गया। नौ सौ वर्ष हुए रूस के साम्राज्य की नीव पड़ी; तब से स्यात् ही कोई त्सार हुआ जो स्वाभाविक मृत्यु से मरा हो, सब को छुरे से वा पिस्तौल से, उत्पीड़ित प्रजा की ओर से प्रतिनिधि-भूत व्यक्ति ने मार डाला; अब हमारी आँखों के सामने, लेनिन् और बौल्शेविकों ने सारे कुल ही की समाप्त कर दिया, तथा दूर और समीप के सैकड़ों संबंधियों को भी मार डाला, और प्रायः पंद्रह लाख बड़े-बड़े भूमिपालों ज़मीदारों को भी, जो प्रजा को अत्यधिक चूसते थे और उस शोषण चूषण से प्राप्त धन को काम-ज व्यसनो मे उड़ा डालते थे। यही दशा फ्रांस मे विप्लवकारियों ने, इन्हीं कारणो से, पौने दो सौ वर्ष होते आये, की। यह सब उदाहरण लोभ के फल के हैं।

अति काम का फल रावण का और उस के बंधु-बांधव ब्रह्मराक्षसों का और स्वर्णमयी लंका का विनाश।

अति मृगया के फल का उदाहरण पांडु महराज को ऋषि का शाप,

तज्जनित ग्लानि से हस्तिनापुर (आधुनिक गढ़मुक्तेश्वर) का राज्य, भीष्म और विदुर को सौंप कर, पहाड़ों मे चले जाना, वहां पन्द्रह वर्ष पीछे, अपनी दूसरी भार्या अति सुन्दरी माद्री को स्पर्श करने से सद्यः मृत्यु, उसी शाप के कारण। किंतु यहाँ यह विचारणीय है; पांडुने ऋषि ब्राह्मण को तो मारा नहीं, पशु को मारा; पशु को शाप देने की शक्ति कैसी ? जिस ऋषि को इतना भी ज्ञान नहीं; कि मनुष्य-रूप मे, अपनी पत्नी के साथ मैथुन करै, उसका ऋषित्व ब्राह्मणत्व कैसा ? और यदि उसने शाप दिया, तो राजा ने प्रतिशाप क्यों नहीं दिया ? तपस्वी, धर्मिष्ठ क्षत्रिय राजाओं को भी प्रतिशाप की शक्ति होती थी, इसके कई उदाहरण महा-भारत मे मिलते हैं; पुष्य क्षत्रिय और ब्राह्मण अतिथि का; अतिथि ने, किसी कारणवश शाप दिया, कारण ठीक नहीं था, क्षत्रिय ने भी प्रतिशाप दिया, तब परस्पर समझौता हुआ कि किसी पर शाप-प्रतिशाप का प्रभाव न होगा। ऐसी ही कथा, राजा सुदास 'कल्माष-पाद' की है; ऐसी ही वसिष्ठ और निमि महराज की है।

द्यूत के दुष्फल का उदाहरण देखिये। आज-काल भी भारत मे चारो ओर हो रहा है; दीपावली के पहिले प्रायः चोरियाँ अधिक होती हैं; द्यूत का, मदिरा का, वेश्याओं का साथ है; और तज्जनित ईर्ष्या-द्रोह से हत्या भी बहुत होती हैं। ब्रिटेन मे बीच-बीच मे सर्कार की ओर से अंक छपते रहते हैं, यथा, अभी छपा था कि गत वर्ष मे साढ़े आठ सौ मिलियन पौंड अर्थात् ग्यारह सौ कोटि रुपयों की मदिरा बिकी; और यह भी प्रकाश किया गया कि इतने सहस्र संधिभेदन, सेंध, लगे, चोरियाँ और हत्याएँ हुईं, जिनका पता लगा, और अपराधियों ने स्वीकार किया कि जूँए मे बहुत हार गये, उसको चुकाने के लिये चोरी और हत्या की। इतिहास-पुराण मे प्रसिद्ध दुर्योधन और युधिष्ठिर का द्यूतव्यसन है, जिसी का फल महाभारत का युद्ध हुआ, जिस मे अठारह दिन मे चालीस लाख अनुष्य कट मरे, अश्वों और गजों की गिनती नहीं। इस दुष्फल के साथ सुफल यह हुआ कि गीता का उपदेश कृष्ण ने किया।

७४. युधिष्ठिर की अत्यंत निर्लज्ज द्यूत-व्यसनता, तथा महाभारत के अन्य महापुरुष भीष्म-द्रोण-कृप आदि के घोर चरित्र-दोष—युधिष्ठिर का बड़ा यश है, कभी झूठ नहीं बोले, दुर्योधनादि के लिये भी अजातशत्रु ही रहे, ऊपर से मरणांत द्रोह किया, भीतर से आदर ही करते रहे, जैसे ब्रिटिश शासक गांधीजी का; धर्मराज यमराज के पुत्र थे, स्वयं धर्मावतार थे, इति प्रभृति। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखिये, गुणो ही को नहीं दोषों को भी, 'विद्वांस्तु गुणदोषज्ञः', तब आप जानोगे कि युधिष्ठिर के ऐसा निर्लज्ज द्यूतव्यसनी तो 'न भूतो, न भविष्यति'। अपनी विवाहिता भार्या को जूए मे हार गया !

महाभारत मे कही अन्य महापुरुषों की कथा भी सुनिये। भीषण प्रतिज्ञाओं के कारण, उनका जन्म नाम 'देवव्रत' बदल कर देवों ने भीष्म कर दिया; पिता माता के नाम से गांगेय, शांतनव, आदि भी थे, पर महाभारत मे, और तब से आज तक लोक मे, भीष्म ही नाम प्रसिद्ध है; यहां तक उनका महिमा बढ़ा कि श्राद्ध कल्प मे पितृतर्पण करते समय, प्रत्येक भारतवासी को यह भी तर्पण करना चाहिये, ऐसा लिख दिया,

वैयाघ्रपाद्यगोत्राय, सांकृतिप्रवराय च,
अपुत्राय ददामि एतत् सलिलं भीष्मवर्मणे।

अब तो सहस्रों वर्षों से यह भूला-भाला है, कोई भी ऐसा तर्पण नहीं करता। सो ये भीष्म, तथा द्रोण और कृप भी, नग्न की जाती हुई द्रौपदी को देख रहे थे, आँख फाड़-फाड़ कर, जब दुर्योधन की आज्ञा से उन के छोटे भाई दुःशासन जी उसे रनवास से बाल पकड़ कर खींच लाये, और उस का वस्त्र उतार कर उसको नग्न कर रहे थे। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय मे दासियों को नग्न रक्खी जाने की प्रथा थी; यह बड़े-बड़े विद्वानो शास्त्रज्ञो के उस समय की सभ्यता शिष्टता थी ! रोमन् लोगों में भी ऐसी प्रजा थी, प्रायः दो सहस्र वर्ष पहिले तक। भीष्मादि से यह न हुआ कि दुर्योधन दुःशासन को कारावास मे डाल देते, वा यह नहीं कर सकते थे तो सभा से चले जाते, या आँख ही

बंद कर लेते। द्रौपदी ने भीष्म से पूछा, 'पितामहजी ! युधिष्ठिर अपने को हारने से पहिले मुझे हारे वा पीछे ?'। भीष्म को कहना पड़ा 'पीछे'। 'तब इन को मुझ पर क्या अधिकार बच गया ?'। भीष्म ने कहा, 'धर्मस्य सूक्ष्मत्वात्', मै इस का उत्तर नहीं दे सकता, ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सकता। महाभारत मे भीष्म को 'अविप्लुत-धीः' कहा है, कभी उन की बुद्धि को विप्लव, शंका, प्लवन, डाँवाँडोल, नहीं होता था। उन्होंने स्वयं अपने को 'वेदपारगः' बताया है, और 'वेदपारगः' का अर्थ कहा है, जो प्रायः चार सौ भिन्न-भिन्न शास्त्रों और तंत्रों को जानै। उस समय मे वेद का अर्थ चार प्रसिद्ध वेद ही नहीं, अपितु सभी सत्य विद्या। 'पुरा किल विद्याऽपरपर्यायः एव वेद शब्दः आसीत्'। सो इन भीष्म की यह दशा। शाप के पश्चात् , स्पष्ट शब्दों मे, पांडु ने भीष्म और विदुर से कहा कि, मै अपना राज्य आप को और पितृव्य विदुर को सौंपता हूँ; मेरी प्रजा का, राजधर्म के अनुसार, रक्षण पालन कीजियेगा, यदि मै स्वयं शतशृंग गिरि से लौटा तो मुझे ही, अन्यथा मेरे पुत्रों को लौटा दीजियेगा। सो ऐसा न कर के, भीष्म ने, न केवल दुर्योधन को, पांडु का 'स्व' 'प्रौपर्टी' दे दिया, अपितु उस को राजा का अभिषेक करा दिया। यह सब अक्षम्य घोर विश्वासघात किया। विदुर का कोई दोष नहीं, शस्त्रास्त्र चला नहीं सकते थे, केवल निषेध ही कर सकते थे, और पुनः पुनः करते थे, जिस का कोई फल नहीं होता था। अन्यच्च, एक ही विश्वासघात नहीं, दूसरा भी किया। जब दुर्योधन का पक्ष ले कर पांडवों से लड़े, तो सर्वथा लड़ना था; किंतु, साथ ही, पांडवों का जय चाहते मनाते थे; यह द्वितीय घोर विश्वासघात किया ! द्रोण, कृप आदि की भी यही दशा थी। युद्ध के समय, भीष्म का वयस् , प्रायः १५० वर्ष, और द्रोण का ८५ वर्ष "वयसाऽशीतिपंचकः" था। भीष्म से भी अधिक बूढ़े उनके पितृव्य बाह्लीक ('आधुनिक बल्ख') थे। सीधी बात है, जब दास का कुछ 'स्व' 'परिग्रह', 'प्रौपर्टी' ही नहीं तब वह कैसे कुछ हार सकता था। ऐसे चरित्र-दोषों से कथा के नायक उपनायक

भरे हैं। उन मे बड़े गुण थे, बड़े दोष भी थे। स्वयं कृष्ण ने आठ तो विवाह किये, कठिन कठिन वीर्यकर्म कर के, क्योंकि कई मे ऐसी ही उन के पिताओं की प्रतिज्ञा थी कि ऐसा ऐसा जो वीर्य-शुक्ल दे, उसी से पुत्री का विवाह करूँगा। इस प्रकार के बहु-स्त्री-विवाह उस समय की प्रथा के अनुकूल थे, अतः इस को दोष नहीं कह सकते। किंतु, इन के ऊपर, सोलह सहस्र एक शत स्त्रियों को, जिन्हें नरकासुर ने एकत्र किया था, उसे मार कर, उन्हीं स्त्रियों के आग्रह से, उठा लाये; इधर जरासंध ने भी १६१०० क्षत्रिय भूमिपालों ज़मीदारों को पकड़ कर कारा मे बन्द कर रक्खा था, महा-नरमेध के लिये। उन को, भीम के द्वारा, जरासंध को मल्लयुद्ध मे मरवा कर, कृष्ण ने छुड़ाया। इन दो अंकों का कुछ रहस्य अर्थ भी हो सकता है, जिस का अब पता नहीं है, पर यह तो निःसंदेह जाना पड़ता है कि उस समय नर-बलि दी जाती थी। कूर्म पुराण में कहा है कि नारायण के कहने से १६००० अप्सराओं का स्त्री-जन्म हुआ और स्वयं नारायण को कृष्ण का अवतार ले कर उन को भार्या बनाना पड़ा।

एक पुराना श्लोक प्रसिद्ध है जिस से, थोड़े मे, पांच सहस्र वर्ष पहिले की रीतियों का पता चलता है और भारत के कथा-नायकों के गुण-दोष विदित होते हैं,

> कानीनस्य मुनेः स्वबांधववधूवैधव्यविध्वंसिनः
> नप्तारः, कुलगोलकस्य तनयाः, कुंडाः, स्वयं पांडवाः,
> ते वै पंच समान-दार-निरताः, तेषां कथा कीर्तनात्
> पापं नश्यति, वर्धते च सुकृतं, धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः।

पराशर मुनि ने, दाशराज मत्स्यजीवी मछुआ की कन्या से, कृष्ण-द्वैपायन व्यास को उत्पन्न किया; उन व्यास ने अपने सौतेले भाई विचित्रवीर्य की दो विधवाओं से अंधे धृतराष्ट्र और पीले पांडु को जन्माया। मृगया-व्यसनी पांडु की कथा पहिले कह चुके हैं; मृग के धोखे मे एक ऋषि को बाण से मार दिया, मरते मरते उन्हों ने शाप

दिया कि तुम भी यदि स्त्री से प्रसंग करने की चेष्टा करोगे तो तत्काल मर जाओगे, और शाप दे कर मर गये, भार्या उन के शव के साथ चिता पर जल गई। पांडु बड़े पराक्रमी थे, दिग्विजय किया; धृतराष्ट्र जन्म-अंध होने के कारण, मनु की आज्ञानुसार, राजा नहीं हो सके, पांडु हुए; उन्हों ने राज्यकार्य कई वर्ष तक बहुत अच्छी रीति से चलाया; फिर शाप के कारण ग्लान हो कर, कुन्ती और माद्री अपनी दोनों भार्याओं को ले कर हिमालय की एक छोटी पहाड़ी पर जा बसे; राज, भीष्म पितामह और पितृव्य विदुर को सौंप दिया; पर्वत पर, उन के निर्बंध से, दोनों स्त्रियों ने, क्रमशः, एक एक वर्ष के अंतर से, कुंती ने तीन, धर्मराज यमराज से, वायु से, इंद्र से, और माद्री ने अश्विनीकुमार से युग्म नकुल और सहदेव को जन्म दिया। इन पाँचों ने एक द्रौपदी से विवाह किया; ऐसे कुत्सित जन्म पाने वालों और कुत्सित विवाह करने वालों की कथा सुनने कहने से, उन का कीर्तन करने से पाप नष्ट होता है, पुण्य बढ़ता है, तो अवश्य ही धर्म की गति अति सूक्ष्म है। अन्य कितनी ही बातें समझ नहीं पड़तीं, स्वयं व्यास के विषय की; तथा यह कि महाभारत मे स्पष्ट लिखा है कि पांडु ने भीष्म और विदुर को राज सौंप दिया था, फिर उन्होंने अंधे धृतराष्ट्र और दुष्ट दुर्योधन को कैसे राजा बन जाने दिया, यद्यपि उन को लेश मात्र भी इस का अधिकार नहीं था।

पर धर्म की गति सूक्ष्म होती हुई भी स्पष्ट है। भीष्म का किया कुछ न हुआ, यद्यपि अपने समय के अद्वितीय योद्धा थे, कृष्ण बलराम और प्रद्युम्न को छोड़ कर, जो उन से बहुत बढ़े हुए थे, पिता शंतनु के वरदान से इच्छा-मृत्यु थे, अर्थात् जब तक वे स्वयं शरीर छोड़ना न चाहें तब तक अमर थे; बृहस्पति से उन की माता गंगा ने छत्तीस वर्ष तक उन को सब शास्त्र सिखवा कर वेदपारग बना दिया था; एवं परशुराम से समग्र अस्त्र-शस्त्र सिखवा कर ऐसा अद्वितीय योद्धा बना दिया कि, जब विशेष कारण से, उन को परशुराम से ही युद्ध करना

पड़ा, तब तेईस दिन तक युद्ध किया, दोनो ने ब्रह्मास्त्र उठाया, तब ब्रह्मदेव ने स्वयं आकर निषेध किया, 'ब्रह्मास्त्र चलैगा, तो समस्त मानव नष्ट हो जाँयँगे'। पांडु के निधन के पश्चात्, पर्वत पर तपस्या करते हुए ऋषियों ने पाँचो बालकों को हस्तिनापुर ला कर भीष्म को सहेज दिया। युधिष्ठिर का वयस् पन्द्रह वर्ष था; भीम और दुर्योधन का चौदह, दोनो का जन्म एक ही दिन हुआ था; अर्जुन का तेरह, कृष्ण के तुल्य, और नकुल सहदेव का बारह ; भीष्म ने पाँचो पांडवों और सौ धार्तराष्ट्रों को अस्त्र-शस्त्रादि सब युद्धविद्या सीखने के लिये द्रोणाचार्य को सौंपा। अर्जुन सर्वोत्तम हुए। अब अर्जुन जी और उन के गुरु द्रोणाचार्य जी की नीचता, क्षुद्रता, ईर्ष्यालुता को देखिये। एक निषादराज का पुत्र एकलव्य द्रोण के पास आया, 'मुझे भी युद्ध-विद्या सिखाइये,' 'तू शूद्र है, मै द्विज ही को सिखाता हूँ, चला जा'; चला गया, द्रोण की मिट्टी की मूर्ति बना कर, उस के समक्ष बाण चलाता रहा; अर्जुन से अधिक प्रवीण हो गया। बाण-क्षेपण का अभ्यास कराने के लिये द्रोण, शिष्यों को ले कर पास के जंगल मे गये; वहाँ एक कुक्कुर आकर भूँकने लगा; एकलव्य कोलाहल सुनकर निकल आया; उस ने बाणो से कुत्ते का मुख ऐसी चतुरता से भर दिया कि कुत्ता मरा नहीं, केवल भूंकना बंद हो गया; अर्जुन ईर्ष्या से जल मरा, द्रोण से कहा, 'गुरु जी, आप ने प्रतिज्ञा की थी कि मुझ से बढ़ कर कोई धनुर्धर पृथ्वी पर न होगा, सो ऐसा चतुर कर्म तो मै नहीं कर सकता'। गुरुजी एकलव्य के पास गये, 'तूने मुझे गुरु मान कर, मृत्तिका की मूर्ति बना कर, धनुर्विद्या सीखी है, तो गुरु-दक्षिणा दे'; 'जो कहिये'; 'दक्षिण अंगुष्ठ काट कर दे दे'! सीधे-सादे जंगली लड़के ने अँगूठा काट कर दे दिया। फिर प्रत्यंचा पर बाण लगा कर खींचा कैसे जाय ? यदि भोला-भाला न होता तो कहता, 'मिट्टी के गुरु को मिट्टी का अँगूठा चाहिये' और बड़ा सा बना कर उन को भेंट करता। किंतु यह भूल अर्जुन से, बाल्यकाल मे हुई, अतः क्षम्य है; पीछे तो उन्होंने उग्र तपस्या की, और साक्षात् शिव जी सब अस्त्र-शस्त्र

पाया, था पाशुपतास्त्र भी; उसके तुल्य प्रभावशाली केवल विष्णु का सुदर्शन चक्र था। ऐसी क्षुद्रता, कमीनापन, भारत के चरितनायकों का था। और इसी सब षड्-रिपु, काम क्रोध लोभ मोह, मद मत्सर, का फल भारत का घोर युद्ध हुआ, और कृष्ण को गीता मे कहना पड़ा कि इन से बहुत बचो। एवं भारत-संग्राम से छत्तीस वर्ष पीछे मद्य पी कर उन्मत्त, पाँच लाख यादव, समुद्र के तट पर प्रभास क्षेत्र मे, संध्या समय, आपस मे लड़ कर कट मरे। इस रीति से व्यास और कृष्ण ने दिखाया है कि धर्म का उल्लंघन करने से मनुष्य का नाश अवश्य होता है।

७५. षड्रिपुओं की अति वृद्धि से घोर प्रजा विनाशन—

काम: एषः, क्रोधः एषः, रजोगुणसमुद्भवः,
महाऽशनो, महापाप्मा, विद्धि एनं इह वैरिणं।
धूमेनऽऽव्रियते वह्निः यथा, ऽऽदर्शो मलेन च,
यथा उल्वेन ऽऽवृतो गर्भः, यथा तेन इदं आवृतं।
आवृतं ज्ञानं एतेन, ज्ञानिनः नित्यवैरिणा,
काम-रूपेण, कौंतेय ! दुष्पूरेणऽनलेन च।
पाप्मानं प्रजहि हि एनं, ज्ञानविज्ञाननाशनं, ।

प्रकृति के तमोगुण से उत्पन्न, किन्तु रजोगुणऽऽत्मक दुष्कृतों दुष्ट क्रियाओं के प्रेरक, काम-क्रोध, पापिष्ठ, मनुष्य के भीतरी वैरी हैं; यथा धूम से वह्नि, मल से मुकुर, उल्ब से गर्भ आवृत होता है वैसे ही जीव इन दोनों से; क्रोध का भी मूल काम है, यह पहले कह आये हैं, सो हे, अर्जुन !, तुम इस को अपने चित्त से निकाल दो, निष्काम कर्म करो।

७६. कामीय विषयों के उपभोग से काम-वासना कभी शांत नहीं होती, प्रत्युत बढ़ती ही है—महाराज ययाति ने, सहस्रों वर्ष उत्तमोत्तम भोगों का रसास्वादन कर के भी जब तृप्त न हुए, तब उद्विग्न हो कर सब छोड़ छाड़ कर, यह गाथा गाई।

न जातु कामः कामनां उपभोगेन शाम्यति,
हविषा कृष्णवर्त्मा इव, भूयः एवऽभिवर्धते।

यत् पृथिव्यां व्रीहि-यवं, हिरण्यं पशवः, स्त्रियः,
तत् सर्वं नऽलं एकस्य, इति मत्वा शमं व्रजेत् ।

उपभोग से कामवासना का शमन नहीं होता है, प्रत्युत बढ़ती ही जाती है, जैसे घृत से अग्नि । समस्त पृथ्वी पर जो भी उत्तमोत्तम अन्न है, स्वर्ण है, हाथी, घोड़े, गाय, भैंस हैं, सुंदर से सुन्दर स्त्रियाँ हैं, उन सब को भी यदि एक ही मनुष्य पा जाय, तो भी वह अपने को तृप्त नहीं मानैगा, और अधिक की इच्छा करैगा; ऐसा समझ कर, मनुष्य को उचित है कि सब लोभ-लालच, काम-क्रोध, छोड़ कर शांति-संतोष सीखै । ब्रिटेन के जगत्प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर ने अपने एक पात्र के मुह से कहलाया है, 'ऐपिटाइट्स ग्रो विथ ह्वाट् दे फ़ीड अपौन', तथा एक अंग्रेज़ी कहावत भी है, 'दि मोर् वी हैव् दि मोर् वी वौंट'; एवं संस्कृत मे आभाणक है 'लाभाल्लोभः प्रवर्धते' । यही उपदेश अर्जुन को कृष्ण देते हैं । पर इस का अर्थ यह नहीं है कि धर्म्य-युद्ध मव करो; वह तो करना ही पड़ेगा ।

स्व-धर्मं अपि चऽवेक्ष्य, न विकम्पितुं अर्हसि ।
धर्म्याद् हि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।
सुखिनः क्षत्रिया, पार्थ !, लभंते युद्धं ईदृशं,
यदृच्छया च उपपन्नं स्वर्गद्वारं अपावृतं ।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीं ।

यह तुम्हारा स्वभाव-कृत-धर्म है; स्वयं सामने आये ऐसे युद्ध से बढ़ कर श्रेयस्कर कर्म क्षत्रिय के लिये है ही नहीं; यदि शत्रु ने तुम्हारा वध किया तो स्वर्ग; जीत गये तो मही का राज्य और उस के सब भोग ।

७७. स्व-धर्म क्या है । चतुर्विध, मनुष्य प्रत्येक का स्वधर्म, अधिकार-कर्तव्यात्मक—स्व-धर्म क्या है ? यह समझाने को अध्यात्म-विद्या के कुछ मुख्य सिद्धांतों का, समाज-व्यवस्था के लिये उपयोग करना पड़ता है ।

अध्यात्मविद्या विद्यानां, वादः प्रवदतां अहं ।

जैसा पहिले कह आये; अध्यात्म-विद्या से यह विदित होता है कि चार प्रकार के मनुष्य होते हैं, ज्ञान-प्रधान ब्राह्मण, क्रिया-प्रधान क्षत्रिय, इच्छा-प्रधार वैश्य, अव्यक्त-बुद्धि शूद्र। सब के भिन्न धर्म-कर्म, अधिकार कर्तव्य, हक़ और फ़र्ज़, राइट् और ड्यूटी, अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार होते हैं; ब्राह्मण का ज्ञानसंग्रह अधिकार, सज्-ज्ञान प्रसार कर्तव्य; क्षत्रिय का शस्त्रास्त्र संग्रह, अधिकार, प्रजा-रक्षा कर्तव्य, 'क्षतात् किल त्रायते इति उदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः', वैश्य का धन-धान्य-संग्रह अधिकार, अन्न-वस्त्र-प्रसार कर्तव्य; शूद्र का पर्याप्त अन्न-वस्त्र-प्राप्ति अधिकार, तीन द्विजों की सेवा-सहायता कर्तव्य। इस विषय का मै ने अपने अंग्रेज़ी, हिन्दी, संस्कृत ग्रन्थों मे बहुत विस्तार से प्रतिपादन किया है, और प्रमाणार्थ सैकड़ों उद्धरण, वेदों के उपनिषदों के, स्मृतियों इतिहास-पुराणो के दिये हैं। यथा, अधमर्षण सूत्र की ऋचा,

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात्,
सः भूमिं सर्वतः स्पृत्वा, अध्यतिष्ठत् दशांगुलं;
ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीद्, बाहू राजन्यः कृतः,
ऊरू तद् अस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।

७८. पुरुष सूक्त मे आये 'अध्यतिष्ठत् दशांगुलं' का सत्य अर्थ—सहस्र शिर, अक्षि, पाद का, दस अँगुलि वाला पुरुष, सब पृथ्वी पर फैल कर, स्पृत्वा, 'स्प्रेड्', अध्यतिष्ठत्, सब पर राजा हो गया। प्रचलित पाठ है 'अत्यतिष्ठत्', अर्थात् दश अंगुल ऊंचा हो गया और वहीं ठहर गया, जिस का कोई अर्थ नहीं लगता। सहस्रशीर्षा पुरुष, स्पष्ट ही, मानव जाति का अभिधान है, सब भूमि पर, क्या अब तो आकाश मे भी, समुद्र के ऊपर भी भीतर भी, फैल गया है। और किस शक्ति से फैला ? तो दश अंगुलियों के बल। मनुष्य की समीपतर पशु जाति वानर जाति है, वह 'क्वाड्रु मैना' है, उस को चार पैर नहीं चार हाथ ही होते हैं, पिछले दोनो हाथों से भी वैसा ही काम करता है जैसा अंगुली से; पर पाँचों अंगुली एक साथ

रहती है, अंगूठा, अन्य चार से अलग हो कर काम नहीं कर सकता। बंदर उस प्रकार से यष्टि को अंगूठे के और चार अंगुलियों के बीच पकड़ नहीं सकता जैसा मनुष्य कर सकता है। हाँ, कुछ वानर-जातियाँ वन-मानुषों की, जो अफ्रिका, इंडोनीसिया, आदि मे मिलती हैं, और बहुत विशालकाय और बलवान् होती हैं ऐसा कर सकती हैं। मनुष्य को यह शक्ति प्रकृति ने दी, 'औपोज़ेबल थंब्ज़,'; इस से उस को बड़े-बड़े कार्य करने का कौशल प्राप्त हुआ; अथ किं, इस समय की जो कुछ सभ्यता शिष्टता और उस के उपकरण हैं, व्योमावगाही विमान, समुद्रयायी विकराल युद्धके वहित्र, गगनचुम्बी शतभौम प्रासाद, आदि इसी शक्ति के देन हैं। वायु आदि पुराणो मे इस को 'हस्त-सिद्धि' का नाम दिया है। इस के उदय से लाखों वर्ष पहिले, 'वार्क्षी सिद्धि', वृक्षों से उत्पाद्य वस्तुओं से अपना भरण-पोषण करने की शक्ति; उससे पहिले जल-सिद्धि थी, जल से उत्पन्न वस्तुओं से भरण-पोषण करते थे। इस सब का सविस्तर वर्णन मार्कंडेय, वायु आदि पुराणो से उद्धरण कर के मै ने 'सायंस् ऑफ़् शोसल् ऑर्गेनाइज़ेशन्' नाम के ग्रंथ मे किया है। अंगूठे के बल मनुष्य ने बड़े-बड़े नगर बनाये और बसाये, तीन-तीन और छः-छः सहस्र मन की तोपें बनाईं, इत्यादि, जैसा अभी कहा।

क्षत्रिय का, ऐसे शस्त्रास्त्रों से, प्रजा की रक्षा करना स्वधर्म है। पहिले कह आये,

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मस्वभावतः;
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।

गुण-कर्म-स्वभावतः कहा, जन्म-प्रभावतः नहीं; और कर्म कौन, तो जो स्व-भाव से उत्पन्न हों। शङ्कराचार्य भी, जो पहिले उदार थे, पीछे दुराग्रही 'जन्मना वर्णः' के अप-सिद्धान्त पर हठ करने लगे थे, जैसा उन के शारीरक भाष्य के कतिपय वाक्यों से सिद्ध होता है, इन श्लोकों की व्याख्या मे लिखते हैं कि स्व-भाव अर्थात् सत्व-रजस्-तमस रूपी अपना भाव, वही ज्ञान-प्रधान वा क्रिया-प्रधान वा इच्छा-प्रधान प्रकृति

के, और तत्तत्प्रकृत्यनुकूल कर्म के, अनुसार कर्मों का विभाग 'मैं', परमात्मा, ने कर दिया है। पुनः कहा है।

शमो, दमः, तपः, शौचं, क्षांतिः आर्जवं एव च,
ज्ञानं विज्ञानं आस्तिक्यं, ब्रह्म-कर्म स्वभावजं;
शौर्यं, तेजो, धृतिः, दाक्ष्यं, युद्धे चऽपि अपलायनं,
दानं, ईश्वरभावः च, क्षात्रं कर्म स्वभावजं;
कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यं, वैश्य-कर्म स्वभावजं;
स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते,ऽर्जुन !

क्षत्रियों मे शौर्य और युद्धेऽपलायन, पात्रे दान, और 'ईश्वर'-भाव, 'आज्ञा' करते रहना; यह तो अब तक भी है, पर जैसा पहिले अग्निवर्ण की कथा मे कह आये, ऐयाशी, बदमाशी, शराबखोरी अत्यन्त बढ़ गई, जो कदापि क्षात्र धर्म नहीं है। एवं वैश्यों मे भी, वाणिज्य बहुत रहा और है, पर कृषि और गोरक्षा, धनाढ्य और जन्मना वैश्य नहीं करते। प्रायः शूद्र कहलाने वाली जातियाँ करती हैं। सब से अधिक स्वधर्म-कर्म का त्याग जन्मना ब्राह्मण कहलाने वालों में देख पड़ता है। मनु ने सद् ब्राह्मण, सत्क्षत्रिय, सती स्त्री की, देवो से भी अधिक प्रशंसा किया है; एवं दुर्ब्राह्मण, दुःक्षत्रिय, असती स्त्री की वैसी ही घोर निन्दा किया है।

७९—दैव-पुरुषकार के विरोध का संकेत; उदाहरण, वसिष्ठ-विश्वामित्र का, तथा जमदग्नि-परशुराम और सहस्रार्जुन का, युद्ध। कामधेनु गौः का रहस्यार्थ—अर्जुन से कृष्ण कहते हैं,

प्रकृतिं यांति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति ?
यद् अहंकारं आश्रित्य, न योत्स्ये इति मन्यसे,
मिथ्या एव व्यवसायः ते, प्रकृतिः त्वां नियोक्ष्यति।
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन !, तिष्ठति
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया।

दुर्गा-सप्तशती मे कहा है—

ज्ञानिनां अपि चेतांसि देवी भगवती हि सा

बलाद् आकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ।

ईश्वर सर्वात्मा अंतरात्मा जगदात्मा सब प्राणियों के हृदय मे बैठा हुआ है, सब को ऐसा घुमा फिरा रहा है मानो किसी चक्र यंत्र पर बाँध दिया हो । वह भगवती महामाया देवी, परमात्मा की इच्छा-शक्ति, बड़े-बड़े ज्ञानियों ऋषियों को मोह के गर्त मे गला पकड़ कर फेंक देती है ।

इस के उदाहरण पुराणो मे पचासों दिये हैं । विश्वामित्र वसिष्ठ का युद्ध, जमदग्नि परशुराम और सहस्रार्जुन का युद्ध आदि । तथा पराशर विश्वामित्रादि का, काम के वश मे पड़ जाना । विश्वामित्र क्षत्रिय राजा थे, विनीत भाव से वसिष्ठ का दर्शन करने उन के आश्रम पर आये । बड़ी सेना साथ थी, पर उसे दूर ही छोड़ दिया । वसिष्ठ ने कुशल मंगल पूछा, कहा सेना को बुलाओ, मै आप सब का उचित आतिथ्य सत्कार करूँगा । विश्वामित्र सेना लाये । वसिष्ठ ने अपनी कामधेनु नन्दिनी को आज्ञा की, इन सब को खिलाओ पिलाओ । अच्छे से अच्छे भक्ष्य, लेह्य, चोष्य, पेय, चतुर्विध व्यंजन तत्काल उपस्थित हो गये, सब ने आकंठ तृप्त हो कर भोजन किया । वसिष्ठ को अपना वैभव दिखा कर, आतिथेयता और प्रश्रय के भीतर छिपे हुए गर्व का आस्वादन करने की इच्छा हुई थी । विश्वामित्र को महा लोभ हुआ, कहा, यह गौ तो राजों के काम की है, तपस्वी को क्यों चाहिये, मुझ को दे दीजिये । वसिष्ठ ने कहा कदापि नहीं, इसी से तो मेरा सब यज्ञ कर्म चलता है, घी, दूध, दही, होम हवन आदि के लिये मिलता है, तथा बड़े परिवार और बड़े गुरुकुल का भी पोषण होता है । विश्वामित्र ने सैनिको को आज्ञा दी, इसे रस्सी से बाँध कर खींच लाओ; सैनिक खींच ले चले; गौ चिल्लाई, 'ब्रह्मर्षि जी, मुझे बचाइये'; वसिष्ठ ने कहा, 'मै तपस्वी जीव, क्षमा मेरा धर्म, तुझे कैसे बचाऊँ;' नंदिनी ने कहा, 'तो मुझे अनुमति दीजिये, स्वयं अपनी रक्षा करूँ'; वसिष्ठ ने कहा, 'अवश्य' । नंदिनी ने अपने पुच्छ से पह्लव, रोम से खश, शृंगोंसे चीन हूण आदि असंख्य योद्धा निकाले; पर

विश्वामित्र अपने समय मे अस्त्र-शस्त्र-विद्या मे अद्वितीय थे, सब का संहार कर दिया, और योद्धा गौ को पुनः खींच ले चले; वह रोई चिल्लाई, अब मेरी सब शक्ति क्षीण हो गई; ब्रह्मर्षि जी, आप ही बचाइये; तब वसिष्ठ को क्रोध हुआ, ब्रह्मदंड उठाया; उस ने विश्वामित्र के समग्र अस्त्र-शस्त्रों का भी और सेना का भी नाश कर दिया; एक विश्वामित्र को, विशेष कारण से छोड़ दिया। विश्वामित्र को बड़ी ग्लानि हुई,

एकेन ब्रह्मदंडेन सर्वास्त्राणि हतानि मे;
धिग्बलं क्षत्रिय-बलं, ब्रह्मतेजो-बलं बलं।

बड़ी तपस्या की, सहस्रों वर्ष तक; अंत मे ब्रह्मा ने उन का और वसिष्ठ का मेल कराया, और वसिष्ठ ने उन को ब्रह्मर्षि की पदवी दी। ठीक ऐसी ही कथा जमदग्नि परशुराम और सहस्रार्जुन की है।

यह सब रूपक है। 'गच्छति इति गौः, जो चलै वह गौ, अतः पृथ्वी, सूर्य की किरण, स्वयं सूर्य चंद्र नक्षत्र तारा आदि, ज्ञानेंद्रियाँ भी; पर यहाँ पृथ्वी ही। स्पष्ट है कि मनुष्यों के काम के सब पदार्थ उसी से मिलते हैं; उन को दे कर बाहरी जातियाँ बुलाई गईं, जैसा आज-काल भी हुआ करता है। ब्रह्मदंड किसी प्रकार का ऐटम् बौंब रहा होगा। अस्तु; यह सब लोभ और तज्जनित क्रोध गर्व आदि की कथा हुई।

८०. इस दैवी, गुणमयी, ज्ञानियों को भी भ्रम में डाल देने वाली महामाया को कैसे जीतै ? जीतने का उपाय। दैव-पुरुषकार के विरोध का शमन—इस महा-माया के पार मनुष्य कैसे पहुँचे ?

दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया;
मां एव ये प्रपद्यंते मायां एतां तरंति ते!   (गी०)

मुझ परमात्मा की शरण जो आते हैं वे ही इस त्रिगुणात्मक माया को पार करते हैं। पहिचान लिया कि मैं अपनी ही इच्छा से बंधन मे पड़ा हूँ, और तत्काल बंधन हट गया, जीव मुक्त हो गया।

पहिले कहा, 'प्रकृतिः त्वां नियोक्ष्यति', अ० १८, श्लो० ६० मे कहा है, 'करिष्यसि अवशोऽपि सन्'; और भी कई जगह अवशः शब्द का प्रयोग किया है, कि मनुष्य अवश विवश हो कर, न चाहता हुआ भी, कार्य करता है। किंतु यदि मनुष्य ऐसा पराधीन है तब उपदेश को कहां स्थान है कि ऐसा करो वा मत करो ? करने न करने के लिये उपदेश तब ही देना उचित होगा जब उपदिष्ट को यह शक्ति हो कि दो विकल्पित मार्गों मे से एक का वरण कर ले, स्वयं चुन ले, निर्णय कर ले, कि ऐसा करूँगा और ऐसा न करूंगा। यह वही बहुत पुराना विवाद, दैव और पुरुषकार, स्वाधीनता-पराधीनता, स्ववशता-परवशता का है, जो तब से चला आता है जब से मनुष्य को विचार करने की शक्ति हुई। फ़ारसी मे जब्र व क़द्र, अङ्गरेजी मे लिबर्टी ओर डेस्टिनी, आदि शब्दों से कहते हैं। ऐसा विचार क्यों उठता है ? तो इस हेतु से, मनुष्य स्वभावतः चाहता है कि अपने अच्छे कर्मों का मीठा फल तो चक्खे, पर दुष्ट कर्मों का कटु फल नहीं। यदा कदा मेरे पास ऐसे सज्जन आ जाते हैं जो पूछते हैं कि ईश्वर की प्रेरणा से ही मनुष्य पाप करता है तो उस का दुःखद फल उसे क्यों भोगना पड़ता है, ईश्वर ही को भोगना चाहिये न ? मै उन को उत्तर देता हूँ कि मनुष्य भी तो ईश्वर की, अर्थात् उस की इच्छारूप प्रकृति माया की, प्रेरणा से करता है, फिर उस का सुखद फल वह क्यों पावै ? या दोनो हाँ, या दोनो नहीं; तथा यह कि यदि पाप करने के लिये विवश हो तो दंड भोगने के लिये भी विवश हो; एक के लिये विवश, दूसरे के लिये स्ववश; यह कैसी बात ? और भी; पारमार्थिक गम्भीर दृष्टि से यह भी ठीक है कि ईश्वर ही दोनो का कर्ता भी भोक्ता भी है; आप ही तो ईश्वर परमात्मा के अंश रूप जीव हो, आप ही कर्ता भोक्ता दोनो हो। तब वे समझ जाते हैं और कहते हैं कि ठीक है। अर्जुन ने ऐसी शंका नहीं की, न कृष्ण ने ऐसा समाधान; किंतु गीता के अध्येता के मन मे इस का उठाना स्वाभाविक है, अतः इस अवसर पर समाधान की सूचना कर दी गई।

८१. अर्चिमार्ग और धूममार्ग का रहस्यार्थ—

अष्टमाध्याय (श्लोक २२-२६) मे कृष्ण ने अर्जुन से कहा।

पुरुषः सः परः पार्थ !, भक्त्या लभ्यः तु अनन्यया,
अस्यऽन्तःस्थानि भूतानि, येन सर्वं इदं ततं।
यत्र काले तु अनावृत्तिं आवृत्तिं च एव योगिनः,
प्रयाताः यांति, तं कालं वक्ष्यामि, भरतर्षभ !
अग्निः, ज्योतिः, अहः, शुक्लः, षण्मासाः उत्तरायणं,
तत्र प्रयाताः गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।
धूमो, रात्रिः, तथा कृष्णः षण्मासाः दक्षिणायनं,
तत्र चांद्रमसं ज्योतिः योगी प्राप्य निवर्तते।

इन श्लोकों के अन्य अति गूढ़ रहस्यऽर्थ हैं, यथा—पिंगला का इड़ा मे (प्राण) वायु का संक्रमण, उत्तरायण है; इड़ा का पिंगला मे प्राण संक्रमण, दक्षिणायन है। इड़ा और पिंगला की संधि मे जब प्राण आया, तब अमावास्या कही जाती है, इत्यादि।

इन श्लोकों पर शंकरादि भाष्यकारों टीकाकारों ने, लोकमान्य तिलक ने भी, बहुत बल लगाया, परन्तु ग्रन्थि खुली नहीं। महाराष्ट्र मे, संत ज्ञानोबा अर्थात् ज्ञानेश्वर की टीका ज्ञानेश्वरी महाराष्ट्री भाषा में, ओवी छन्द मे, लिखी, बहुत प्रसिद्ध है; उस का हिंदी अनुवाद मैं ने देखा उस की भी वही दशा। सीधा सीधा अर्थ यों किया जा सकता है— अग्रे नयति इति अग्निः, सन्मार्ग-प्रदर्शकः, (यथा, 'अग्ने !, नय सुपथा राये'…ईश उ०); सः एव ज्योतिः स्व-पर-प्रकाशकः, अहर्वत् शुक्लः शुभ्रः, (यथा, 'शुक्रं ब्रह्म सनातनं', 'स पर्यगाच्छुक्रं अकायं अव्रणं…ईश०); सर्वऽन्यपदार्थेभ्यः उत्तरः उत्तमः, तथा उत्तरायणं इव द्वंद्वमयसंसारस्य अर्धं; ईदृग् ब्रह्म, ये विदंति ते, निवृत्तिमार्गं आरूढाः, ब्रह्म गच्छंति, ब्रह्मैव भवंति ('ब्रह्म एव सत् ब्रह्म भवति' उप०)। अनंतर श्लोकों मे, इस के विपरीत का वर्णन किया है, अर्थात् प्रवृत्तिमार्गिणः पुनः पुनः आवर्तंते', (यथा 'पुनः पुनः वशं आपद्यते मे', कठ उप०)। स्कंदपुराण के माहेश्वर

खंड के कौमारिका खंड मे कहा है, 'अर्चिमार्गेण प्रयातस्य मोक्षः, धूम्र-मार्गेण पुनरावर्तनं; नैष्कर्म्यं अर्चिमार्गः यज्ञाः धूममार्गः' ।

८२. गीता मे कहे शास्त्र शब्द का तात्विक अर्थ—आजकाल के पंडित सज्जन, जब धर्म-विषयक शङ्का कोई उठती है तब झट् कह देते हैं, धर्म के विषय मे बुद्धि को स्थान नहीं, 'शास्त्रं एव प्रमाणं ते कार्यऽकार्य-व्यवस्थितौ' । किंतु यदि पूछिये कि कौन शास्त्र, व्याकरण शास्त्र, वा तर्क शास्त्र वा जीव जन्तु शास्त्र, वृक्ष शास्त्र, वास्तु शास्त्र आदि । तो कुछ उत्तर नहीं देते । वा कहते हैं कि जो हम कहैं वही शास्त्र, और उसे न मानोगे तो नरक मे जाओगे । माना,

> अस्तु शास्त्रं प्रमाणं मे कार्यऽकार्यव्यवस्थितौ;
> किंतु किं मे प्रमाणं स्यात् शास्त्रऽशास्त्रविनिर्णये ?
> वेदो मान्यः, कुरानो वा, बाइबलो वा इतरोऽथवा ?
> संशयाने जने तु एवं, निर्णयं कः करिष्यति ?

अच्छा यह भी माना,

> इदं एव हि सत् शास्त्रं; शङ्का तु उत्पद्यते पुनः,
> वाक्यं अत्रस्थं एतत् तु प्रक्षिप्तं, विकृतं नु वा,
> मौलिकं वाऽपि, शुद्धं च, इति प्रश्नः तु उपतिष्ठते ।
> तत्रऽपि निर्णये जाते, पुनर् अन्योऽस्ति संशयः,
> वाक्यस्यऽस्यऽयं एवऽर्थो, ऽन्योऽर्थो वापि च संभवेत्;
> एवं जने संदिहाने, कः तम् अर्थं विनिश्चयेत्
> विहाय मानवीं बुद्धिं ? बुद्धिरेवऽत्र सिद्धिदा ।
> ईश्वरोऽस्ति, न वा सोऽस्ति, अस्ति चेत् कीदृशोऽस्ति सः,
> अत्रापि मानवी बुद्धिरेव निर्णयकारिणी ।
> अतः एव हि गीतायां गायत्येव उरुगायनः,
> बुद्धौ शरणं अन्विच्छ, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति,
> बुद्धिः बुद्धिमतां अस्मि,...बुद्धिग्राह्यो हि अतींद्रियः ;
> बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा, पार्थ, सात्विकी ।...

इति गुह्यतमं शास्त्रं इदं उक्तं मया, अनघ !,
एतत् बुध्वा बुद्धिमान् स्यात्, कृतकृत्यश्च, भारत !

इन श्लोकों का आशय, संक्षेप से, यह है कि, विविध प्रकार के संशय उठते हैं, किस को सत् शास्त्र मानै, किस को न मानै, किस महा-पुरुष के वाक्यों को श्रद्धेय जानै वा न जानै, ईश्वर है वा नहीं, यदि है तो उस का रूप क्या है, उसकी शक्ति क्या है, उस ने संसार को क्यों रचा, कैसे रचा—इन सब संदेहों प्रश्नों का निर्णीत उत्तर हमारी आप की बुद्धि ही, अंततो गत्वा, देती है, अतः आप ही ईश्वरों के ईश्वर, परमेश्वर परमात्मा हो, तत्त्वतः; और यही आत्मविद्या ब्रह्मविद्या की अन्तिम शिक्षा है, यही सत्य शास्त्र है ।

गीता में 'शास्त्र' शब्द पाँच बार आया है, एक बार अर्जुन के प्रश्न में, चार बार कृष्ण के उत्तरों मे,

इति गुह्यतमं शास्त्रं इदं उक्तं मया, ऽनघ !;
तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते,...ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं;
यः शास्त्रविधिं उत्सृज्य वर्तते कामकारतः,
न सः सिद्धिं अवाप्नोति, न सुखं, न परां गतिं ।
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि, अनसूयवे;
इति ते ज्ञानं आख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया;
सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः;
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेषु अभिधास्यति,
भक्तिं मयि परां कृत्वा, माम् एव एष्यति असंशयः ।

इन सब श्लोकों का निष्कर्ष यह है कि, सब से अधिक गुह्य गोपनीय शास्त्र यही अध्यात्म शास्त्र है जो मै ने तुम को समझाया । जो कोई मुझ परमात्मा मे, अपने अंतरात्मा में, सच्ची भक्ति करैगा, और सच्चे भक्तों को यह शास्त्र सिखावैगा, वही मुझे प्रियतम होगा, और मेरे पास आवैगा, मुझ मे लीन हो जायगा, मेरी अपनी एकता को पहिचानैगा ।

'अहं' शब्द और उसके कारकान्वित भेद, 'मां, मया, मत्, मम, मयि', तथा अन्य विकार भी 'मामकं, मामकाः, मामिकां' आदि जितने बार गीता मे आये हैं उतने बार अन्य कोई शब्द नहीं आया, सिवा बुद्धि और उस के पर्याय ज्ञान विज्ञान आदि के। वै, च, तु, हि आदि अव्ययों की कथा न्यारी। इसी से अनुमान करना चाहिये कि कृष्ण के मन मे आत्मा और बुद्धि का कैसा महत्त्व है।

८३. कृष्ण के बहुत बार कहे 'अहं' शब्द का मार्मिक अर्थ— अब यह देखना चाहिये कि कृष्ण प्रायः ऐसा ही कहते हैं जैसा 'अहं आदिश्च मध्यं च भूतानां अंत एव च', मयि सर्वं इदं प्रोतं सूत्रे मणिगणाः इव', अहं आत्मा, गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः', आदित्यानां 'अहं विष्णुः' इत्यादि। तो क्या कृष्ण के अस्थि-मांस-निर्मित शरीर से यहाँ आशय है ? कदापि नहीं। यह अच्छी भाँति समझी बात है कि वक्त अपने मे परमात्मा-भाव का आवाहन संकल्प न कर के ऐसा कहता है; आंभ्रिणी वाक् के सम्बन्ध मे यह पहिले कह आये हैं। कहीं कहीं प्रथम पुरुष मे भी कहा है, यथा,

पुरुषः सः परः, पार्थ !, भक्त्या लभ्यः तु अनन्यया,
यस्यऽन्तःस्थानि भूतानि, येन सर्वं इदं ततं।

इसी अर्थ की योजना अन्यत्र करना चाहिये, यही आशय कृष्ण का सत्यतः है। अतिभक्त श्रद्धा-जड़ सज्जन, कृष्ण के 'अस्थि-स्थाणुं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनं चर्मऽवनद्धं' देह को ही परमात्मा-स्वरूप मानते हैं, कृष्ण को षोडशकल पूर्णावतार मानते हैं; यद्यपि भागवत मे भी, महाभारत मे भी, तथा अन्य पुराणो मे भी, पुनः पुनः कहा है कि ऐसा नहीं है।

८४. ऋषि के शाप से यमराज का विदुर शूद्र के जन्म मे अवतार, पृथ्वी पर मानव जन-संख्या की अति वृद्धि, तज्जनित घोर संघर्ष और महाभारतादि युद्ध आदि का तात्त्विक अर्थ— अणीमांडव्य ऋषि के शाप से यमराज धर्मराज को सौ वर्ष के लिये शूद्र योनि मे जन्म लेना पड़ा; विदुर के रूप मे उतरे; मृत्यु का कार्य

रुक गया; पृथ्वी पर जनसंख्या की अति वृद्धि हुई; 'ग्रामे-ग्रामे विवरे विवरे' मनुष्य भर गये,

> आपूर्यंत मही कृत्स्ना प्राणिभिः बहुभिः भृशं ;
> असुरा जज्ञिरे क्षेत्रे राज्ञां तु, मनुजेश्वर ! ;
> न शशाकात्मनाऽत्मानं इयं धारयितुं धरा ।
> एवं वीर्यमदोत्सिक्तैः भूः इयं तैः महासुरैः
> पीडयमाना मही कृत्स्ना, ब्रह्माणं उपचक्रमे ;

दैत्यों ने राजकुलों मे अवतार लिया; परस्पर युद्ध के लिये एक एक छोटे-छोटे राजा के पास एक-एक अक्षौहिणी चतुरंगिणी सेना अर्थात् सवा दो लाख योद्धा, पदाति, अश्वारोह, गजारोह, रथारूढ़; घोड़ों हाथियों की गिनती अलग । ऐसी दशा मे धरित्री, धारा जो सब प्राणियों का भार धरे हैं, इस अति भार को सहने मे असमर्थ हो गई, ब्रह्मदेव प्रपिता-मह के पास जाकर रोयी । सब देवों को लेकर ब्रह्मा, श्वेतद्वीपवासी नारायण के पास गये, प्रार्थना की, 'पृथ्वी का भार उतारिये' । नारायण ने अपने दो रोम, 'सितकृष्णकेशौ', ब्रह्मा को दिये, 'ये ही उद्धार करेंगे'; श्वेत से बलराम, कृष्ण से कृष्ण हुए; उधर देव भी उतरे । पांडवादि के जन्म का हाल पहिले कह चुके हैं । महाभारत का युद्ध हुआ, चालीस लाख मनुष्य अठारह दिन में कट मरे । उस के छत्तीस वर्ष पीछे पाँच लाख यादव भी आपस मे लड़ कर कट मरे । पर इतने से क्या होता है ? अभी, हम लोगों के देखते-देखते, दो विश्व-युद्ध जल-स्थल-आकाश-व्यापी, हुऐ; पहिले मे प्रायः एक कोटि, दूसरे मे प्रायः दो कोटि मनुष्य मरे; रणक्षेत्र मे जितने नाश हुए उस से अधिक निःशस्त्र स्त्री-पुरुषादि, नगरों पर, खुले खेतों पर, वृहद् यंत्रालयों पर, युद्धक विमानो द्वारा गिराये विस्फोटक गोलों से मरे; तथा युद्ध-जनित अन्न-वस्त्र-ऽभाव, दुर्भिक्ष, महामारी आदि से बहुत अधिक नष्ट हुए । किंतु द्वितीय युद्ध को समाप्त हुए अभी आठ वर्ष भी नहीं हुए, और जो संख्या मनुष्यों की युद्ध के अन्त में थी, उस से कई कोटि अधिक हो गई है । विभाजन से पहिले

१९४१ मे समग्र हिन्दुस्तान की जो जनसंख्या थी, वह, उसके पश्चात्, विभक्त भारत की १९५१ मे, हो गई, अर्थात् साढ़े पैंतिस कोटि। एक अमेरिकन ने अभी एक महीना हुआ अनुमान किया है कि इस समय अस्सी सहस्र मनुष्य प्रति-दिन पृथ्वीतल पर बढ़ रहे हैं, अर्थात् प्रायः पच्चीस कोटि प्रति वर्ष। इस मे से आधे चीन और भारत का भाग है, शेष आधे अन्य सब देशों का। इस नित्य वर्धमान महा भार को पृथ्वी माता कै दिन ढो सकती है ? सेनाओं के व्यय का अति भार सब देशों मे बढ़ता ही जाता है, कई सहस्र कोटि रुपयों के तुल्य, प्रति वर्ष। पृथ्वी का अर्थ प्रजा; प्रजा के चूषण शोषण से ही यह भीषण अति-व्यय चल रहा है; दो चार वर्ष और चलै तो चलै। तत्पश्चात् या तो आपस मे समझौते से सब सेनाओं को हटा दें, या परस्पर लड़ मरें। सेनाओं को हटाने की शांतिमय संधि भी कर लें तो जो सैनिक इस समय बहुत अच्छे-अच्छे वेतन, विविध प्रकार के आराम, मन-बहलाव, और कालक्षेप के उपायों का सुख पा रहे हैं, वे कहाँ जायँगे, जीविका-साधक कौन कार्य करेंगे—यह बड़ी विकट समस्या उपस्थित होगी। अनर्थ परम्परा बढ़ती ही जायगी; पर्वत के शिखर से पैर फिसला तो नीचे गिरता ही जायगा। मनु ने कहा है।

अत्युग्रपुण्यपापानां इहैव फलं अश्नुते।

अति उग्र पुण्यों और पापों का फल इसी जन्म मे मिल जाता है। सब देशों के शासकों तथा जनता, के अत्युग्र लोभ से प्रेरित पाप का फल उन्हीं के जीवनकाल मे हुआ। अब तीसरे युद्ध में ऐटम् बौम्ब, और उस से षोड़श-गुण अधिक शक्तिशाली हाइड्रोजेन बौम्ब, तथा उस से भी शतसहस्रगुण अधिक विनाशकारी 'स्प्लिट् ऐटम्' विनाशकारी की तय्यारी हो रही है। समाचारपत्रों मे छपा है कि दो चार ही 'स्प्लिट् एटम्' बौम्ब के विस्फोटन से पृथ्वी-तल के जितने जीव हैं सब का विनाश हो जायगा। बहुत अच्छा होगा; ब्रह्मा विष्णु इस परस्परद्वेषिणी महा मूर्ख महा दुष्ट पापिष्ठ, उत्तम विद्या का अति घोर निकृष्ट प्रयोग करने वाली, मानव

जाति की चिंता और रक्षा करते करते अवश्यमेव थक गये होंगे; अब रुद्र देव का निर्द्वंद्व राज्य होना ही चाहिये। ऐसा होने से दस बीस लाख वर्ष तक उन को सोने सुस्ताने का अवसर मिलेगा; इतने वर्षों मे पुनः धीरे धीरे क्रम-विकास-न्याय से मानव जाति पुनः वर्तमान सभ्यता वा बर्बरता की दशा को पहुँचैगी, और पुनः संहार होगा। यह तो अनंत संसार-चक्र का, सृष्टि और प्रलय, पुनः सृष्टि और प्रलय, का चक्र ही है।

ज्ञान-विज्ञान का दुष्प्रयोग मत करो, ऐसी चेतावनी वेद मे दी है 'विद्या ह वै ब्राह्मणं आजगाम, गोपाय मां, शेवधिः तेऽहं अस्मि; असूयकाय अनृजवे अयताय मां मा दाः, वीर्यवती तथा स्यां'।

८५. उत्तम विद्या अधमप्रकृतिक मनुष्य को कदापि नहीं सिखाना चाहिये; ऐसा करने की घोर अति विषमा परिणति—

तपस्वी सद्ब्राह्मण के पास विद्या देवी आई, कहा 'मेरी रक्षा करो, धर्म्य कार्यों मे ही लगाओ, मै तुम्हारी निधि कोष हूँ; जो तुम से और दूसरे मनुष्यो से असूया ईर्ष्या करै, सच न बोलै, ऋजु नहीं प्रत्युत कपटी कुटिल हो, अयत अशुद्ध दुश्चरित्र हो, उसे मुझे कदापि मत देना; इस प्रकार मेरी रक्षा करोगे तभी तो मै सब सत्कार्यों के, जनतोपकारी कार्यों के, लिये वीर्यवती होऊँगी।'

यह जो अभी कहा कि पृथ्वी ब्रह्मा के पास गई, और ब्रह्मा नारायण के पास गये, यह सब भी रूपक है। पृथ्वी का अर्थ प्रजा, यह तो बतलाया ही; नारायण का अर्थ सूर्यदेव; श्वेत द्वीप मे साक्षात् निवास है, क्या स्वयं श्वेत द्वीप, अति भास्वान्, है; उन की किरणै ही उन के रोम हैं, 'सर्व-देवमयः सूर्य.'; विदेह-मुक्त जीवों का निवास-स्थान सूर्य-मंडल है। जब महाजन-समूह पर घोर आपत्ति विपत्ति पड़ती है और वह सर्व-प्राणेन, अपने ही मे व्याप्त परमात्म-चेतना से पुकार करता है, 'त्राहि, त्राहि'। तब उसी महाजन मे, उपयुक्त शरीरों मे देवभूत विदेह-मुक्त जीव जन्म लेते हैं, उद्धारार्थ। साथ हीं, दैत्य भी राक्षस भी, जिनका

निवास-स्थान इसी भूर्लोक मे है, जन्म लेते हैं। तब परस्पर संहार से पृथ्वी का बोझ कुछ थोड़े दिनो के लिये हल्का हो जाता है।

८६. वाक् ऋषिका स्त्री के रचे वैदिक मंत्र; तेंतीस मुख्य देवों का रहस्यार्थ—अपने मे किसी विशेष देवता का अध्यारोप करने का एक और उदाहरण देखिये। अंभृण ऋषि की पुत्री, वाक् नाम की, स्वयं ऋषि, वैदिक देवीसूक्त रचती है;

> ॐ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि, अहं आदित्यैरुत
> विश्वदेवैः, अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि, अहं
> इंद्राग्नी, अहं अश्विनोभा, यं कामये तं तं उग्रं
> कृणोमि, तं ब्रह्माणं, तं ऋषिं, तं सुमेधां,

प्रभृति अठारह मंत्र। अर्थात् मै, परमात्मा की माया शक्ति, देवी, ग्यारह रुद्रों, बारह आदित्यों, सब विश्वेदेवों, मित्र और वरुण, इंद्र और अग्नि, दोनो अश्विनी-कुमारों को उत्पन्न करती हूँ, जिस पर प्रसन्न होती हूँ उस को महा बलवान् उग्र बना देती हूँ, ब्रह्मा, ऋषि, सुमेधाः, मेधावी (धीः धारणावती मेधा) बना देती हूँ। ग्यारह रुद्र आदि का रहस्य अर्थ है; ये मेरुदंड पृष्ठवंश 'स्पाइनल् कौलम', की तेंतीस गुरिया 'वर्टेब्रा', हैं; एवं कैलास, मानस सरस्, आदि के भी रहस्यार्थ; ऐसी सूचना प्राचीन ग्रंथों मे की है। पूरा अर्थ निकालना और उस से काम ले कर सिद्धियां प्राप्त करना, यह कठिन योग साधने वाले ही कर सकते हैं। आंभ्रिणी के सिवा प्रायः पंद्रह सोलह कुमारी भी और विवाहिता भी ऋषिकाओं के रचे वैदिक सूक्त मिलते हैं। स्त्रियों की निंदा करनेवालों को, और उन को वेदाध्ययन की अनधिकारिणी कहने वालों को, यह स्मरण रखना चाहिये।

८७. परिमित सीमित मूर्तिपूजा भी उचित—पहिले कहा कि श्रद्धा-जड़ लोक कृष्ण के मांसास्थिमय शरीर को ही पूर्णावतार मानते हैं और उस की नवधा भक्ति करते हैं,

> श्रवणं कीर्तनं (विष्णोः), स्मरणं, पादसेवनं,

अर्चनं, वन्दनं, दास्यं, सख्यं, आत्मनिवेदनं।

तो क्या उन को ऐसे विश्वास से हटाने का यत्न करना चाहिये ? कदापि नहीं।

तान् अकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन् न विचालयेत्;
ये यथा मां प्रपंद्यते तान् तथैव भजाम्यहं;
भक्तानां अनुकम्पार्थं देवो विग्रहवान् भवेत्;
तत् श्रूयतां अनाधारा धारणा न उपपद्यते;
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैवऽमूर्तं च,

'तत्र यद् अमूर्तं तत् सत्, यन् मूर्तं तद् असत्', आदि कृष्ण ने स्वयं कहा है कि जो लोग कम जानते हैं, बाल-बुद्धि हैं, उन्हे तत्व जानने वालों को उन के विश्वास से विचलित करना उचित नहीं; अन्यथा, 'इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः', 'संशयात्मा विनश्यति', संशय मे पड़ जायँगे, मूर्त्तिपूजा छोड़ देंगे, अद्वैत वेदांत समझेंगे नहीं, नष्ट हो जायंगे। और भी; ब्रह्म परमात्मा ने स्वयं असंख्य मूर्तियाँ धारण किया है, तो जीवात्मा क्यों न मूर्ति की उपासना करै ? जिस को जैसी श्रद्धा वैसी ही उपासना करै, अंत मे परम लक्ष्य को पा ही लेगा, 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'।

८८. चारो वर्णों तथा स्त्रियों का यथोचित आदर उचित है— एक स्थान पर कृष्ण ने कहा,

मां हि पार्थ !, व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः,
स्त्रियो, वैश्याश्च, शूद्राश्च, तेऽपि यांति परां गतिं।

तो क्या स्त्री, वैश्य, शूद्र पापयोनि हैं ? नहीं; यह केवल अशिक्षितों के लिये कहा है। और भी; सुपठित स्त्रियों का भी जीवन प्रायः दुःखमय होता है; गर्भाधान, प्रसव की पीड़ा, बालकों की बीमारियाँ, उनकी परिचर्या के लिये दिन दिन और रात रात भर जागना, इत्यादि। स्वयं कृष्ण, जब अपनी पितृष्वसा बूआ कुन्ती से पास जाते थे तब उन का चरण-स्पर्श करते थे, माता देवकी और उपमाता यशोदा और उपपिता पालक-पोषक नंद जी का कहना ही क्या है; सत्यभाभा के तो दास ही

थे; जो वह आज्ञा करती वह, अन्य सब कार्य छोड़ कर, पहिले करते थे; उन की ज्येष्ठ पत्नी रुक्मिणी भी सत्यभामा से डरती थी।

प्रायः पंडित विद्वानो का भी ऐसा विश्वास है कि मनु ने स्त्रियों की निंदा ही, और ब्राह्मणो की प्रशंसा ही, की है। यह नितांत भ्रम है। मनु ने सद् ब्राह्मण सत् क्षत्रिय और सती स्त्री की प्रशंसा देवों से भी अधिक की है, 'सतीभिर्धार्यते जगत्'; एवं दुर्ब्राह्मणो, दुष्ट क्षत्रियों, और असती स्त्रियों की घोर निंदा की है। पुराकाल मे ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों, स्त्री देवियों ने भारत को स्वर्ग बनाया था; उन के विपरीतों ने नरक बना दिया है। एवं, महाभारत मे भीष्म ने कहा है 'वार्तामूलं इदं जगत्'; दुर्गा-सप्तशती मे, देवी की स्तुति मे, देवों ने कहा 'वार्तासि सर्वजगतां परमार्ति-हंत्री', और 'वैश्याधीनां वार्ता'; तथा अनुशासन पर्व मे कहा है,

तथैव, देवि !, वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः ;
अन्ये तान् उपजीवंति, प्रत्यक्षफलदाः हि ते;
यदि न स्युः तु इमे वैश्याः, न भवेयुः तदाऽपरे। एवं
तथैव शूद्राः विहिता सर्वकर्मप्रसाधकाः ;
शूद्रास्तु यदि न स्युः ते कर्मकर्ता न विद्यते ;
त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः, सर्वे कर्मकराः स्मृताः।

यह सत् पुरुषों की बात हुई; अब सैकड़ों वर्षों से आज तक,

शिक्षकाः वंचकाः जाताः, रक्षकाश्चापि भक्षकाः,
पोषकाः शोषकाः नूनं, सेवकाः ननु धर्षकाः।

पहिले कह आये, दुर्गा-सप्तशती मे 'विद्याः समस्ताः तव देवि भेदाः, स्त्रियः समस्ताः स-कलाः जगत्सु' इत्यादि। और देखिये, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तो अप्रत्यक्ष देवता हैं; सरस्वती, लक्ष्मी, गौरी, प्रत्यक्ष हैं। दीपावली के दिन, विशेष कर वैश्य घरों मे, लक्ष्मी की पूजा होती है उन का प्रत्यक्ष रूप है, स्वर्ण के द्रम्म दीनार टंक आदि से भरी थैली। एवं विजय-दशमी के दिन, विशेष कर क्षत्रिय घरों मे, खड्ग की पूजा होती है, जो दुर्गा देवी की प्रत्यक्ष मूर्ति है। सरस्वती की पूजा, जहाँ तक

मुझे विदित है, कम होती है, यद्यपि होनी चाहिये, विशेष कर ब्राह्मण घरों मे; उन का प्रत्यक्ष आकर पुस्तक है; एक स्तोत्र मे 'वीणापुस्तक-धारिणी' उनका विशेषण कहा है।

८९. **सत्त्व-रजस्-तमस् के साथी अन्य कई त्रिक; तीनो गुण और उन से अन्य त्रिक, अच्छे भी और बुरे भी**—अब दूसरे विषय की ओर चलिये। सत्त्वं-रजः-तमः इन तीन शब्दों से संस्कृत वाङ्मय व्याप्त है; एवं धर्मः-अर्थः-कामः तीन पुरुषार्थों से; चतुर्थं पुरुषार्थ मोक्ष इन का विरोधी है। मोक्ष का भी त्रिवर्ग है; धर्म-स्थानी वैराग्य, अर्थ-स्थानी योग-सिद्धियाँ, काम-स्थानी भक्ति। महाभारत मे कहा है।

मोक्षस्यऽस्ति त्रिवर्गोऽन्यः, यत् तु सत्त्वं-रजस्-तमः। (म. भा.)
सत्त्वं रजस्-तमः इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। (गीता)

यद्यपि ये प्रकृति के गुण हैं, पर उपलक्षण हैं अपने अनुयोगी चित्-सत्-आनन्दः के, जो पुरुष के गुण हैं। प्रथा सत्-चिद्-आनन्दः कहने की हैं, यहाँ व्युत्क्रम विशेष कारण से कहा; वह हेतु है, प्रथित क्रम से प्रकृति के तीन और पुरुष के तीन गुणो की अनुयोगिता द्योतित नहीं होती।

सत्त्वं ज्ञानं, रजः कर्म, तमः अज्ञानं इह उच्यते। (मनु)
रजो रागात्मकं विद्धि, तृष्णा-संग-समुद्भवं,
तन् निबध्नाति, कौंतेय! कर्मसंगेन देहिनं;
तमस्तु अज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व-देहिनां;
सत्त्वं सुखे संजयति, रजः कर्मणि भारत!,
ज्ञानं आवृत्य तु तमः प्रमादे संजयति उत। (गीता)

इन श्लोकों से स्पष्ट होता है कि चित् चेतना ज्ञानात्मक, सत् कर्मात्मक, आनन्द भक्ति-आत्मक है। ज्ञान-प्रज्ञान, आत्मा की अद्वितीयता के ज्ञान, से शांति; कर्म से, योग सिद्धि रूप शक्ति; भक्ति से आनन्द प्राप्त होता है।

ऐसा विश्वास प्रचलित है कि सत्त्व अच्छा ही अच्छा है, तमः बुरा ही, रजः मिश्रित; यह ठीक नहीं। ज्ञान का अच्छे कार्यों के लिये, मानव

जाति की सुख-समृद्धि बढ़ाने के लिये प्रयोग किया जाय तो अच्छा है; परस्पर विनाशन के लिये, जैसा पाश्चात्य वैज्ञानिकों के अद्भुत आविष्कारों उपज्ञों का विश्व युद्धों मे किया गया, तो अत्यंत निकृष्ट पापिष्ठ। एवं रजस् भी; ब्रह्मा राजस हैं, पर देवों के साथ दैत्यों राक्षसों का भी सर्जन करते हैं; शिव तामस हैं, किंतु भव भी हैं, रुद्र भी हैं, देवों की सहायता करते हैं, दैत्यों राक्षसों को भी वर देते हैं। सरस्वती, सत्व ज्ञान मय, प्रायः ऐसी भूल मे नहीं पड़ती, प्रत्युत ब्रह्मा की आज्ञा से कुंभकर्ण की जिह्वा मे प्रवेश कर के उस से इष्ट के स्थान मे अनिष्ट वर मगवा देती हैं, और कभी कभी, उपासकों को कविता शक्ति दे देती हैं, जैसे कालिदास और नैषध काव्य के रचयिता श्रीहर्ष की। एवं लक्ष्मी भी; यद्यपि लक्ष्मी का दुरुपयोग प्रायः सभी धनाढ्य, सभी युगों मे करते आये हैं, और अद्यत्वे तो बहुत ही। कृष्ण ने कहा है,

दातव्यं इति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे,
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्विकं स्मृतं।

९०. पात्र ही को दान देना चाहिये, अपात्र को नहीं—और इस का विपरीत दान 'तामसं उदाहृतं'। एक श्लोक बहुधा सुन पड़ता है,

शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पंडितः,
वाग्मी दश सहस्रेषु, दानी भवति वा न वा।

चतुर्थ पाद के स्थान मे मेरा पाठ है, 'संतोषी नैव दृश्यते', तथा 'भारतं लोभिभिर्व्याप्तं, याचकाश्च पदे पदे'। गौरी-काली का तो रूप ही उभयात्मक है, अन्नपूर्णा भी और दुर्गा चंडी भी, जैसा उन के पति भव-हर का।

पुराणो मे ब्रह्मा-विष्णु-महेश की उपासना का उपदेश है; ब्रह्मा की पूजा अब पुष्कर क्षेत्र, अजमेर के पास राजस्थान मे रह गयी है, तथा कश्मीर मे मतन अर्थात् मार्तंड मे, सूर्य के रूप मे। मैं ने सन् १९०१ मे इन का दर्शन किया; वहाँ के पंडों ने कहा कि पहिले सूर्य के आकार ही की, गोल, और किरणो सहित किसी श्वेत चमकते धातु की थी, किंतु

मुसलमानो के आक्रमण मे प्राचीन मंदिर और मूर्ति नष्ट हो गई, और जम्मू के डोग्रा प्रदेश के राजा, महाराज गुलाब सिंह, ने, जिन्हों ने, अंग्रेजी शासकों से, सिख राज्य के पतन के पश्चात् पछत्तर लाख रुपये मूल्य दे कर कश्मीर प्रदेश को लिया, पुनः नया मन्दिर और मानवाकार मूर्ति बनवाई जो अब तक है। यह स्थान श्रीनगर से प्रायः पचास मील उत्तर, झेलम नदी के किनारे है। ब्रह्मा के पहिले पाँच सिर थे, पाँच तत्त्वों के अनुसार; विशेष कारण से, आकाशात्मक एक को रुद्र ने काट डाला, तब से उन की पूजा भी बंद हो गयी। यह सब लम्बी कथा, रहस्यार्थमय रूपक है। विष्णु और शिव की पूजा अब भी चलती है; विष्णु की बहुत रूपों मे, अवतारों के अनुरूप, विशेष कर राम और कृष्ण के आकार मे; इन के मंदिरों से समग्र भारतवर्ष व्याप्त है, कश्मीर मे प्रायः नहीं, आसाम मे कम। महाराज गुलाब सिंह और उन के वंशजों ने अब कई नये मंदिर, रघुनाथ की मूर्ति, तथा शिव लिंग, के लिये बनवाये हैं। दक्षिण समुद्र के द्वीपों मे, जावा, सुमात्रा, स्याम, बाली, तथा बर्मा मे, प्रायः राम और बुद्ध देव की।

यह सब ठीक है, पर जैसा अभी कहा, सत्यतः मानव-मात्र देवियों की त्रिमूर्ति के उपासक हैं, ज्ञान-देवता सरस्वती, धन सम्पत्ति की देवता लक्ष्मी, सौंदर्य स्वास्थ्य बल शौर्य को देवी बहुनामिका गौरी, काली, अन्नपूर्णा, दुर्गा आदि। इन के बिना मनुष्य का जीवन दुःखमय हो जाता है; अथ किं, पशु तक भी इन की उपासना करते हैं।

९१. विदुर के एक श्लोक की व्याख्या—महाभारत के प्रजागर पर्व मे विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा,

अर्थागमो नित्यं अरोगिता च, प्रिया च भार्या, प्रियवादिनी च,
वश्यश्च पुत्रो, ऽर्थकरी च विद्या, षड्भागधेयस्य सुखानि, राजन् !

प्रतिदिन आय हो, उपयोग मात्र, बहुत अधिक होने से घोर चिंता का कारण हो जाती है; 'आज बाजार भाव क्या है, बहुत घट तो नहीं गया, दिवाला तो न निकल जायगा ?' इत्यादि; यह लक्ष्मी का अंश

हुआ। अरोगिता, गौरी का। प्रिया भी और प्रियवादिनी भी, यह नहीं कि पति महाशय तो पत्नी पर प्राण देते हों और वह इन्हें दुत्कारती हो—ऐसी भार्या भी गौरी की कृपा से मिलती है। तथा 'वश्यश्च पुत्रः', पिता पितामह गुरु आचार्य का कहना मानने वाले, उन का आदर करने वाले पुत्र पौत्र छात्र, आजकाल के से उच्छंखल उद्दंड नहीं। अर्थकरी विद्या मे तीनो देवियां उपस्थित हैं; अर्थ शब्द दो बार आया, पहिले का अर्थ सीधा साधा धन है, दूसरे का अर्थ चतुः पुरुषार्थ है; विद्या ऐसी होनी चाहिये जो जीविका को साधै, और धर्म-काम-मोक्ष को भी; स्पष्ट है कि ऐसा, तीनो देवियों की प्रसन्नता से ही हो सकता है।

'वश्यश्च पुत्रः' के संबंध ने आगे और कहा जायगा, अनुशासनहीनता दुर्विनीतता के कारणो और उन के अपायों के विषय में।

९२. धर्म अर्थ काम के त्रिक को चर्चा गीता मे कम है—धर्म-अर्थ-काम के विषय मे कृष्ण ने अधिक नहीं कहा है, 'धर्म-अर्थ-कामान्' अ० १८ श्लो० ३४ मे मिलता है; 'स्व-धर्म' की चर्चा पुनः पुनः; 'धर्मऽविरुद्धः कामः', 'धर्म-संस्थापनाय', 'धर्मस्य', 'धर्म्यं', तथा तीन चार ही और शब्द कहे हैं जिन मे धर्म शब्द आया है। एवं 'अर्थः, अर्थकामान् अर्थव्यपाश्रयः, अर्थसंचयान्, अर्थार्थी, अर्थे, छः ही वार; काम शब्द छब्बीस वार, 'कामकामाः, कामकारतः, कामक्रोधपरायणाः, कामभोगार्थं, कामरागविवर्जितं, कामात्मानः' आदि।

९३. तीनो गुणो का परस्पर अविच्छेद्य संबंध—परंतु सत्व-रजस्-तमस् शब्द पचासों वार आये हैं, १४, १६, १७, १८ वें अध्याओं मे इस त्रिक का बहुत और बहुत शिक्षाप्रद व्यवहारोपयोगी प्रयोग किया है।

> न तद् अस्ति पृथिव्यां वा, दिवि देवेषु वा पुनः,
> सत्त्वं प्रकृतिजैः मुक्तं यत् स्याद् एभिस्त्रिभिः गुणैः।
> रजः-तमः चऽभिभूय सत्वं भवति, भारत!,
> रजः सत्त्वं तमः चैव, तमः सत्वं रजस्तथा।

सांख्यकारिका का यही आशय है,

अन्योऽन्यऽभिभवऽाश्रय-मिथुन-जनन-वृत्तयश्च गुणाः ।

ये तीन गुण, एक दूसरे को दबाते रहते हैं, एक दूसरे पर आश्रित भी हैं, कभी अलग नहीं होते, तथा एक दूसरे को जन्म भी देते रहते हैं । परस्पर विरोधियों का ऐसा विचित्र संरोध अनुरोध भी है । देवी-भागवतादि पुराणो मे इसी आशय के कई-कई श्लोक मिलते हैं । अपने दैनं-दिन अनुभव मे इस आश्चर्य को देखिये । जिस समय सत्व अर्थात् ज्ञान की प्रवृत्ति होती है, इच्छा और क्रिया छिप जाती हैं, पर उन का बीज बना रहता है; ज्ञान के पश्चात् तमस् अर्थात् इच्छा प्रबल होती है, उस ज्ञान के अनुसार, यथा बच्चा, क्या सयाना भी, यदि सुस्वादु आम्रफल को देखता है तो उसे खाने की इच्छा होती है, और यदि कोई प्रतिबंधक न हो तो ग्रहण करता है और खाता है, अर्थात् रजोमय क्रिया का उदय हुआ । इस के विपरीत, यदि सर्प को देखता है तो, यदि चतुर सँपेरा आहितुंडिक है तो उसे पकड़ कर अपनी मंजूषा मे बन्द कर देता है, वा मार देता है, यदि निःशस्त्र और भीरु है तो भागता है, इत्यादि ।

९४. **गुणो के अनुसार परलोक। त्रिको मे दो विशेष कर स्मरणीय**—इन तीन गुणो के अनुसार, परलोकगमन, मनुष्यों के स्वभाव, आदि कहे हैं;

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा,
सात्विकी, राजसी चैव, तामसी च, इति तां शृणु ।

त्रिविध श्रद्धा, त्रिविध अराध्य देव, तपस्, आहार, यज्ञ, दान, त्याग, कर्म-संग्रह, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख आदि कहे हैं, सभी नितांत समझने विचारने, यथोचित काम मे लाने, के योग्य हैं; पर दो त्रिक विशेषतः व्यवहारोपयोगी हैं, एक मानस, दूसरा शारीर; यथा

प्रवृत्तिं च, निवृत्तिं च, कार्याकार्ये, भयाभये,
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः, सा, पार्थ !, सात्विकी ।

यया धर्मं अधर्मं च, कार्यं च ऽकार्यमेव च,
अयथावत् प्रजानाति, बुद्धिः सा जातु राजसी।
अधर्मं धर्मं इति या मन्यते, तमसाऽऽवृता,
सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा ननु तामसी।

इन तीन श्लोकों मे समस्त अद्वैत वेदांत, दर्शन, पुराण, धर्म-शास्त्र आ गया। सैकड़ों, अपितु सहस्रों वर्षों से, महाभारत के समय से, अर्थात् पाँच सहस्र वर्षों से, अथवा उस से भी पहिले से, आज तक भारत मे और समस्त मानव संसार मे तामसी बुद्धि का प्रभाव बढ़ता ही गया है;

आयुः-सत्त्व-बल-ऽऽरोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः,
रस्याः, स्निग्धाः, स्थिराः, हृद्याः आहाराः सात्त्विक-प्रियाः।
कटु-अम्ल-लवण-ऽत्युष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः,
आहाराः राजसस्य इष्टाः, दुःख-शोक-ऽऽमयप्रदाः।
यातयामं, गतरसं, पूति, पर्युषितं च यत्,
उच्छिष्टं अपि च ऽमेध्यं, भोजनं तामसप्रियं।

इन तीन श्लोकों मे निःशेष आयुर्वेद और स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय भर दिये हैं। इन का विस्तार सुश्रुत चरकादि ग्रन्थों मे देखना चाहिये; अन्यथा, व्यवहार मे हानिकारक भूल हो जाने का भय है; यथा वैद्यक ग्रंथों मे उपदेश है कि षड्रस भोजन, कटु आदि भी, करना चाहिये; इस से, मुखरस का, जिसे अंग्रेजी मे 'सालाइवा' और संस्कृत मे रोचक पित्त कहते हैं, उत्पादन अधिक होता है; इस रस से सु-चर्वित कवल अधिक रोचक स्वादु हो जाता है, और अन्य चार प्रकार अर्थात् पाचक, रंजक, आभ्राजक, सारक, पित्तों की उत्पत्ति मे सहायता मिलती है। एवं, 'भोजनादौ सदा पथ्यं लवणाऽऽर्द्रकभक्षणं' तथा 'स्निग्धं उष्णं च भोजनं पथ्यं', पर आर्द्रक, मुख को आर्द्र करनेवाली, रोचक पित्त की जननी, अद्रक, आदी तीक्ष्ण है, लवण भी राजसों में गिना है, उष्ण भोजन पथ्य है हितकर है, तो क्या इन का त्याग उचित है? कदापि नहीं; लवण के बिना तो अन्न स्वादहीन हो जाता है; श्लोक मे कहे

'अति' शब्द को सब के साथ जोड़ना चाहिये। यातयाम, जिस को बनाये एक याम, प्रहर, तीन घंटा बीत गया हो, दुर्गन्ध पीबमय पर्युषित, बासी, तिवासी भोजन तामस है; इस उपदेश का संबंध दाल, भात, शाक तर्कारी आदि से है; घृतपक्व अन्न इस उत्सर्ग का अपवाद है; एकदल गोधूम, द्विदल चणक, आदि के चूर्ण के बने माठ, मठली, बुंदिया, गुझिया आदि व्यंजन, बहुत कड़े पकाये हुए, महीनो नहीं विकृत होते, विशेष कर शीत ऋतु मे। रेल के आगमन से पूर्व, दूर-दूर से वर-यात्रा तीर्थयात्रा आदि को लोक आते जाते थे, तब विदा के समय वधू के साथ बहुत बड़े बड़े ऐसे ही माठ गोझा आदि भेजे जाते थे, जो अठवारों, कभी महीनो, काम देते थे।

इन दो प्रकारों से मनुष्य, शरीर को स्वस्थ और मन को शांत रख कर, स्व-धर्म का पालन करता हुआ चारो पुरुषार्थों को साध सकता है।

९५. 'गहना कर्मणो गतिः', अतः कर्म के प्रकारों और उन के फलों समझना आवश्यक। नैष्काम्य नैष्कर्म्य का ठीक अर्थ— 'सर्वशास्त्रमयी गीता' द्वारा अर्जुन को कर्म मे ही लगाना है, अतः कृष्ण कहते हैं,

> कर्मणो हि अपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः,
> अकर्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः।
> न कर्मणां अनारंभात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते,
> न च संन्यसनाद् एव सिद्धिं समधिगच्छति।
> न हि कश्चित् क्षणं अपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत्।

कर्म की गति बहुत गहन गभीर है, शीघ्र समझ नहीं पड़ती, क्या कर्म है, क्या विकर्म, विगीत कुत्सित कर्म है, क्या अकर्म कर्माऽभाव है, यह सब बहुत सूक्ष्म विवेक से जानना चाहिये। कर्मो के अनारंभ से, आरंभ न करने से, ही नैष्कर्म्य नहीं सिद्ध होता, न सन्यसन से ही। क्षण भर भी कोई बिना कर्म के नहीं रहता; निद्रा मे भी मनुष्य कर्वट बदलता, श्वास

प्रश्वास लेता छोड़ता, रहता है, हृदय भी, रुधिर भी चलता रहता है। मनु ने भी कहा है,

कामऽात्मता न प्रशस्ता, न च एव इह अस्ति अकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः।
संकल्पमूलः कामो वै, यज्ञाः संकल्पसंभवाः,
व्रतानि यमधर्माश्च, सर्वे संकल्पजाः स्मृताः।
अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते न इह कर्हिचित्;
यद् यद् हि कुरुते किंचित्, तत् तत् कामस्य चेष्टितं।
तेषु सम्यग् वर्तमानो गच्छति अमरलोकतां,
यथा-संकल्पितान् च इह सर्वान् कामान् समश्नुते।

काम मे अधीन हो जाना अच्छा नहीं, पर काम का सर्वथा अभाव, भी संभव नहीं; वेदों का अध्ययन, यज्ञादि का करना, व्रत, नियम, आदि सब काम और संकल्प के ही फल हैं, यहाँ तक कि समस्त जगत्, परमात्मा के काम और संकल्प से ही बना है और चल रहा है। कोई भी क्रिया, किसी की भी, बिना काम की प्रेरणा के नहीं होती; किंतु शुभ काम से कर्म करने वाला मनुष्य इस लोक में सब इष्ट वस्तुओं को पाता है, और देहत्यागानंतर स्वर्ग को जाता है; अशुभ काम से प्रेरित कर्म करने वाला, यहाँ तो चाहे कुछ दिन सुख समृद्धि भोग ले, किन्तु मरने पर अवश्य नरक मे गिरता है, जैसा पहिले कह आये। नैष्कर्म्य का अर्थ कर्म का अभाव नहीं, सब कर्म का त्याग नहीं, वरन् ऋणकारक अशुभ कर्म का त्याग और ऋणमोचक कर्म का ग्रहण। पाप कर्म सब ऋणकारक हैं, जो दुःख दूसरे को दिया वह किसी न किसी दिन कर्ता पर लौट कर आवैगा, वह लौहे की सांकल पैरों मे पड़ी है, जब तक ऋण चुकै नहीं, लौटा दुःख पापकर्ता भोग न ले, तब तक साँकल खुलैगी नहीं, बंदीगृहरूपी कारावास मे पड़ा रहना पड़ैगा। पुण्य कर्म भी ऋणकारक है, उस की सांकल, शृंखला, सोने की है, जो लोहे के सिक्कड़ से ढाई गूनी भारी है; कारण यह कि ऋणदाता के मन मे उग्र इच्छा

बनी रहती है कि जो ऋण दिया है वह ऋणी से लौटा लें, इस कारण वह स्वर्ग मे पड़ा हुआ भी पृथ्वी पर लौटना चाहता है, और कभी न कभी लौटेगा; इस रीति से, 'गतागतं कामकामा लभंते'; वेदान्त की दृष्टि से 'पुण्यं च पापं च पापे'।

६६. गतागतं से कैसे मुक्त हो ? किन कर्मों को त्यागना उचित, किन को तजना नहीं उचित—इस आवागमन से छूटे कैसे ?

त्याज्यं दोषवद् , इति एके, कर्म प्राहुर्मनीषिणः,
यज्ञ-दान-तपः कर्म न त्याज्यं इति चऽपरे;
निश्चयं शृणु मे तत्र, न त्याज्यं, कार्यं एव हि
यज्ञ-दान-तपः–कर्म, पावनं तत् मनीषिणां।
एतानि अपितु कर्माणि संगं त्यक्त्वा, फलानि च,
कर्तव्यानि इति मे सत्यं निश्चितं मतं उत्तमं।
ॐ तत् सद् इति निर्देशः ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः ;
ब्राह्मणाः तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च विहिताः पुरा ;
तस्माद् ॐ इति उदाहृत्य, यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः ;
प्रवर्तंते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनां।
तत् इति अनभिसंधाय फलं, यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः ;
दान-क्रियाश्च विविधाः, क्रियंते मोक्ष-कांक्षिभिः।
सद्भावे साधुभावे च सद् इति एतत् प्रयुज्यते,
प्रशस्ते कर्मणि तथा, यज्ञे तपसि च स्थितिः,
कर्म चऽपि तदर्थीयं सद् इति एव अभिधीयते।

कोई कहते हैं कि यज्ञ दान तपस्या भी दोषयुक्त हैं, कोई कहते हैं नहीं; इस विवाद मे मेरा निश्चय है कि ये त्याज्य नहीं; किंतु फल की आकांक्षा बिना किये जाने चाहियें, जैसा बहुवार पहिले कह आये,

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ;
कर्मणि एवऽधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ;
मा कर्मफलहेतुः भूः, मा ते संगोऽस्तु अकर्मणि।

इत्यादि, अर्थात् फल मे अनासक्ति से जो कर्म केवल धर्मबुध्या कर्तव्य-बुध्या किया जाता है, वह, पापकारी शत्रु का वध ही क्यों न हो, बंधन नहीं करता; ऐसी ही बुद्धि से किया पुण्य भी बन्धक नहीं होता। यथा, हत्याकारी को प्राड्विवाक् न्यायाधीश वधदंड देता है, किंतु उसे पाप नहीं लगता; एवं, राजा की आज्ञा से कोषाध्यक्ष किसी मनुष्य को बहुत धन दे देता है, पर उस को पुण्य नहीं होता। इस रीति नीति से जो कर्म करता है उस को पुण्य-पाप दोनो से, सब भयों से, शंकाओ से, सांसारिक बंधनों से, योग-भाष्य मे कही हुई चित्त-विमुक्ति जीवन्मुक्ति मिल जाती है; विदेह-मुक्ति, आत्यंतिक मोक्ष, देहपात पर मिलैगा।

९७. 'ॐ तत्सत्' का अर्थ। तत्संबंधी शंका का समाधान—ब्रह्म का, वेदपाठ का आरंभ, ॐ तत् सत्, इन तीन शब्दों से किया जाता है, अर्थात् वेद का संहिता भाग, तथा कर्मकांडात्मक ब्राह्मण भाग, जिस मे यज्ञो की विधियों का निर्देश है। शंकर ने ब्राह्मण शब्द का कुछ अर्थ नहीं किया है, उसे ज्यों का त्यों भाष्य मे रख दिया है, जिस से भ्रम होता है कि ब्राह्मण जाति से अभिप्राय है; पर यह हो नहीं सकता; यदि ऐसा होता तो केवल ब्राह्मण न कह कर मानवा: कहते; अत: उक्त रीति से ही व्याख्या उचित है। यह शंका हो सकती है कि वेद के कर्म-कांडात्मक भाग का वाचक ब्राह्मण शब्द नपुंसक लिंग है, और यह पुँलिङ्ग का प्रयोग किया है; इस का उत्तर यह है कि आर्ष ग्रन्थों मे ऐसे प्रयोग बहुत हैं, और गीता मे कितने ही स्थानो मे अर्वाचीन पाणिनीय व्याकरण का उल्लंघन करने वाले प्रयोग आये हैं। ॐ का अर्थ विस्तार से कह आये, और यह भी दिखाया कि कैसे संसार की उत्पत्ति उस से होती है। सत्य शब्द सत्य तथ्य के अर्थ मे भी, और साधु के भी, कहा जाता है, अमुक पुरुष बहुत सत्-जन, सत्-पुरुष है; एवं सत्-कर्म।

९८. गीता के उपदेशों का, भारत को वर्तमान घोर दुर्दशा के सुधारने मे, कैसे उपयोग किया जाय? तीन मुख्य दुर्दशा और तीन ही मुख्य उपाय—गीता के सब मुख्य-मुख्य आशय कहे जा चुके;

केवल एक बात शेष है। यह कि इन आशयों उपदेशों आदेशों का भारत की वर्तमान घोर दुर्दशा के सुधारने के लिये, अति जटिल और उग्र समस्याओं, उलझनो, को सुलझाने के लिये, उपयोग प्रयोग कैसे किया जाय। तीन समस्या कठिनतम हैं,

(१) प्रथम, जन संख्या की अतिवृद्धि, जो दिनोदिन अधिकाधिक होती जाती है।

(२) द्वितीय, समग्र देश मे, छात्रों मे, जनता के भृत्यों मे, 'पब्लिक् सर्वेंट्स्' मे, जो बहुत वर्षों से अपने को जनता का मालिक, स्वामी, हाकिम, 'पब्लिक् मास्टर्स्', समझ रहे हैं, तथा स्वयं जनता के प्रत्येक विभाग मे, उद्दंडता, काम-संबंधी और अर्थ-संबंधी दुरा-चार, भ्रष्टाचार, उत्कोच-ग्रहण, धमका कर धन लेना, 'ब्लैक-मेल', चोर-बाज़ारी, स्त्रियों पर बलात्कार, हत्याएं, डकैतियाँ, चलती ट्रेन मे घुस कर यात्रियों को छुरे और पिस्तौल दिखा कर उनका सब धन लूट लेना, तथा कभी-कभी मार डालना, और धनाढ्य व्यक्तियों को पकड़ ले जाना और उन के संबंधियों को पत्रद्वारा लिख भेजना कि, यदि इतने दिनो के भीतर इतने सहस्र रुपये अमुक स्थान पर गुप्त रूप से न भेज दोगे, अथवा पुलीस के पास जाओगे, तो बन्दी मार डाला जायगा, और तुम्हारे घरों मे अवसर देख कर घुसेंगे और तुम्हे भी मार डालेंगे और सब धन भी लूट लेंगे; तथा बंकों से, सर्कारी स्टेट और रिज़र्व बंको से भी, दिनदहाड़े, लाखों रुपये के नोट लूट ले जाना। यह तीनों प्रकार के घोर साहसिक अपराध जो अंत मे कहे गये, अंग्रेज़ी राज्य मे, भारत मे, सुने भी नहीं जाते थे, अब पश्चिम से, विशेष कर अमेरिका से, समाचारपत्रों मे उन का वर्णन पढ़-पढ़ कर, तथा साइनेमा मे देख कर, यहां के दुष्टों ने सीख लिया है। देशव्यापी अराजकता, मात्स्य-न्याय, फैल रहा है, जैसा महाभारत के एक श्लोक मे कहा है,

यदि न प्रणयेद् राजा दंडं दंड्येषु अतंद्रितः,
जले मत्स्याः इवऽभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः।

यदि राजा और राजभृत्य राजपुरुष सर्वदा जागरूक सावधान हो कर दंडयोग्य अपराधियों को सम्यक् दंड न दें, तो जैसे जल मे दुर्बल मछलियों को बलवान् मछलियाँ खा जाती हैं, वैसे बलवान् मनुष्य दुर्बलों को खा जायँ।

(३) तृतीय समस्या यह है कि नई पीढ़ी के छात्रों को सद्धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती और उन को अर्थकरी, जीविका-साधनी, विद्या की, उन के स्वभाविक योग्यता और रुचि के अनुसार शिक्षा नहीं दी जाती। इन कारणो से उन को जगन्नियंता परमेश्वर मे विश्वास नहीं, न कर्म-विपाक अर्थात् सुकृत-दुष्कृत के फलरूपी स्वर्ग-नरक मे विश्वास; इसी से उन मे निरंकुशता उद्दंडता बढ़ी है। यहाँ तक कि अलीगढ़ के एक विद्यालय के छात्रों ने प्रिंसिपल को, प्राय: डेढ़ वर्ष हुए, मार ही डाला, तथा आज़मगढ़ ज़िले की एक पाठशाला के प्रधानाध्यापक हेड्मास्टर को; एवं लखनऊ मे पिछली वार्षिक परीक्षा के लिये जब विद्यार्थी बैठे, तब, उन पाठ्य-पुस्तकों को, जिन मे परीक्षा होनेवाली थी, अपने साथ लेते गये थे, और उन्हें खोल कर उन मे से प्रश्नों के उत्तर लिखने लगे, तथा जब अध्यापकों ने, जो वहाँ ऐसी क्रियाओं को रोकने के लिये पहरा दे रहे थे, उन्हे मना किया, तो उन को धमकाया कि यदि हमारे मनमाने काम मे विघ्न करोगे तो मारे-पीटे जाओगे। ये सब बातें दैनिकों मे छपी हैं, गुप्त नहीं हैं। अन्य विश्वविद्यालयों के भी विद्यार्थियों परीक्षार्थियों के विषय मे भी ऐसा ही सुना जाता है।

अब प्रश्न यह है कि दुर्दशा का अपाय, अर्थात् दूर करने का उपाय, क्या है। तीनो समस्याओं का परस्पर अविच्छेद्य संबंध है। यद्यपि गीता मे जनसंख्या-वृद्धि नहीं कही है, तद्यपि महाभारत-संग्राम और प्रजा-विनशन का कारण व्यास जी ने, जो तन्नामक ग्रंथ मे लिखा है, वह स्पष्ट यही है। जब इतनी संख्यावृद्धि होगी तब अवश्यमेव जीवन-संग्राम, 'स्ट्रग्ल् फ़ौर एक्सिस्टेंस्', भी उग्र होगा, और साहसिक अपराध और अराजक बढ़ें और फैलेंगे। एवं धर्माधर्म के सुख-दुःखात्मक फलों

में, और फलदाता अंतर्यामी यमराज ईश्वर में विश्वास न होने से स्वच्छंद अनाचार दुराचार बढ़ा है।

अपाय भी तीन के तीन हैं।

(१) जनसंख्या-वृद्धि के रोकने के उपायों में जहाँ तक मेरे देखने सुनने मे आया, और डाक्टरों सर्जनो से पूछने पर विदित हुआ, सर्वोत्तम प्रकार, डाक्टर स्टाइनॉक् का है। इस विषय की, जनता के समक्ष निस्संकोच चर्चा करने मे झूठी लज्जा करने का समय गया। स्वयं शासकवर्ग इस ओर अब जागरूक है और उस ने प्रत्येक बड़े नगर में छोटी समितियाँ बनवा दी हैं, जो गर्भ-निरोध की आवश्यकता का प्रचार कर रही हैं और निरोधकारक उपकरणो का विक्रय भी करती हैं। किंतु इन से, नगरनिवासी धनाढ्य एक सहस्त्र वा दो सहस्त्र, वा बहुत बड़े, कलकत्ता, बम्बई, कानपुर, दिल्ली, मद्रास आदि नगरों मे पच्चीस तीस सहस्त्र, आढ्य पुरुष ही लाभ उठा सकते हैं। ग्रामो मे जहाँ नब्बे प्रतिशत जनता बसी है, वहाँ ही, वित्तहीन एक एक मिथुनो को दस दस और पंद्रह-पंद्रह बच्चे होते हैं, वहाँ इन उपायों से लाभ उठाना असंभव है। स्वभावत: आधे से अधिक बच्चे थोड़े ही दिनो मे मर जाते हैं, तथा प्रायः इतनी ही माताएँ प्रसवपीड़ा से। अब शासक वर्ग यत्न कर रहा है कि ऐसा प्रबंध किया जाय जिस से न प्रसविणी मरें न बच्चे। इस से जन-संख्या-वृद्धि का उत्तेजन ही होगा। कहने मे हृदयहीन और नृशंस जान पड़ता है, पर सत्य यह है कि इन प्राकृतिक नियमो की प्रवृत्ति मे विघ्न करना उचित नहीं। अथवा यदि करना है तो उक्त स्टाइनॉक के शस्त्र-कर्म को समझा बुझा कर, करा लेने से गुण, न कराने से दोष, बता कर करवाना चाहिये। उस का प्रकार क्या है वह सभी डाक्टर जानते हैं, और वह नितांत सरल, पीड़ारहित, अत्यल्पव्यय-साध्य है, पाँच सात दिन मे ही पुरुष चलने फिरने लगता है। जिस विवाहित मिथुन के दो, अथवा अधिक से अधिक तीन, अपत्य हो चुके हों, उन के पुरुष को यह शल्य-कर्म करा ही लेना चाहिये। इससे शारीर

सुख मे कोई विघ्न नहीं होता; यह मुझे काशी के दो तीन मित्रों से विदित हुआ, जिन्हों ने, अपनी इच्छा से, यह शस्त्र-कर्म अपने ऊपर कराया; एवं सर्जनो से भी यही सुना। स्त्री शरीर पर भी ऐसा शस्त्र-कर्म हो सकता है, पर वह कुछ पीड़ाकर और किंचित् अधिक द्रव्य-साध्य है और चिकित्सि को कुछ अधिक काल तक चारपाई मे पड़ा रहना होता है।

(२) द्वितीय जटिल समस्या का भी कारण वही उक्त अविश्वास है। परमेश्वर मे, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप के फ़ल रूपी स्वर्ग मे विश्वास के स्थान पर, जड़वाद मे विश्वास, पाँचभौतिक शरीर ही सब कुछ है, इसी का सुख साधो, हत्या कर के, डाका डाल के, डरा धमका के, उत्कोच ले कर, जैसे भी हो धन-संग्रह कर के चैन करो, मौज करो, ऐयाशी बदमाशी करो;

यावज् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्,
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?

अंग्रेज़ी मे भी कहावत है, 'ईट्, ड्रिंक, ऐंड बी मेर्री फ़ौर् टुमौरो वी डाइ', खाओ, पीयो, हँसो, खेलो, कल तो मरना है ही।

असत्यं अप्रतिष्ठं ते जगद् आहुः अनीश्वरं,
अपरस्पर-संभूतं, किं अन्यत्, कामहैतुकं।
एतां दृष्टिं अवष्टभ्य, नष्टऽात्मानः अल्पबुद्धयः,
प्रभवंति उग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।

ईश्वर को किसी ने देखा है? शरीर को तो सभी देखते हैं। जब तक देह चलै तब तक सुख से जीयो, पैसा पास न हो तो ऋण ले कर घी पीयो; चुकाना थोड़ा ही है, देह भस्म हो गया तो फिर कभी आ सकता है? भारत मे घृत का बड़ा महिमा है, वेदों मे कहा है, 'आयुर्वै घृतं', घृतं इति उपलक्षणं, घी का अर्थ, घी मे पकाये उत्तम व्यंजन। ऐसा समझने वाले मनुष्य उग्र से उग्र कर्म कर डालते हैं, क्योंकि उन का विश्वास है कि इस जगत् को प्रतिष्ठा, स्थिति देने वाला और चलाने

वाला, कोई सब के अंतःस्थित, परमेश्वर नहीं है, यह सब जगत् अपने आप अचानक उत्पन्न होता और मरता नष्ट होता रहता है, कार्य-कारण के अटल नियमो से बाँधा और चलता नहीं है; स्त्री-पुरुष केवल काम से प्रेरित हो कर संगम करते हैं, अपत्यों को जन्माते हैं, उन को पालने पोसने का श्रम करना व्यर्थ है, चाहे जीयें चाहे मरें; न स्त्री-पुरुष को परस्पर प्रीति करने का, परस्पर निर्वाह करने का, साथ रहने, पतिव्रत करने का कोई प्रयोजन है। प्रतिदिन दैनिकों मे छपता रहता है, अमुक स्थान पर नवजात शिशु सड़क पर फेंका मिला, वा मरे हुए का शव मिला; स्त्रियों पर बच्चे को मार डालने के हेतु न्यायालयों मे अभियोग किया जाता है। पश्चिम मे तो ऐसे वृत्तो की अति है, पर वहां अभियोग का प्रयोजन नहीं होता, क्यों कि पहिले 'मुलर्स' ओर पश्चात् 'फ़ादर् बर्नाडोज़् होम्स' वनाये गए हैं; ऐसे अनाथ बच्चों को अविवाहित माता वा पिता, रात्रि के अंधकार मे, पास के चर्च के फाटक पर रख आते हैं, सबेरे पादरी उन्हे देखते हैं और निकटतम 'होम' मे दे देते हैं। अमेरिका मे, गर्भनिरोध के उपायों का सर्वत्र खुला विक्रय और प्रयोग होते हुए भी, सैकड़ों कन्याओं का गर्भाधान हो ही जाता है, तब वे विविध प्रकारों से आत्म-हत्या कर लेती हैं; और 'डाइवोर्स', विवाह-विच्छेद, बहुत बड़ी संख्या मे होते हैं। इन सब बातों का विस्तार से वर्णन मैं ने अपने 'पुरुषार्थ' नामक ग्रन्थ मे किया है।

(३) इस सब घोर दुर्दशा को रोकने का यदि कोई उपाय है तो यही है कि वचपन से आरंभ कर के, ब्रह्मचारी अवस्था मे सतत शिक्षा सद्धर्म की दी जाय, और ज्यों ज्यों शिष्य की बुद्धि परिपक्व होती जाय त्यों त्यों उसे प्रत्येक विश्वास के हेतु बताये जायँ; एवं, 'यन् नवे भाजने लग्नः, (सः) संस्कारो नऽन्यथा भवेत्'! अंग्रेजी शासन 'सेक्युलरिट', धर्म मे तटस्थ रहा; कारण यह कि अंग्रेज़ों को हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि विविध धर्मों के अनुयायियों पर, सब पर, शासन करना था, किस धर्म की शिक्षा देते ? धर्महीन शिक्षा के घोर दोषों को

देख कर ही सेंट्रल हिंदू कौलेज की स्थापना सन् १८९८ मे की गयी, जिस का विस्तृत वर्णन मै ने, गत वर्ष, १२ सितम्बर, और २१ दिसम्बर १९५२, के व्याख्यानो मे यहाँ विश्वविद्यालय मे किया है;

ऐसी शिक्षा के लिये, सेंट्रल् हिंदू कौलेज के पुराने बोर्ड औफ़ ट्रस्टीज़् और मैनेजिङ् कमेटी ने कई ग्रंथ भी बनाये, और मै ने भी अलग, बहुत छोटा, एक ग्रंथ लिखा, जिस मे भी वही बातें, कहीं अधिक विस्तार से, कहीं संकोच से, कहा, और सनातन वैदिक-मानव-धर्म के प्राचीन ग्रंथों से उद्धरण बहुत अधिक दिये हैं।

वर्तमान दुर्दशा के कारणो मे हमारे शासकों और अध्यापकों के भी दोष बहुत हैं। अंग्रेज़, धर्म के विषय मे जिस हेतु से तटस्थ रहे, यह अभी कहा; किंतु तत्तद्धर्मावलंबियों ने अपना-अपना धर्म सिखाने के लिये स्वतंत्र विद्यालय बनाये, यथा .काशीविश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी, उन को, न केवल अनुमति ही, अपितु लाखों रुपये वार्षिक सहायता भी देते रहे, यथा वर्तमान हिंदू शासक दे रहे हैं। पर इन हिंदू शासकों की 'सेक्युलरिस्ट नीति' सर्वथा अनुचित और गर्हणीय है। पश्चिमी पाकिस्तान के सब स्कूलों कौलेजों और युनिवर्सिटियों मे सर्कारी व्यय से मुल्ला नियुक्त किये गये हैं, जो सब छात्रों को, उन की योग्यता के अनुरूप, कुरान के मंत्र, अर्थ-सहित, सिखाते हैं, और इस्लाम धर्म की, उन के धर्मशास्त्र 'फ़िक़ह' के अनुसार, शिक्षा देते हैं। एक बात और इस प्रसंग मे स्मरण करने की है, अर्थात् यह कि अंग्रेजों ने, भारत मे, शासितों के लिये 'सेक्युलरिस्ट' नीति बर्ती किंतु अपने, तथा सब ईसाइयों के, लिये ऐसा नहीं किया। पचासों कोटि रुपयों के व्यय से सब मुख्य मुख्य नगरों मे, कलकत्ता, बंबई, मद्रास, दिल्ली, शिमला, लाहौर आदि मे, विशाल गिर्जाघर बनवाये और उस मे, ईश्वर-प्रार्थना करने के लिये, तथा जहाँ जहाँ अंग्रेजी सेना के 'कैंटुमेंट थे वहाँ वहाँ, पाँच सात कोटि वार्षिक व्यय से आर्चबिशप, चैप्लेन आदि; उस धर्म के ब्राह्मणो, को नियुक्त किये और उन का वेतन देते रहे।

मै ने बहुत लिखा, अंग्रेज़ी हिंदी दैनिकों मे तथा गांधी जी से और अन्य नेताओं से, और मंत्रियों राज्यपालों से साक्षात् आलाप मे कहा पर फल प्रायः कुछ नहीं हुआ। इधर कुछ दिनो से उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मद्रास, और पश्चिम बंगाल के राज्यपाल अपने सार्वजनिक व्याख्यानो मे धर्म की शिक्षा की आवश्यकता की ओर जनता और अधिकारियों का ध्यान दिलाने लगे हैं। मुझे निश्चयेन विदित है कि बहुतेरे उच्च पदाधिकारी, यथा स्वयं राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद जी, तथा अन्य कई मंत्री, हाईकोर्ट के जज, आदि करते हैं। स्वराज-संविधान ने इन के मुह पर कोई ताला नहीं लगाया है; इन को खुल कर, अपने भाव जनता को, लेखों से और भाषणो से, समझाना चाहिये। और भी; जैसा पहिले कह आये, भगवद्गीता सर्वमान्य धर्म-ग्रन्थ है, और सनातन-धर्म के सार का प्रतिपादन करती है; इस को सब पाठ्य-क्रमों में रख देना चाहिये; इस के लिये कोई मनाई संविधान मे नहीं है। शासक तो सुनते नहीं, क्योंकि अपनी धुन मे, ऐश्वर्यमद से, नेकनीयत होते हुए भी, दुराग्राही हठी हो रहे हैं, और अन्य बहुविध कार्यों मे व्यग्र हैं। पर अध्यापन सुन समझ सकते हैं, और अपने दोषों को दूर कर सकते हैं। 'कर्मणा वर्णः' के अनुसार शिष्यों को शिक्षा दें, स्वयं सदाचारी हों, और अपने आचरण से शिष्यों को शिक्षा दें, तो बेरोज़गारी, आजीवऽभाव का दुःख, और तज्जनित पाप कर्म, 'क्राइम्', साहसिक अपराध, बहुत कुछ कम हो सकता है।

९९. **कुछ अन्य रहस्यार्थ श्लोकों का सत्यार्थ**—गीता के कुछ अन्य रहस्यार्थ-गर्भ श्लोकों की चर्चा कर के इस व्याख्यान को समाप्त करूँगा। वे श्लोकों चतुर्थ पुरुषार्थ के साधक हैं।

ऊर्ध्वमूलं अधःशाखं अश्वत्थं प्राहुः अव्ययं,
छंदांसि यस्य पर्णानि, यः तं वेद सः वेदवित्।
अधः च ऊर्ध्वं च प्रसृताः तस्य शाखाः
गुण-प्रवृद्धाः, विषयप्रबालाः,

अधश्च मूलानि अनुसंततानि,
कर्मानुबंधीनि, मनुष्यलोके ।
न रूपं अस्य इह तथा उपलभ्यते,
नऽन्तो, न चऽादिः न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थं एनं सुविरूढ़-मूलं
असंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा,
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं,
यस्मिन् गताः न निवर्तंति भूयः ।
तम् एव चऽाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।
निर्मानमोहाः, जितसंगदोषाः,
अध्यात्मनित्या, जितसंगदोषाः,
द्वंद्वैः विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः,
गच्छंति अमूढ़ाः पदं अव्ययं तत् ।

ऊपर मूल है, नीचे शाखा फैली है, छंद, वैदिक ऋचाएँ, उस के पत्ते हैं, गुणो से, त्रिगुणो से, पोषित होकर शाखाएँ बढ़ी हैं, इंद्रियों के विषय उस के अँखुए हैं, कर्मों से बँधा स्थिर किया हुआ है, न इस का समग्र रूप देख पड़ता है, न आदि है, न अंत है, न जिस भूमि पर खड़ा है वह दिखाती है । ऐसा पदार्थ एक 'मै' द्रष्टा ही है, जिस का न आदि है, न अंत है, न वह किसी अन्य 'एतत्' दृश्य पदार्थ पर प्रतिष्ठत है, प्रत्युत सब अन्य पदार्थ उसी 'मै' पर और 'मै' में स्थित, प्रतिष्ठित, हैं । इस बद्धमूल अश्वत्थ को अनासक्ति-विरक्ति-रूप शस्त्र से काट डालो और उस परम पद को खोजो जहाँ पहुँच कर जीव पुनः नहीं लौटता है । मै, कृष्ण, भी, उसी अनादि आदिपुरुष के शरण जाता हूँ जिसने इस सब संसार को रचा और उस का प्रसार किया है । जो जीव सुखदुःखादि द्वंद्वों को छोड़ चुके हैं, मान मोह काम आदि षड्रिपुओं का दमन कर

लिये हैं, सदा अध्यात्म-विद्या का श्रवण मनन निदिध्यासन करते रहते हैं, वे ही मोहमयी माया को पार कर के उस अव्यय अविनाशी पद को पाते हैं।

यह सब क्या पहेली, प्रहेलिका, प्रवह्लिका है ? शंकराचार्य ने भाष्य किया है कि अश्वत्थ का अर्थ ब्रह्म से उत्पन्न शरीर है, और सब श्लोकों की व्याख्या इस अर्थ के अनुकूल कर दिया है; परन्तु अश्वत्थ को शरीर का रूपक क्यों दिया है, यह स्पष्ट नहीं कहा। अन्यत् च, अश्वत्थ पिप्पल मे वरोह, वटरोह, नहीं निकलतीं, वट ही मे नीचे की ओर निकलती और लटकती हैं। तिलक जी ने भी, शंकर के अनुसार, अश्वत्थ को ब्रह्म का रूपक कहा है, किंतु उपनिषदों पुराणो से अनेक उद्धरण किये हैं जिन में अश्वत्थ के स्थान पर न्यग्रोध कहा है, जो वट का पर्याय है, 'न्यक् नीचैः रोहंति शाखाः यस्य सः न्यग्रोधः'; परन्तु उन्हों ने भी यह नहीं बतलाया कि क्यों यह रूपक किया।

इस क्यों का उत्तर और रूपक का बिवरण स्यात् इस प्रकार से हो सकता है। मनुष्य के शरीर मे जो नाड़ीव्यूह 'नर्वस् सिस्टेम' है, अश्वत्थ अर्थात् न्यग्रोध है, इस का मूल मस्तिष्क है, शिरः-कपाल के भीतर भरा हुआ भेजा है; वहाँ से, तथा मेरुदंड, 'स्पाइनल् कौलम्', से, नीचे की ओर फैलता है। आशु वहंति इन्द्रियाणि प्रति विषयान्, विषमान् प्रति च इन्द्रियाणि, ते अश्वाः, अश्वाः तिष्ठंति यस्मिन्, सः अश्वत्थः विषयों को पंच ज्ञानेन्द्रियों के पास, और इन्द्रियों को विषयों के पास जो आशु, शीघ्र, ले जायँ वे अश्वाः, ज्ञानवाहिनी क्रियावाहिनी स्रोतांसि, सिरा, 'ऑफ़ेरंट' और 'एफ़ेरेंट' 'नर्वूज़्'। कठोपनिषत् मे भी यही उपमा कही है, 'इद्रियाणि हयान् आहुः' इत्यादि। सुश्रुत के शारीरस्थान मे स्रोतस् सिरा, शब्द कहा हैं, पर अब नाड़ी शब्द चला पड़ा है; यद्यपि आधुनिक वैद्यक मे नाड़ी शब्द धमनी 'आर्टरी' का अर्थ रखता है; वैद्य लोग कलाई की नाड़ी देखते हैं जहाँ नस धमकती रहती है, और अत्युद्भुत अनुमान, रोगी

की दशाओं का कर लेते हैं; तथा 'नाड़ी-विज्ञान' नाम ग्रन्थ भी मिलता है; तथापि उपनिषदों मे लिखा है, 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः, तासां मूर्धानं अभिनिःसृता एका, यया ऊर्ध्वं आयन् अमृतत्वं एति, विष्वङ् अन्या अभिनिष्क्रमणे भवंति', हृदय की एक सौ एक नाड़ी, अर्थात् 'नर्वुज्' हैं, उन मे से एक ऊपर को, ब्रह्मरंध्र की ओर जाती है, प्रयाण काल मे, जीव यदि उसके द्वारा, ऊर्ध्व रेतस् हो कर शरीर छोड़ता है तो ब्रह्मलीन अमर हो जाता है; शेष सौ नाड़ियाँ इधर उधर फैलती हैं, उनसे निकल कर जीव पुनर् जन्म लेता है। काशी मे एक गली का नाम 'ब्रह्मनाल' है जो मणिकर्णिका को जाती है; ऐसे शब्दों के भी रहस्यार्थ हैं।

शेष श्लोकों का अर्थ जो तिलक जी ने और शंकर ने किया है वह सब अद्वैत वेदांत के अनुकूल ठीक ही है। इन श्लोकों मे एक शब्द और, 'अव्ययं', है, जिस का आध्यात्मिक अर्थ अक्षय, अविनाशि, अनश्वर, तो है ही, पर आधिभौतिक भी हो सकता है। इस विषय के एक दो अध्यापकों से, तथा सर्जनों से, सुना है कि मानव शरीर के कोमल अंश, सप्त-धातुओं में से पांच छः, रस, रक्त, मांस, मेदस् , शुक्र, मज्जा भी, नित्य बदलते रहते हैं, किंतु मस्तिष्क के कोटियों, नहीं अर्बों, नहीं खर्वों सेल्स् , कलल, बुद्बुद् , बिंदु अति सूक्ष्म अणुवत् अंश नहीं बदलते; इसी से लाखों किंवा कोटियों, अनुभव, प्राणियो के, इन अणुओं मे चित्रित हो कर, स्मृति के रूप में पड़े रहते हैं, और प्रयोजनानुसार, जीव उन को सुप्तावस्था से जाग्रदवस्था मे ला सकता है। जन्म से प्रायः सोलह वर्ष तक अधिक वेग से उन की संख्या बढ़ती है, फिर धीरे धीरे, वार्धक्य तक; अतःएव 'प्राप्तेतु षोड़शे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेत्'; तथा अति वृद्ध होने पर, ये अणु विकृत होने, घटने, लगते हैं, यतः स्मृतिशक्ति, जो ही तर्क, अनुमान, उपमान की नीवी है, दिनोदिन अधिकाधिक शिथिल और भ्रष्ट होने लगती है, यतः 'पुनर्बालाः हि ते स्मृताः।' एवं अस्थि भी नहीं बदलती, पर बाल्य से अठारह वर्ष तक लंबाई मे, और पच्चीस तक

मोटाई मे भी बढ़ती है, तथा अति स्थविर मे कुछ पतली, कुछ निष्प्राण, 'ब्रिटल्', पर्पटीवत् , थोड़े झट्के से भी टूटने वाली, भंगुर, हो जाती है। अस्थि की दृढ़ता इसी से सिद्ध है कि सहस्रों अपितु लक्षों वर्षों तक, भूमि मे, विशेष कर बालुकामय मरुधन्व मे, गड़ी अस्थियाँ, पुरातत्वान्वेषक वैज्ञानिकों को समय समय पर मिलती रहती हैं।

इस ऊर्ध्वमूल अधःशाख मानव-शरीर मे जीव प्रविष्ट है, उस पर आसक्त है, उस को छोड़ना नहीं चाहता है, इसी से पुनः पुनः जन्म लेता है, 'गतागतं कामकामा लभन्ते।' इस आसक्ति को अनासक्ति, असङ्ग के शस्त्र से काट डालो, और मोक्ष पाओ।

१००. समापन और जगद्धित प्रार्थना—

यत्र योगेश्वरः कृष्णः, यत्र पार्थो धनुर्धरः,
तत्र श्रीः, विजयो, भूतिः, ध्रुवा नीतिः, असंशयं।
यत्र धर्मः ततः कृष्णः, यतः कृष्णः ततः जयः।
ॐ सत्यं एव जयते, नऽनृतं, ॐ

जहाँ कृष्ण ऐसे उपदेशक, और अर्जुन ऐसे उपदेश को सुनने वाले और तदनुसार कार्य करने वाले हों; वहाँ निश्चयेन, विना संशय, सकल समृद्धि, अधर्म पर विजय, ध्रुव सफल नीति होती है। जहाँ धर्म वहाँ कृष्ण, अर्थात् परमात्मा, का बोध और तज्जनित सदाचार हों वहाँ सब पापों और पापियों धर्मद्वेषियों का सदा पराजय होता है। सत्य धर्म का ही अंत मे जय होता है, असत्य और अधर्म का नहीं।

कहने को तो बहुत है, पर कितना कहा जाय, एक छोटा सा ग्रंथ बन जाय; अतः, कुछ अधिक ज्ञातव्य जो जान पड़ीं, उन्ही को लिख कर समाप्त करता हूँ। शल्य के पास दुर्योधन पहिले पहुँचे, अतः उन का पक्ष स्वीकार कर लिया; बहुत अनुचित किया; कहना था कि नकुल सहदेव मेरी भगिनी के पुत्र हैं, मै उन्हीं का पक्ष ग्रहण करूँगा। युधिष्ठिर ने भी भूल की; जब शल्य ने कहा कि मै दुर्योधन को वचन दे चुका, तब युधिष्ठिर सुन कर चुप रहे; उन को कहना था कि आप हमारे सगे

मामा हो कर, हमारे शत्रु के पक्ष मे क्यों चले गये ? बड़ा अन्याय किया, जैसे हो दुर्योधन से कहिये कि मुझ से भूल हुई, मै सगे भांजों की ओर जाऊँगा। स्वयं व्यास के चरित को देखिये; उन्हों ने स्वयं 'हरिवंश' मे लिखा है कि, माता के उदर से बाहर आते ही बारह वर्ष के बालक के तुल्य हो गये, और माता को कोसने लगे, 'मैने पूर्व जन्म मे बड़ा पाप किया कि दाशकन्या, मल्लाहिन, के गर्भ मे रहना पड़ा'; अपने समय की अद्वितीय सुन्दरी, सत्यवती, दाशी नहीं थी, अपितु राजर्षि उपरिचर वसु के वीर्य से उत्पन्न हुई थी; तथा गर्भ-धारण मे उस का कोई दोष नहीं, अपितु पराशर का था; उन को कोसने का कृष्ण द्वैपायन को उत्साह नहीं हुआ; जानते थे कि उन्हें कोसा, तो बड़ा दंड मिलेगा। अन्यश्च, जब माता सत्यवती के कहने से, अंबिका का गर्भाधान किया, उस समय ऐसे मल-दिग्ध, दुर्गंध थे, कि अंबिका ने आँख मूद लिया; इस पर, अपने भावी पुत्र को शाप दिया कि "अन्धा होगा"। कुरूप-थे, यह तो उन के पूर्वजन्म पापों का फल रहा होगा, पर 'मलदिग्ध, दुर्गंध' क्यों ? स्वच्छ रहना तो उन के वश मे था, 'शौचात् स्वांग-जुगुप्सा परैरसंसर्गः' (योगसूत्र भाष्य), यह बात समझने मे नहीं आती।

'महाप्रस्थान' मे, जब पाँचों पांडव और द्रौपदी चले, तब हिमालय पार कर के बालुका-मय मरुधन्व मे आये (अब उसे 'गोबी डेज़र्ट कहते हैं) तब याज्ञसेनी पहिले गिरी, पुकार कर पूछा 'मै क्यों गिरी', तो 'तुम अर्जुन को अधिक चाहती थीं, अन्य चार को नहीं', क्यों न चाहे ? 'तुम, युधिष्ठिर, ने तो उसे जीता नहीं, अर्जुन ने मत्स्य को बेध कर जीता'। इतने वर्षों तक 'धर्म-राज' अपने हृदय मे यह अनुचित 'अ-धर्म-मय' ईर्ष्या भरे रहे ! यह ठीक है कि युधिष्ठिर ने कई बार अन्य चार की बड़ी रक्षा की, 'यक्षपर्व (मे जब 'यक्ष' ने, जो स्वयं उन के धर्म-राज यमराज ही थे) बिना उस के प्रश्नों का उत्तर दिये, जल पी लिया और मर गये, तब युधिष्ठिर ने प्रश्नों का उत्तर दे कर उन्हें जिलवाया; एवं 'अजगर-पर्व' के अजगर-रूपी नहुष का उत्तर दे

कर भीम को बचाया; तो भी अर्जुन से ईर्ष्या करना नितरां अनुचित था। युधिष्ठिर के भाव के विपरीत, अर्जुन उन की सदा भक्ति करते थे और सदा उन की सेवा ही करते थे। जब द्रौपदी को जीत कर, पाँचों भाई, कुन्ती के पास, कुटिया मे लाये, और कहा कि 'भिक्षा' लाये हैं, तब कुन्ती ने, बिना भिक्षा देखे, कह दिया कि 'पूर्व-वत् बाँटो, आधी भीम को दो, शेष मे चार और मै'। जब देखा कि 'भिक्षा' तो याज्ञसेनी है, तब बड़े असमंजस मे पड़ी। तब अर्जुन ने ही पहिले कहा कि युधिष्ठिर ज्येष्ठ हैं, इन का विवाह पहिले होना उचित है फिर भीम का, फिर मेरा, तब नकुल और सहदेव का। ऐसा ही हुआ।

द्रौपदी के पश्चात् सहदेव गिरे, पूछा 'मै क्यों गिरा', 'तुम अपनी बुद्धि को सर्व श्रेष्ठ समझते थे'। नकुल ने पूछा, 'तुम अपने को सबसे अधिक सुंदर मानते थे'। अर्जुन ने पूछा, तो 'भीष्म, द्रोण, कृप, और कर्ण ऐसे अतिरथ रहते, तुमने कहा था कि मै एक दिन मे सब कौरव सेना का नाश कर सकता हूँ'। युधिष्ठिर भूल गये कि अर्जुन ने यह पाशुपत-अस्त्र के बल कहा था; शिवजी ने, अस्त्र देते समय, स्पष्ट कह दिया था कि इसका प्रयोग दैत्यों, दानवों, राक्षसों पर ही करना, मनुष्यों पर कदापि नहीं; यदि, मनुष्यों से युद्ध मे भी, ऐसा ही घोर प्राण-संकट न आ पड़े; अतः, उसका प्रयोग, अर्जुन ने निवात कवचों, कालकेयों, दैत्यों, राक्षसों पर ही किया। भीम ने पूछा, तो 'तुम बहुत खाते थे'; बहुत न खाते तो 'रावणेन सम-प्राणाः मया भीमेन घातिताः' रावण के ऐसे बलवाले चार चार राक्षसों को कैसे मारते, हिडिम्ब, बक, जटासुर, किर्मीर को। किर्मीर तो तुम, युधिष्ठिर, को और द्रौपदी को लेकर भाग रहा था, और निश्चयेन खा जाता, यदि ठीक समय से बहुभोजी भीम न पहुँच जाते और किर्मीर को मार डालते; तुम, युधिष्ठिर, तो स्वल्पभोजी थे, क्यों नहीं अपने को और द्रौपदी को उस से बचा लिया?

भीम ने भी बड़ी कृतघ्नता की, गांधारी के सौ पुत्रों मे से एक,

विकर्ण ही, सदा दुर्योधन से कहता रहा, कि 'पांडवों से मेल कर लो, युद्ध मत करो, मेल कर लो, वे स्वयं तुम्हें प्रसन्न होकर, अपने राज्य मे से आधा दे देंगे'; अतः भीम को बहुत प्रिय थे; तिस पर भी उन्हें मार ही डाला; युद्ध समाप्त होने पर, सब पांडव धृतराष्ट्र और गांधारी के पास, क्षमा मागने को गये, उनका चरण-स्पर्श किया; तब गांधारी ने भीम से पूछा, 'तुमने सौ मे से एक को भी नहीं छोड़ा, मेरे आँसू पोछने को'; भीम ने कहा, 'क्या करूँ ? माता, मेरी प्रतिज्ञा थी कि सब सौ को मारूँगा'। यह कहना भीम का नितान्त अनुचित था; भीम के लिये कुछ कठिन नहीं था कि विकर्ण को जीवग्राह पकड़ लाते, और अपने शिविर मे बंद करके उसका 'वध' अन्य विविध प्रकार करते; शिर और श्मश्रु कूर्च का मुंडन करा देते, लघु यष्टि प्रहार उस पर कर देते; क्षत्रिय के लिये ऐसा अवमान 'मरणाद् अतिरिच्यते'; नहीं किया, घोर कृतघ्नता की।

अब, कृपाचार्य, और कृतवर्मा, और अश्वत्थामा के घोर पापों को देखिये। युद्ध के आरंभ मे परस्पर समझौता हो गया था कि, शरणागत और पलायमान को नहीं मारना; पर, सौप्तिकपर्व मे, युद्ध समाप्त होकर, पांडवों का जय होने के पश्चात्, अश्वत्थामा ने निश्चय किया, कि सोते हुए धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के पुत्रों को मार डालैं, और कृप और कृतवर्मा से कहा कि तुम भी मेरे साथ चलो, तब उन्होंने नहीं कर दिया; किंतु जब शिविर के भीतर से, अश्वत्थामा से भयभीत होकर, बचे हुए सैनिक, बाहर भागने लगे, तब उन्हें कृप और कृतवर्मा ने मार ही डाला। ये दोनों ब्राह्मण नहीं, ब्रह्मराक्षस, क्षत्रपिशाच थे, रौरव से भी घोर पीड़ा का ही नरक मे प्रायश्चित्त, अति दीर्घकाल तक, करना होगा।

ऐसी ही कथा अश्वत्थामा की है। इस दुष्ट पापिष्ठ ब्रह्मपिशाच को धृष्टद्युम्न से वैर होना तो उचित था, और युधिष्ठिर से भी, यतः उन्हीं के झूठ बोलने से द्रोण ने अस्त्र-शस्त्र छोड़ दिये थे, तब धृष्टद्युम्न ने

नितांत पापिष्ठकर्म किया कि द्रोण का सिर काट डाला; पर द्रौपदी के पाँच पुत्रों ने, और उत्तरा के गर्भस्थ जीव ने अश्वत्थामा का क्या बिगाड़ा था कि उन पाँचो को मार डाला और भ्रूण के विरुद्ध भी ऐषीकास्त्र चलवा दिया, 'अपांडवाय' कह कर ? कृष्ण ने उसको शाप दिया कि तैं तीन सहस्रवर्ष भारत मे इधर-उधर मल-दिग्ध, 'संविदं अलभन्', कोई तुझ से बोलैगा नहीं'; किंतु यह शाप पर्याप्त नहीं था, जिन हाथों से उसने ऐषीक फेंका था, उनको जला भी देना था; एवं विप्राधम ब्रह्मराक्षस चांडाल कृप को भी, बाहुओं में अग्नि का स्पर्श कर देना था, और कृतवर्मा को तो अग्नि मे भस्म कर देना था। विपरीत इस के, कृतवर्मा छोड़ दिये गये, छत्तीसवर्ष पश्चात्, सात्यकि और कृतवर्मा ने एक दूसरे को मार डाला। तथा, कृप भी छोड़ दिये गये, और उन से कहा कि तुम अर्जुन के पौत्र परिक्षित् को धनुर्वेद की शिक्षा देना। अस्तु। "धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः।" परमात्मा की, पुरुष की, प्रकृति का अखंडनीय नियम है कि पुण्य का फल सुख, और पाप का फल दुःख ही होगा। तथा अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्, परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनं।"

ॐ, ॐ, ॐ, सर्वस्तरतु दुःखानि
मा कश्चित् दुःख-भाग् भवेत्।
लोकाः सन्तु निरामयाः,
शुभं अस्तु सर्वजगतां, सर्वः सर्वत्र नंदतु ॥
ॐ, ॐ, ॐ,
ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धि आप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नंदतु ॐ

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

हीरक जयंती

[संवत् १९५०–२०१० वि.]

सांस्कृतिक संमेलन

मेरा संदेश

मंगलवार, २५ फाल्गुन २०१० : ९ मार्च १९५४

मुझे बहुत खेद है कि अवस्था अधिक होने के कारण मै नागरी-प्रचारिणीसभा, काशी, की हीरक-जयंती के शुभोत्सव मे स्वयं उपस्थित नहीं हो सकता, अतः संदेश भेज कर संतोष करता हूँ ।

मुझे आश्चर्य है कि सांस्कृतिक संमेलन के सभापतित्व का कार्य मेरे ऊपर क्यों रखा गया । मै ने, न सभा की, न नागरी की, ऐसी कोई सेवा की, जिस से इस सम्मान के योग्य समझा जाऊँ । यह सत्य है कि सभा की स्थापना के थोड़े ही दिन पीछे, मेरे ज्येष्ठ भ्राता दिवंगत श्री गोविन्ददास जी और मै सभा के सदस्य हो गये । मै उन दिनो सरकारी नौकरी मे था; सन् १८९८ मे उस को छोड़ कर सेंट्रल हिंदू कालेज के कार्य मे लगा, तब श्यामसुन्दरदास जी के अनुरोध से, वैज्ञानिक कोष, 'सायंटिफ़िक् ग्लौसरी' के अध्यात्म-विद्या 'साइकालोजी' के भाग का कार्य उठाया । उक्त कालेज के पुस्तकागार मे ही काम होने लगा; पुस्तकों की सुविधा थी, और श्री रामअवतार जी, जो उन दिनो वहाँ अध्यापक थे, सहायता देने को आ जाते थे; म० म० श्री सुधाकर जी द्विवेदी भी कभी-कभी कृपा करते थे, यद्यपि उन को ज्योतिष संबंधी शब्दों ही का अंश सौंपा गया था; मुझे स्मरण है कि 'सेंट्रिपीटल्' और

'सेंट्रिफ्यूगल' शब्दों के हिंदी पर्याय ढूंढ़ रहा था, नहीं मिलते थे; उन्हों ने बताया, 'केंद्रोन्मुख' और 'केंद्रपराङमुख'। इसके पश्चात् 'शब्द-सागर' की वृहत् योजना की गई, ब्रिटिश सरकार ने भी और राजा महाराजों तथा अन्य धनाढ्य हिंदी प्रेमियों ने धन से सहायता की, और हिंदी के कई विद्वानों के बड़े परिश्रम से कई वर्ष मे और कई लाख रुपये के व्यय से, यह कोश बना। अब इस के आधार पर अन्य बहुत से छोटे मोटे कोश बने और बनते जा रहे हैं। कोशनिर्माण की एक निरीक्षक समिति भी बनाई गई, और उस मे मुझे भी एक सदस्य बना दिया गया; हिंदू कालेज के काम मे व्यग्र रहता था, इस लिये यह सदस्यता छोड़नी पड़ी। हिन्दी साहित्य की सेवा मुझ से इतनी ही बनी कि तीन ग्रंथ लिखे, जिन मे प्राचीन आर्ष उपदेशों का नये शब्दों मे प्रतिपादन किया; मुझे बहुत संतोष है कि हिंदी प्रेमी जनता ने इस ग्रंथों को अपनाया और इन के कई कई संस्करण निकल चुके।

गत साठ वर्षों मे हिंदी साहित्य का रूप सर्वथा बदल गया है; उस का मुख्य कारण अंग्रेज़ी साहित्य का परिशीलन है। यहाँ साहित्य का अर्थ केवल गद्य-पद्य काव्य, दृश्य, श्रव्य, नाटक आदि ही नहीं, वरन् प्रज्ञान-विज्ञानात्मक समस्त वाङ्मय। भारत के ऋषियों ने इस को चार राशियों मे बाँटा है, पुरुषार्थों के अनुसार, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र; इन का संबंध चार वर्णों और चार आश्रमो से है। मानव जीवन के सब अंशों, अंगों, का परस्पर संग्रंथन ऋषियों ने कर दिया है; उस को भारत जनता ने दो तीन सहस्र वर्षों से भुला दिया है, और 'कर्मणा वर्णः' तथा 'वयसा आश्रमः' के सत् सिद्धांतों पर प्रतिष्ठित समाज-व्यवस्था को बिगाड़ कर, 'जन्मना वर्णः' के अपसिद्धांत, कुत्सनीय सिद्धांत, पर स्थापित कर के चार सहस्र जात्युपजातियाँ, परस्पर द्वेष-द्रोह करने वाली उत्पन्न कर दिया, जिसी से भारत का स्वराज खो गया, प्रायः बारह सौ वर्ष से; सम्राट् हर्षवर्धन के निधन

के अनंतर, विदेशियों विधर्मियों के अधीन हो गया। बुद्ध देव ने, ढाई सहस्र वर्ष हुए, सनातन आर्य मानव धर्म का, तथा वर्ण-व्यवस्था का जीर्णोद्धार किया, जिस का प्रभाव प्रायः बारह सौ वर्ष, अर्थात् हर्षवर्धन के समय तक रहा, और वह बौद्ध, अर्थात् प्रतिसंस्कृत सनातन धर्म; तिब्वत, चीन, जापान, बर्मा, स्याम, सुमात्रा, जावा, बाली आदि देशों मे दूर दूर तक फैला; पश्चिम के देशों पर भी इस का प्रभाव पड़ा। बौद्ध विद्वानो और वैदिक विद्वानो मे साहित्यिक होड़ हुई, बहुत अच्छे-अच्छे ग्रंथ सब विषयों पर, दोनो ने लिखे, जिन मे से विशिष्ट ग्रंथों का आज तक पठन-पाठन होता है। आंध्रदेशीय नागार्जुन ने खनिज पारद और स्वर्ण रजत आदि धातुओं के भस्म वा पिष्ट से बने हुए औषधों से रस-चिकित्सा का नया उपज्ञान किया, जिस के आगे सुश्रुत-चरकादि-उपदिष्ट काष्ठौषधियों का प्रयोग कम हो गया है।

बुद्धदेव ने, साधारण जनता को समझाने के लिये पाली मे, और उनके समकालीन और ज्ञाति महावीर जिन ने प्राकृत मे, उपदेश किया; पर दोनो के सौ-दो-सौ वर्ष पीछे ही, दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने पुनः संस्कृत का ही आश्रय लिया। रामायण, महाभारत, पुराण, मनुस्मृति आदि के वर्तमान रूप, कई सहस्र वर्ष पुराने रूपों के नये 'एडिशन', 'प्रति संस्करण' हैं। बुद्धदेव से प्रायः दो सौ वर्ष पहिले पाणिनि हुए, ऐसा मानने के लिये हेतु हैं, किंतु विद्वानो मे इस विषय पर मतभेद भी है। पतंजलि तो ईसापूर्व दूसरी शती के अंत और पहिली के आदि मे हुए, यह प्रायः निर्विवाद है।

प्रस्तुत विषय नागरी का है, पर संस्कृत की चर्चा इस कारण की कि कश्मीर को छोड़, उत्तर भारत की सभी अन्य भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं, और संस्कृत ही वह आकर है, जिस मे से नये शब्द, नये भावों को प्रकट करने के लिये, निकाले और बनाये जा सकते हैं।

धर्म-शास्त्र का जो मुख्य ग्रंथ मनुस्मृति है, उस से कई अनुवाद हिंदी मे हो चुके हैं, किंतु वर्तमान-समयोचित भाष्य उस का अभी तक हिंदी

में नहीं बना; बनना चाहिये; उस की बहुत आवश्यकता है। मै ने 'मानव धर्म सार:' नामक संस्कृत पद्यमय ग्रंथ मे इस का यत्न किया है, और उस का हिंदी मे अनुवाद भी हो गया है, पर छापने के लिये द्रव्य चाहिये, जिसे देने को अब तक कोई सज्जन संन्नद्ध नहीं हुए, यद्यपि अन्य कार्यों मे, जो, मेरी दृष्टि से, इतने उपयोगी और आवश्यक नहीं हैं, लाखों रुपये व्यय कर रहे हैं। एवं, उसी का सारभूत बहुत संक्षिप्त ग्रंथ, अंग्रेजी मे, 'सनातन-वैदिक-धर्म' के नाम से, मैं ने छपाया है; उस का भी हिंदी मे अनुवाद हो गया है, और उस का कुछ अंश, काशी के 'शांति दूत' नामक मासिक मे छपा भी है, किंतु संपूर्ण अनुवाद, पृथक् ग्रंथ के रूप मे नहीं छप सका है। प्राचीन धर्म शास्त्र मे सभी सद्ज्ञान, वेद, वेदांग, वेदोपांग, उपवेद का, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व वेद, स्थापत्य वा शिल्प वेद, इतिहास-पुराण, अर्थात् 'विज्ञान, सायंस', शब्द से व्यंजित सभी शास्त्रों का, अंतर्भाव है।

अर्थशास्त्र पर प्राचीन ग्रंथ चाणक्य-कौटल्य का, उसी नाम का मिलता है; इस का भी हिंदी मे अनुवाद नहीं हुआ है; होना चाहिये; काशी विश्वविद्यालय के प्राध्यापक सज्जन, यदि विस्तृत टीका सहित ऐसा अनुवाद करें तो बहुत अच्छा हो। कौटल्य ने (कुटलस्य अपत्यं; कौटिल्य नहीं) अपने ग्रंथ का नाम 'अर्थशास्त्र' रक्खा, किंतु, वस्तुतः वह राजधर्म का शास्त्र है। 'राज्यं सप्तांगं उच्यते', राज्य के सात अंगों में से कोषांग ही चाणक्य-कौटल्य को अन्य सब से अधिक आवश्यक जान पड़ा। आधुनिक साम्राज्यों की भी बुद्धि यही है, 'कोषो यस्य बलं तस्य'। युनाइटेड स्टेट्स् औफ़् अमेरिका के प्रशासन (गवर्नमेंट) के पास सबसे बड़ी स्वर्णराशि, नितांत गुप्त स्थान से, सुरक्षित है; उससे घट कर रूस, उस से घट कर ब्रिटेन के पास है; ऐसा विश्वास किया जाता है, किंतु रूस के विषय मे केवल अनुमान ही है। किसी समय मे भारत के पास सब से अधिक था, किंतु भारतीयों के पापों से रुष्ट होकर लक्ष्मी देवी पश्चिम को चली गईं।

अब, शिक्षा संस्थाओं मे, उत्तर प्रदेश और विहार मे, हिंदी का प्रयोग होने के कारण. अर्थशास्त्र, और तदंतर्गत राजशास्त्र, समाजशास्त्र, आदि के ग्रंथ हिंदी मे, विद्वानों ने लिखे और छपाये है; प्रायः अंग्रेज़ी ग्रंथों के आधार पर लिखे गये हैं, किंतु ईन के भाव, उन भावों से बहुत भिन्न हैं जो मनुस्मृति मे वैश्यवर्ण के धर्म-कर्म के संबंध मे, बहुत थोड़े से श्लोकों मे कहे हैं; दोनों भावों और दृष्टियों का संप्रधारण, गुण-दोष-मीमांसन, करने वाला ग्रंथ भी हिंदी मे बनना चाहिये ।

कामशास्त्र पर प्राचीन ग्रंथ अब एक ही मिलता है, वात्स्यायन-कृत कामसूत्र और जयमंगल-कृता उस की टीका । ऐसा मानने के लिये कई हेतु हैं, यद्यपि यहाँ भी मतभेद है, कि चाणक्य-कौटल्य का ही एक नाम वात्स्यायन था, और इन्हीं ने गौतम के न्याय सूत्र पर भाष्य भी लिखा जो उन के नाम से प्रसिद्ध है । कौटल्य के आठ नाम कहे जाते हैं; अद्भुत विद्वान् थे, जगत्प्रसिद्ध पंचतंत्र नामक ग्रंथ भी इन्हीं ने विष्णुगुप्त के नाम से रचा । इस 'कामसूत्र' के कुछ अंश बहुत अच्छे हैं, कुछ बहुत निकृष्ट । हिंदी मे अनुवाद हुआ है । अब इस विषय पर, जिसका ज्ञान प्रत्येक गृही और गृहिणी के लिए नितांत आवश्यक है, पश्चिम मे, बहुत से, बहुत अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिखे गये हैं; उन से हम लोगों को काम लेना चाहिये । 'पुरुषार्थ' नामक अपने हिंदी ग्रंथ मे, इस विषय के पाश्चात्य साहित्य की कुछ थोड़ी सी सार-सार बातें, प्राचीन आर्यभावों से परिशोधित, लिखने का प्रयत्न किया है ।

मोक्ष-शास्त्र पर प्राचीन ग्रंथ षड्दर्शनों के नाम से प्रसिद्ध हैं; इन मे से पाँच, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा के सूत्र और भाष्य तो आर्ष कहे जा सकते हैं; ब्रह्म-सूत्र, बादरायण के नाम से प्रसिद्ध हैं, और पण्डितों का विश्वास है कि कृष्णद्वैपायन ही का दूसरा नाम बादरायण है; पर ऐसा मानने के लिये कोई पुष्ट हेतु नहीं मिलता है । भगवद्गीता मे कहा है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्,
ब्रह्मसूत्र-पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः। (१३.४)

शंकराचार्य ने 'ब्रह्मणः सूचकानि पदानि' अर्थ कर दिया है और 'उपनिषद्वाक्यानि' का संकेत किया है। पर यह मन मे नहीं बैठता। कृष्ण के समकालीन व्यास, जिन्हों ने गीता का समावेश 'महाभारत' मे किया,

'व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये-महाभारतं,' उन्हों ने अपने रचे सूत्रों का संकेत किया हो तो क्या आश्चर्य ? कृष्ण के पास ऋषि लोग बहुधा जाया करते थे, व्यास ने अपने रचे सूत्रों को कभी उन्हें सुनाया होगा, अस्तु। गीता के अनुवाद हिंदी गद्य पद्य मे पचासों हुए और होते जाते हैं, और मानव जगत् की सभी सभ्य भाषाओं में भी हुए और हो रहे हैं, किंतु इस के दो श्लोकार्धों पर यथोचित ध्यान नहीं दिया गया है,

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः ;
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवैः गुणैः।

इन पर बहुत ध्यान देना चाहिये; तथा इस द्वितीय श्लोकार्ध के आगे के तीन श्लोकों पर जिन मे चारो वर्णों के स्वभाव-ज कर्म बतलाये हैं। ध्यान देना चाहिये कि 'कर्म-विभागशः' कहा, 'जन्म-प्रभावतः' नहीं।

ब्रह्म-सूत्रों के शांकर भाष्य का हिंदी अनुवाद हो गया है, और बहुधा परिश्रम से बहुत अच्छा किया गया है। अन्य पाँच दर्शनों के सूत्रों और भाष्यों के अनुवाद हुए वा नहीं, यह मुझे विदित नहीं है; होने चाहियें, क्योंकि इनमें परस्पर खण्डन नहीं है, प्रत्युत समर्थन और मण्डन है, और सांसारिक दुःखों से खिन्न जीव को सचमुच शांति दे सकते हैं। विपरीत इस के, शांकर-भाष्य के तर्कपाद मे अन्य पाँचों का खंडन किया है, जो खंडन स्वयं खंडनीय है, और अध्येता को शांति न दे कर भ्रम और संशय में डाल देता है।

वेदांत का एक अन्य ग्रंथ 'योगवासिष्ठ' नाम का है; इस के कई अनुवाद हिंदी में हुए हैं, और इस के पढ़ने पढ़ाने की प्रथा बहुत है,

विशेष कर उदासीन पंथ के साधुओं और किंचिद्विरक्त गृहस्थों तथा सन्यासियों मे। ग्रंथ अच्छा है, रोचक आख्यानों द्वारा वेदांत के गूढ़ तत्वों को समझाने का प्रयत्न करता है।

प्रसिद्ध ही है कि हिंदी मे, सरस पद्यों द्वारा, वैराग्य का उद्बोधन और परमात्मज्ञान का उपदेश कबीर ने, तथा भक्ति का तुलसी और सूर ने किया है; तुलसी-रामायण में सब नौ रसों का समावेश किया है और भक्ति-प्रधान होते हुए भी, उत्तर कांड में शांत रस का और अद्वैत वेदांत का प्रतिपादन किया है। खेद है कि सूर के पाँच छः सहस्र ही पद मिलते हैं और वे भी प्रायः भागवत की रास-पंचाध्यायी के ही उपबृंहण हैं; अर्वाचीन कवियों ने श्रृंगार ही पर बल लगाया है; वीर रस के दो ही काव्य मिलते हैं; हम्मीर-हठ और शिवाबावनी; ललित हास्यरस के भी नहीं हैं।

संस्कृत मे जो नव्य न्याय, नव्य वेदांत, नव्य व्याकरणादि की प्रथा, कई शतियों से चली है, वह नितांत भ्रष्ट और तिरस्कार्य है; उस से जनता का कुछ उपकार नहीं, और अध्येताओं की शक्ति और समय का महान् अपव्यय।

इस प्रकार से चतुःपुरुषार्थ-साधक चतुःशास्त्रों पर यदि अच्छे ग्रंथ हिंदी मे लिखे जायँ, समय की नयी आवश्यकयाओं को दृष्टि में रख कर, तब हिंदी वाङ्मय जनलोपकारी हो। अब पचासों मासिक पत्रिकाएँ, अच्छी-अच्छी, आयुर्वेदादि विविध विषयों पर निकल रही हैं, यह सब कार्य बहुत शुभ है।

इस अवसर पर दिवंगत श्री शिवप्रसाद गुप्त का स्मरण करना उचित है। उन्हों ने धन से भी ना० प्र० सभा की सहायता की और हिंदी साहित्य की भी, दैनिक 'आज' चला कर, जो तीस वर्ष से अच्छा काम कर रहा है और अन्य देशों मे, ब्रिटेन और रूस मे भी, जिस की प्रतियाँ जाती हैं तथा बहुत से मौलिक ग्रंथ, विविध विषयों पर, विद्वानों से बनवाये, और अपने ज्ञान-मंडल प्रेस मे छपवा कर, लागत पर विक-

वाये। शिवप्रसाद जी का स्वयं लिखा 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' नामक ग्रंथ और श्री रामदास गौड़ का लिखा 'हिंदुत्व', यह दो विशेषतः उल्लेखनीय हैं। मै ने श्री शिवप्रसाद जी और श्री श्रीप्रकाश जी की डाँट घोंट से ही सन् १९२१ के पीछे राजनीतिक आंदोलन मे पड़ कर, हिंदी मे कुछ लिखना बोलना सीखा, उस के पहिले प्रायः अंग्रेज़ी ही का, पत्र व्यवहार मे और ग्रंथ लिखने मे प्रयोग करता था।

हिंदी से प्रेम के कारण, शिवप्रसाद जी ने, काशी के दंडन्यायालय से कई बार अन्याय-भूत धन-दंड भी पाया, क्योंकि अपनी घोड़ागाड़ी और मोटरों पर हिंदी अंकों मे उनके नंबर (संख्या) लिखवाये, जो उस समय के नगरपालिका के विधान के विरुद्ध था, पर शिवप्रसाद जी ने अपनी टेक नहीं छोड़ी और अंत मे नगरपालिका को विवश होकर हिंदी अंक भी मानना पड़ा; एवं चेकों (धनादेशों, हुँडियों) पर भी नागरी मे ही लिखते और हस्ताक्षर करते; बंकों को भी विवश हो कर मानना ही पड़ा।

नागरी साहित्य का घनिष्ठ संबंध नागरी लिपि से है; यदि नागरी लिपि मे, बँगला, गुजराती, तथा उर्दू के, चुने-चुने उत्तम ग्रंथ छपें, तो उन का प्रचार हिंदी-भाषी सभी प्रांतों मे बहुत अधिक हो, और बँगला तथा गुजराती ग्रंथों के समझने मे हिंदी जाननेवालों को कुछ भी कठिनाई न हो; मराठी ग्रंथ नागरी लिपि मे ही छपते हैं। प्रायः साठ वर्ष हुए, कलकत्ता के उच्च न्यायालय के एक प्राड्विवाक् न्यायाधीश, श्रीशारदा-चरण मित्र, ने 'एक-लिपि-विस्तार-परिषत्' के नाम से एक संस्था बनाई, और एक त्रैमासिक पत्रिका भी चलाई जिस मे चार उत्तर भारत की और चार दक्षिण भारत की मुख्य भाषाओं के लेख नागरी लिपि मे छपते थे; खेद है कि यह शुभ कार्य उन को थोड़े ही दिनों मे बंद करना पड़ा, जनता की सहानुभूति नहीं मिली। अब यदि पुनः ऐसा कार्य आरंभ किया जाय तो आशा है कि सफल हो, क्योंकि नये संविधान में हिंदी राष्ट्र-भाषा घोषित कर दी गई है, और पोस्ट कार्ड पर नागरी

अक्षरों मे ही पता लिखने के स्थान की सूचना की है, जो पोस्टकार्ड समग्र भारत मे चलता है। तार भी अब हिंदी मे भेजे जाने लगे हैं। इन सब लक्षणों से आशा दृढ़ होती है कि ना० प्र० सभा का कार्य, इस हीरक जयंती से आरंभ कर के, अधिकाधिक वेग से चलैगा।[१]

---

१. मद्रास नगर में हिंदी प्रचार-सभा है, जो प्रति वर्ष एक लक्ष परीक्षार्थियों की परीक्षा हिन्दी बोलने और नागरी लिखने मे लेती है, और उत्तीर्णों को प्रमाणपत्र देती है। प्राय: सभी उत्तीर्ण हो जाते हैं। प्रत्येक रेलवे स्टेशन पर, प्रस्तर-शिला पर स्थूल अक्षरों मे, स्टेशन का नाम तीन लिपियों मे खुदा रहता है, उस प्रांत की, तथा नागरी और अंग्रेजी; यह मैं ने स्वयं देखा जब मार्च, १९५४, मे मैं, विशेष कारणो से, मद्रास गया था।

सेन्ट्रल हिंदू कालेज के आदर्श[1]

ॐ

कुलपति आचार्य नरेन्द्रदेव जी, अध्यापकवृन्द, प्रिय विद्यार्थीजन, कई दिन हुए, सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के, जिसको अब आर्ट्स कालेज कहते हैं, प्रिंसिपल श्री रमाशंकर त्रिपाठी जी ने मुझ से कहा कि कालेज की स्वर्ण जयंती मनायी जायगी, उसका आरंभ १३ नवम्बर को तुम करो, एक व्याख्यान से, इस विषय पर कि इसकी स्थापना किन 'आइडीयल्स', आदर्शों, को सामने रखकर की गई थी। यद्यपि मैं वार्धक्य के कारण बहुत शिथिल हो रहा हूँ, तो भी त्रिपाठी जी के निर्बंध से आज यहाँ उपस्थित हुआ हूँ।

श्रीमती डाक्टर ऐनी बेसेन्ट के नेतृत्व मे जिन भारतीय और अंग्रेज़ व्यक्तियों ने इसकी नीव रखी, उनमे से अब केवल मैं ही रह गया हूँ; इस लिये उचित भी है कि उन आदिम आदर्शों को मै आपको सुनाऊँ; संस्था के आरम्भ को पचपन वर्ष होते आये, आदर्श प्रायः भूल गये; उनकी स्मृति को पुनः जगाना उचित ही है।

७ जुलाई, १८९८ ई० के दिन, काशी के एक गली मे, किराये के मकान मे इस संस्था का आरम्भ हुआ। एंट्रेंस और उसके नीचे की एक कक्षा, जिनको अब १० वीं और ९ वीं कहते हैं, स्कूल विभाग मे, और फर्स्ट इयर की एक, कालेज विभाग मे खोली गईं। १३ मार्च, १८९९, को, स्कूल की दो और कक्षा, ८ वीं और ७ वीं, तथा कालेज की एक, सेकेंड इयर, बढ़ाई गई। ६ अगस्त, १८९८, को, इलाहाबाद की युनि-

---

१. सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्वर्ण जयन्ती के समारोह पर मेरा भाषण, ति० १३ नवम्बर १९५२.

वर्सिटी से संस्था संबद्ध हुई । ७ मार्च को संकल्प पत्र (मेमोरेंडम् आफ़ ऐसोसियेशन) कलकत्ते मे लिखा गया, और उसपर प्रथम श्रीमती ऐनी बेसेंट के, फिर अन्य ६ व्यक्तियों के हस्ताक्षर हुए; परन्तु विदित हुआ कि उसका रेजिस्ट्रेशन कलकत्ते मे नहीं, प्रयाग में होना चाहिये । अतः १८ अप्रेल, १८९९, को इंस्पेक्टर-जेनरल आफ़ रेजिस्ट्रेशन इलाहाबाद ने. उसका रेजिस्ट्रेशन, धर्मत्र-विधिविधान (चैरिटेबल एंडाउमेंट्स ऐक्ट) के नियमो के अनुसार किया ।

संकल्प-पत्र मे दो उद्देश्य लिखे गये, मुख्य रूप से; अन्य भी कुछ, जो इन दो के अवांतर सहकारी थे ।

(a) To establish educational institutions, including boarding-houses, which shall combine moral and, religious training, in accordance with Hindu Shastras with secular education ; to promote the imparting of similar religious and moral training in other educational institutions.

अर्थात् (१) छात्रावासों सहित ऐसी शिक्षा संस्थाओं का स्थापन करना जो लौकिक विषयों की शिक्षा के साथ-साथ, हिंदू शास्त्रों के अनुसार सद्धर्म और सदाचार की शिक्षा दें; (२) देश की अन्य शिक्षा संस्थाओं मे ऐसी शिक्षा दिलाने का यत्न करना ।

डाक्टर आर्थर रिचर्डसन अवैतनिक प्रिंसिपल हुए । उस समय सरकारी पाठशालाओं और विद्यापीठ में धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती थी, और सन् १८९० के आसपास उनमे फ़ीस भी सहसा बहुत बढ़ा दी गई थी, जिससे अल्पवित्त कुलों के लड़कों का अध्ययन बहुत कठिन हो गया था । इन दोनों त्रुटियों को दूर करने के विचार से इस संस्था का आरम्भ किया गया । श्री उपेन्द्रनाथ बसु, उनके छोटे भाई श्री ज्ञानेन्द्रनाथ बसु, और मेरे बड़े भाई श्री गोविंददास ने श्रीमती बेसेंट को इस कार्य मे अग्रसर होने के लिये राज़ी किया ।

पहिले यह विचार हुआ कि भारत मे बसने वाले सभी धर्मों के अनुयायियों के बालक और युवा इसमे सर्व-साधारण शाश्वत धर्म की शिक्षा पावें; अपना अपना विशेष धर्म अपने अपने घरों मे सीखें। धर्म-भेद से कितने घोर उपद्रव और जन-धन-संहार हुए, तथा सार्वजनिक समृद्धि मे कितनी बाधा पुनः पुनः हुई, इतिहास इसका साक्षी है। यूरोप मे, प्रोटेस्टेंट और रोमन काथोलिक के परस्पर घोर युद्धों से, तीन शतियो में, प्रायः एक करोर मनुष्य मारे गये, सहस्रों जीते जला दिए गये, सहस्रों जीते गाड़ दिये गये, सहस्रों अंग भंग करके मारे गये, आज भी फ़िलिस्तीन आदि देशों मे यहूदियों और मुसलमानों के युद्ध हो रहे हैं। भारत में १२०० वर्ष तक हिन्दुओं और मुसलमानों के संग्राम होते रहे, यहाँ तक कि, पाँच वर्ष हुये, भारत के तीन खंड हो ही गये, और अब भी यह संग्राम शांत नहीं हुआ है। आयरलैंड के भी दो खंड, उत्तरी और दक्षिणी, रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट के धर्म-भेद से हुये, तथा दक्षिण भाग का ब्रिटेन से विच्छेद भी हो गया। धर्म-भेद-जनित यह सब दुर्दशा आपकी आँखों के सामने है। इसीसे, पहिले, विचार हुआ कि सब धर्मों के लड़कों को वर्तमान भिन्न-भिन्न धर्मों मे अनुस्यूत, साधारण शाश्वत धर्म की शिक्षा दी जावे। पर शीघ्र ही विदित हुआ, कि अन्य धर्मों के सज्जन इसके अनुकूल नहीं हैं। अतः निश्चय किया गया कि, हिन्दू नाम से कहलाने वाले धर्म और समाज मे, जो सैकड़ों सम्प्रदाय और पंथ, और सहस्रों जाति-उपजाति-उपोपजातियाँ, परस्पर त्रिद्वेषी भर गई हैं (जिन्हीं के कारण हिन्दू समाज छिन्न-भिन्न होकर, 'पर-राजों' के पैरों के नीचे १२०० वर्षों से पड़ा था), उनको यथासम्भव, सर्वमान्य सद्धर्मसार सनातन धर्म की शिक्षा देकर धर्माभासों और मूढ़ग्राहों से बचा कर 'कर्मणा वर्णः' 'वयसा आश्रमः' के अनुसार, अध्यात्मशास्त्र, साइकालोजी, से विहित, चार मुख्य वर्णों और आश्रमों मे, परस्पर-संबद्ध संगृहीत करके 'सच्चे स्वराज्य' के योग्य बनाया जाय। अंग्रेजी शब्दों में, 'to liberalise and rationalise Hindu Dharma and solidarise the

Hindu people', अर्थात्, हिन्दू धर्म को पुनः उदार, युक्ति-युक्त, बनाया जाय, और हिन्दू समाज मे संघता पुनः लायी जाय'।

इस साध्य के साधन के लिये सामग्री, उपयुक्त पुस्तकों के रूप में, अपेक्षित थीं। कालेज के निधि-पालक-मंडल (बोर्ड आफ़ ट्रस्टीज) ने एक समिति नियुक्त की और उसको आदेश किया कि एक ग्रन्थ की रचना करो, जिस मे हिन्दू-धर्म का प्राचीन ऋषिसम्मत रूप दिखाया जाय। श्रीमती बेसेंट प्रधान और मै मन्त्री उस समिति के बनाये गये। सन् १९०१ मे श्रीनगर, कश्मीर, मे मई, जून, जुलाई में उक्त ग्रन्थ लिखा गया। सौ प्रतियाँ छाप कर, उस समय के साम्प्रदायिक तथा राजनीतिक हिन्दू नेताओं, तथा विख्यात पण्डितों और विद्वानों, के पास भेजी गईं, और प्रार्थना की गई कि जो घटाव-बढ़ाव आप उचित समझें उसकी सूचना दीजिये। प्रायः बीस सज्जनो ने उत्तर भेजे। आठ अधिवेशनो मे बोर्ड ने एक-एक शब्द पर विचार किया; ग्रंथ का अन्तिम रूप निश्चित हुआ; 'सनातन धर्म, ऐन् ऐडवांस्ड टेक्स्ट बुक आफ् हिन्दू रिलिजन ऐण्ड एथिक्स' के नाम से छापा गया। उसी के आधार पर, एक बहुत छोटी प्रश्नोत्तरी, 'कैटेकिज्म', पाठशालाओं की प्राथमिक कक्षाओं के योग्य, और एक 'एलिमेंटरी', ऊँची कक्षाओं के लिये, लिखी गई; बड़ी पुस्तक विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये उपयुक्त है। 'प्रश्नोत्तरी' का अनुवाद ग्यारह-बारह प्रांतीय भाषाओं मे हुआ, 'एलिमेंटरी' का भी दो-तीन मे। सन् १९०६ तक तीनों की प्रायः १२०००० प्रतियाँ भारत के स्कूल कालेजों मे फैल गईं। पञ्जाब के सब सिक्ख राजा महाराजों ने, तथा कश्मीर, बरोदा, मैसूर, ग्वालियर, बीकानेर, भावनगर, अलवर, त्रावन्कोर आदि के महाराजों ने अपने-अपने राज्य की शिक्षा संस्थाओं में इनके उपयोग को आज्ञा दी, कालेज के संरक्षक, 'पेट्रन', हुए और बहुत बड़ी-बड़ी आर्थिक सहायता प्रति वर्ष देने लगे, जिस से स्कूल, कालेज, तथा बालिका पाठशाला के बड़े-बड़े भवन बन गये। उस समय के निजाम हैदराबाद ने भी उदार

बुद्धि से, अपनी रियासत मे, हिन्दू लड़कों को यह पुस्तक पढ़ाने की अनुमति दे दी। संस्था का सब से अधिक उपकार उस समय के काशी नरेश महाराज प्रभुनारायण सिंह ने किया, दो बड़े मकान और बहुत-सी भूमि दी, जिन के बिना इस संस्था का आरम्भ प्रायः असम्भव होता। काशीविश्वविद्यालय को भी, विविध प्रकार से, बहुत दान और सहायता दी।

इस संस्था के चौदहवें वार्षिकोत्सव मे, ७ दिसम्बर, १९१२ को, महाराज प्रभुनारायण सिंह सभापति हुए, और उन्हों ने जो भाषण किया उस के ये वाक्य सदा स्मरणीय हैं :—

"In order to benefit Hindus at large and to leaven the purely material education of the present day with the high ideals of Hindu Religion and Ethics, this noble and venerable lady established this College in this holy city, so that it may bring forth students nursed in worldly lore, but infused with those high ideals without which man is little better than beast. Education is barren without ethics, and ethics has no standing without religion. The interests of this college ought to be zealously guarded, more especially as it is going to be the nucleus of the Hindu University". अर्थात्,

"आजकाल जो केवल लौकिक विषयों की शिक्षा दी जाती है, उस के साथ समस्त हिन्दुओं के उपकार के लिये, हिन्दू धर्म के ऊँचे आदर्शों की शिक्षा देने के लिये, इन महानुभाव देवी (श्रीमती बेसेंट) ने काशी की पवित्र नगरी मे इस विद्यालय की स्थापना की है, जहाँ सब विद्यार्थी, धर्म के उन तत्वों को सीखें जिन के बिना मनुष्य पशु के तुल्य रह जाता है; बिना सदाचार के विद्या ऊषरवत् रह जाती है, और सदाचार की नींव एकमात्र सद्धर्म ही है। इसलिये इस विद्यालय की रक्षा और उन्नति

के लिये यत्न करना चाहिये, विशेषकर इस हेतु से कि अब इस को विश्वविद्यालय का रूप धारण करना है।"

उसी उत्सव मे श्रीमती बेसेंट ने कहा,

"The general feeling was against religious education. It was said there were so many divisions in Hinduism that it would cause disputes among the students. No one had tried so far to establish an institution over which should spread the spirit of Hindu religion. There is nothing so irrational as to say that a nation can live without religious education. I appeal to history when I say that the great public schools and colleges of England were founded by religious men."

अर्थात् "जनमत धर्म की शिक्षा के पक्ष मे प्रायः नहीं था, लोग समझते थे कि हिन्दू कहलाने वाले धर्म के भीतर इतने अधिक भेद हैं कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के विद्यार्थियों मे झगड़े होने का भय है। अब तक किसी ने ऐसी संस्था स्थापित करने का उद्योग नहीं किया था जिन मे हिन्दू धर्म का मर्म, उसकी आत्मा, व्याप्त हो। कोई मानव जाति बिना धार्मिक शिक्षा के जीवित रह सकती है, ऐसा समझना सद्बुद्धि और विवेक के विरुद्ध है, बड़ी भूल है। इंगलैंड के सभी बड़े स्कूलों और कालेजों की स्थापना धर्मात्मा व्यक्तियों ही ने की है, इसका साक्षी इतिहास है।"

सन् १९१५ मे जब हिन्दू यूनिवर्सिटी ऐक्ट पर, केन्द्रीय विधान सभा मे वाद-विवाद हो रहा था; श्री मोतीलाल नेहरू जी ने मुस्किराकर पूछा "What is Hinduism ? What Hinduism are you going to teach ?" ("हिन्दू धर्म क्या है? कौन।से हिन्दू धर्म को आप पढ़ावेंगे ?" श्री मालवीय जी ने उत्तर दिया, "There is no room for question as to what Hinduism we. are going to teach, We

have been teaching Hinduism through these text books."
"ऐसे प्रश्न के लिये स्थान ही नहीं है कि क्या पढ़ावेंगे ? इन पुस्तकों के द्वारा पढ़ाते रहे हैं !"

इन की रचना के पहिले 'हिन्दू धर्म क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन था। संस्कृत के किसी धुरन्धर विद्वान् पण्डित से पूछिये, तब आप को इस कठिनाई का पता लगेगा। कोई एक सर्वमान्य आचार नहीं, विचार नहीं; शिखा-सूत्र कहिये, तो पवित्रमंमन्य द्विजों के बालकों की भी मुंडन और उपयनय-संस्कार के पहिले नहीं, न संन्यासियों को; स्त्रियों को तो सर्वथा नहीं। संस्कृत का ज्ञान ? दस सहस्र में एक को स्यात् ही। वेदों मे विश्वास ? करोरों ने नाम ही नहीं सुना होगा; तथा भारतीय, बौद्ध, जैन, सिख, तांत्रिक, जो सभी हिन्दू माने जाते हैं, बेदों मे विश्वास नहीं करते। ६: आस्तिक और ६: नास्तिक दर्शन प्रसिद्ध हैं, जगत् से भिन्न, जगत् के स्रष्टा, पालनकर्त्ता, संहर्ता, किसी ईश्वर को, आस्तिक दर्शन भी नहीं मानते; दर्शनों का शिरोमणि, अद्वैत वेदांत तो स्पष्ट ही नहीं मानता। कोई एक मंत्र नहीं, बीसियों गायत्रियां बना ली गयी हैं। यहूदी, ईसाई, मुस्लिम धर्म मे एक ईश्वर, एक धर्म ग्रंथ, एक धर्म प्रवर्तक में, विश्वास देख पड़ता है। विदेशी यात्री भारत मे आकर हिन्दू धर्म का रूप जानना चाहते हैं; उक्त दुर्दशा को देखकर आश्चर्य, तिरस्कार, घृणा से भर जाते हैं। मिस मेयो की "मदर इण्डिया" नामक पुस्तक इसका उदाहरण है। हिंदू उससे बहु क्रुद्ध हुए; परंतु कितनी ही बातें उसने ठीक लिखी हैं, चाहे उसकी नीयत अच्छी न रही हो, पर विचारवान् सज्जनों को उचित था कि उस से, चिकित्सक के बताये रोग के निदान का काम लेते, और दोषों को हटाने का यत्न करते। उन घोर दोषों का ही फल है कि जहाँ, १४०० वर्ष पहिले, प्रतिशत सौ हिन्दू थे, वहाँ अब पैंसठ वा उस से भी कम रह गये हैं, पच्चीस प्रतिशत से अधिक मुसलमान हो गये हैं, और अब भी होते जाते हैं, तथा दश प्रतिशत से कम ईसाई तथा अन्य धर्मावलंबी

हैं। दूसरों पर, इस दुःखद परिणाम के लिये, क्रोध करना नितांत मूर्खता है; अपने दोष पहिचानना और दूर करना चाहिये। हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज के इस क्षय को रोकने का एकमात्र उपाय यही है कि, "हिंदू" नहीं, प्रत्युत "सनातन आर्य-मानव-धर्म" का सत्य स्वरूप जनता के सामने रक्खा जाय, और अथक परिश्रम से, उसका प्रचार प्रसार किया जाय।

ऐसा स्वरूप इन पुस्तकों मे दिखाया है। उसका प्रचार भी प्राय: दस वर्ष मे बहुत हुआ जैसा पहिले कहा। परंतु किसी कारण से, जब से सेंट्रल हिंदू कालेज, हिंदू युनिवर्सिटी को सौंपा गया, तब से इनका उपयोग, स्वयं युनिवर्सिटी मे बंद हो गया, पुस्तकों की उपेक्षा हुई; सारे देश मे प्रचार सर्वथा बंद हो गया। जैसा एक अन्य भाषण मे, श्रीमती बेसेंट ने कहा था, उस वार्षिकोत्सव मे जो उक्त सौंपने के बाद हुआ था,

"The object of the C. H. College has been, and the object of the Hindu University will be, to combine all that is best in the cultures of the west. And it goes without saying that the essence of the culture of the east is religion, or the observance of our ancient Dharma."

"सेंट्रल हिन्दू कालेज का लक्ष्य रहा, और हिन्दू युनिवर्सिटी का लक्ष्य होगा, कि पूर्व और पश्चिम दोनों की सभ्यताओं शिष्टताओं के जो उत्तम अंश हैं उनका सम्मेलन किया जाय, और यह स्पष्ट है कि प्राचीन सभ्यता का हृदय धर्म है।" अभी इसी मास की ति. ६ को मेरे पास 'सेकेंडरी एजुकेशन कमीशन' के सदस्य आये थे। अन्य प्रश्नों के साथ उन्होंने पूछा, कि हिन्दू कालेज की क्या विशेषता थी; मै ने यही कहा, 'हिन्दू धर्म के तात्विक रूप की शिक्षा।' उसके दो दिन पीछे, ति. ४ को, एक अमेरिकन मित्र मुझे मिला, जिस से न्युयोर्क के 'हेरल्ड् ट्राइब्युन्'

नामक दैनिक के ति. २६ अक्तूबर के अंक की कतरन थी; वह मैं आपको सुनाता हूँ ।

ITHACA, N. Y., Oct. 26—Anabel Taylor Hall. Cornell University's interfaith center and World War II memorial, was dedicated to-day. Its donor, Myron C. Taylor, the president's representative at the Vatican from 1939 to 1950, called upon the religions of the world to unite "under one banner" to resist threats to peace.

"Religion" he said in his presentation address, "is the only force that can bind people together to tesist evil influences and actions. Nothing but a common front with religion can save the world from catastrophe."

The English Gothic building. erected at a cost of 2,000,000 dollars is named after Mr. Taylor's wife. The names of 478 Cornell students and alumni who died in World War II are inscribed on a stone tablet in the entrance. The hall contains a chapel seating 150 which has a triangular turn-table on which are mounted two altars, one Christian and one undenominational, and an ark of the covenant to be used in Jewish services. There is an auditorium for large meetings.

अर्थात् "आज ता० २६ अक्तूबर को, इथाका नामक नगर मे कार्नेल युनिवर्सिटी मे, सर्वधर्म केन्द्र और द्वितीय विश्व-युद्ध स्मारक का उत्सर्ग हुआ । उसके दाता श्री माइरन सी. टेलर, युनाइटेड स्टेट्स के राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप से, समग्र रोमन कैथलिक ईसाई सम्प्रदाय के

परमधर्माचार्य जगद्गुरु पोप के पास, सन् १९३९ से १९५० ई० तक रहे। उन्हों ने उस दिन अपने भाषण मे :संसार के सर्व धर्म-सम्प्रादायों का आमंत्रण और आवाहन किया, कि सब एक ध्वजा के नीचे एकत्र होकर जगत् की शांति को भंग करने वालों को रोकें। उन्हों ने कहा कि धर्म ही वह शक्ति है जो सब मानवों को एक मे प्रेम के बंधन मे बाँध सकती है, और सब पापाचारों को रोक सकती है। बीस लाख डालर के (जो आज के एक्सचेंज रेट से प्रायः एक कोटि रुपयों के तुल्य हैं) व्यय से यह भवन बनाया गया है। उसके प्रवेश द्वार पर बृहती शिला पर युनिवर्सिटी के उन ४७८ छात्रों के नाम उत्कीर्ण हैं, जिन्हों ने द्वितीय विश्व युद्ध मे अपने प्राणों की आहुति दी। ईसाई, यहूदी, तथा अन्य धर्म सम्प्रदायों के लिये, ईश्वर वंदना के लिये, स्थान बनाये हैं। बड़े समागमों के लिये बड़ा हौल बना हुआ है।'

जगत्प्रसिद्ध ग्रंथकार एच० जी० वेल्स ने, जिनके ग्रंथ, "आउट् लाइन आफ़ हिस्टरी" और "शार्ट हिस्टरी आफ दि वर्ल्ड", भारत की शिक्षा संस्थाओं के पाठ्य क्रमों में भी रक्खे गये हैं, एक स्थान पर लिखा है,

'The coming world state will be based upon a common world-religion, very mnch simplified and universalised and better understood." "भविष्य मे बनने वाले जगद्राष्ट्र की नीवी, एक विश्व धर्म होगा, जो बहुत सरल, सुबोध, जटिलतारहित और सर्वव्यापी होगा।"

वाइकौंट साम्युएल, प्रेसिडेंट आफ़ दि ब्रिटिश् इंस्टिटयुट् आफ़ फ़िलोसोफ़ी मे, जिन्होंने यहां हिन्दू युनिवर्सिटी मे भी व्याख्यान दिया है, सन् १९३८ के जनवरी मास मे कलकत्ता और इलाहाबाद के विश्वविद्यालयों मे भाषण करते हुए कहा,

"Bernard Shaw has declared that civilisation needs religion, as a matter of life and death. We all recognise

that the mind of man in our times is confused. The present generation is beset by anxieties and perils. Our escape, our rescue, from these, depends upon our finding a new synthesis between Philosophy and Science and Religion. The World Fellowship of Faiths is working in this direction. We must emphasise the points of agreement between the religions, rather than points of difference."

अर्थात् "बर्नर्ड शा ने कहा है कि सभ्यता के लिये धर्म ही प्राण है, जीवन है, उसका अभाव ही मृत्यु है। हम सब अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान काल मे मानव मात्र का मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। विविध चिंताओं और भयों से ग्रस्त है। इनसे बचने का उपाय एक ही है, विज्ञान और प्रज्ञान और धर्म का समन्वय। वर्ल्ड् फ़ेलोशिप आफ़ फ़ेथ्स इसके लिये काम कर रही है। सब धर्मों मे जो अंश समान हैं उसी पर हमको ध्यान और बल देना चाहिये; जो भिन्न हैं उन पर नहीं।"

इस सब से आपको विदित हो गया होगा कि सभी देशों के सभी विचारशील विख्यात विद्वान्, सद्धर्म के विश्वास को, मानव कल्याण के लिये, कितना आवश्यक मानते हैं। न मानने के ही फल दो विश्वयुद्ध हुए, और तीसरे की तैयारी है।

टेक्स बुक्स आफ सनातन धर्म मे, केवल एक हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में से समान अंश को निकाल कर एकत्र किया है। सब धर्मों मे एक रूप से व्याप्त धर्मसार का प्रदर्शन अन्यत्र 'एसेंशल् युनिटी आफ़् आल् रिलिजन्स्,' नामक ग्रंथ मे मैंने किया है।

यह बात, हृदय और मस्तिष्क में बैठा लीजिये कि सद्धर्म की शिक्षा बिना सब शिक्षा निष्फल दुष्फल है और सदाचार की नीव सद्धर्म है; देखिये, सभी धर्म कहते हैं—"डू अन्टु अदर्स ऐज यू वुड् बी डन् बाई"; 'उन्चे बाखुद न पसन्दी, बादीगरां म.संद' 'अफ़ज़लुल् इमानिउन् तोहिब्बा

लिन्नासे मातोहिब्बो लिनफ़िसका, व तक्रहो लहुम् मातक्रहो लिनफ़सिका', 'श्रूयतां धर्मसर्वस्व, श्रुत्वा चैवावधार्यतां, न तत् परस्य कुर्वीत स्याद् अनिष्टं यद् आत्मनः, यद् यद् आत्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्', (म. भा.) 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः।' इन सब वाक्यों का अर्थ एक ही है, जो अपने लिये जो चाहो वह दूसरों के लिये भी चाहो, और जो अपने लिये न चाहो वह दूसरों के लिये भी न चाहो; यही धर्मसार है, धर्मसर्वस्व है। पर क्यों ऐसा करो, इसका संतोषजनक उत्तर, केवल उपनिषदों मे कहे वेदांत से मिलता है; अर्थात् 'इसलिये कि जो तुम हो वही दूसरा है, जो सुख-दुःख दूसरे को देते हो, वह तत्वतः, अंततः, अपने ही को देते हो; इसलिये वह लौटकर तुमको अपने कर्म के फलस्वरूप, कभी न कभी अवश्य मिलेगा।' पाश्चात्य-विज्ञानसम्मत क्रिया-प्रतिक्रिया-न्याय, और कार्य-कारणन्याय, Action and Reaction are opposite and equal, और Law of Cause and Effect, इसी अध्यात्मिक सत्य के आधिभौतिक रूप हैं, उन सबका समाधान वर्णश्रम-धर्म से ही होता है, अन्यथा नहीं हो सकता।

पहिले कहा कि हिन्दु समाज को 'सच्चे स्वराज' के योग्य बनाना है, तो क्या जो स्वराज हम लोगों को किसी प्रकार मिल गया है वह सच्चा स्वराज नहीं है ? मेरी समझ मे वह सच्चे स्वराज से अभी बहुत दूर है। क्रमशः शासक वर्ग और महाजन अर्थात् पब्लिक, जनसमूह, बहुत ठोकरें खाकर सच्चे स्वराज का रूप पहिचानेंगे, और उसके अनुसार राज्य का प्रबन्ध करने और कराने का यत्न करेंगे। मनु का आदेश है, 'सर्वभूतेषु चऽत्मानं, सर्वभूतानि चऽात्मनि समं पश्यन्, आत्मयाजी, स्वाराज्यं अधिगच्छति; नहि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलं उपाश्नते'। कृष्ण ने भी कहा है, 'अध्यात्मविद्या विद्यानां, वादः प्रवदतां अहं'। अर्थात्, 'जो सब जीवों में एक ही परमात्मा को, और सब जीवों को उसी एक में, विद्यमान जानता है, वही स्वराज्य को पाता है, जो

अध्यात्मविद्या के इस गंभीर तत्व को, तथा मनुष्य की प्रवृत्ति को, स्वभाव को, नहीं जानता, उसकी कोई भी क्रिया सत्फलदायक नहीं होती'।

यह परमात्म-भाव और अध्यात्म-भाव, उपनिषदों मे और ऋषिकृत दर्शन-सूत्रों और भाष्यों मे भरा है। ये परस्पर विरोध और खंडन नहीं करते, प्रत्युत सभी, भिन्न मार्गों से, एक ही सर्वसम्मत लक्ष्य की ओर ले जाते हैं, और परस्पर मंडन करते हैं।

प्रचलित व्यामोहों को हटाकर प्राचीन आर्ष औपनिषद वेदांत पर प्रतिष्ठित सत्य सनातन धर्म को कैसे पुनः फैलाया जाय और उसके अनुसार सच्चे वर्णाश्रम धर्म का प्रचार कैसे हो? देखिये। अंग्रेज़ी शासक, यहाँ से जाते हुए, अपनी भलाइयों अपने गुण, अपने साथ लेते गए, और अपनी बुराइयों, अपने दोष, छोड़ गये। उन दोनों की गिनती के लिये पर्याप्त समय नही हैं, अन्यत्र किया है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि उनके दोषों को हमारी ना-समझ जनता ने, और जनता के चुने हुए अदूरदर्शी शासकों ने, दौड़कर बड़े हर्ष से अपनाया।

यह सब मैं अपनी बुद्धि के बल नहीं कह रहा हूँ; यदि ऐसा करता तो अक्षम्य अपराधी अहंमानी होता। मै प्राचीन ऋषियों और मनु, राम, और कृष्ण के आदेश-उपदेश के बल पर कह रहा हूँ।

अंग्रेज़ों की जिन बुराइयों को नये शासकों ने अपनाया, उन मे यहाँ प्रसंग वश सब से पहिले "सेक्युलर" नीति का नाम लेना पड़ता है, अर्थात् सर्कारी स्कूलों कालेजों मे धर्म की शिक्षा का निषेध है। यह किसी से छिपा नहीं है कि समग्र भारत मे और विशेष कर उत्तर भारत अर्थात् बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश मे विविध प्रकार के दुष्टाचार भ्रष्टाचार व्याप्त हो रहे हैं। कोई दिन नहीं जाता जिस के दैनिकों मे हत्या, डकैती, लूट, आग लगाना, रेल गिराना, स्त्रियों की चोरी, स्त्रियों पर बलात्कार, सर्कारी नौकरों का उत्कोचग्रहण, प्रजापीड़न और स्त्रियों का अपहरण, एवं व्यापारियों की विविध प्रकार की चोर बाजारी आदि का समाचार न रहता हो। शासकों की ओर से, इन को रोकने के लिये, कई

प्रकार के उपाय किये गये, सब व्यर्थ रहे। 'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' उपाय सफल कैसे हों? जो ही एक मात्र ठीक उपाय है, उसकी उपेक्षा, किंवा विरोध, अर्थात् धर्म की शिक्षा का निषेध। जो संस्थाएँ, आरम्भ से ही, धर्म शिक्षा को अपने उद्देश्यों मे गिना कर स्थापित हुईं, उन में यह निषेध कैसे हो सकता है, जैसे यह हिंदू युनिवर्सिटी और अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी? अतः इनके लिये भारत के नये संविधान मे विशेष प्रबन्ध कर दिया गया है। पर अधिकांश लड़की लड़के म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्कूलों मे पढ़ते हैं, तथा उन युनिवर्सिटियों से जैसे आगरा, इलाहाबाद, लखनऊ, दिल्ली की, और कालेजों मे, जैसे मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर आदि, अथ च समग्र भारत की ऐसी शिक्षा संस्थाओं मे, एवं उन सब संस्थाओं मे, जो 'बोर्ड आफ़ स्कूल्स ऐंड इटरमीडिएट् एक्ज़ामिनेशन' के और 'डाइरेक्टर आफ़ पब्लिक इंस्ट्रक्शन' के अधीन हैं; एवं 'टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेजों में; यद्यपि अध्यापकों मे धर्म भाव जगाना पहिले चाहिये; क्योंकि यदि उन मे नहीं है तो उन के विद्यार्थियों मे कैसे होगा? चारों ओर शिकायत हो रही है कि छात्र बहुत उच्छृङ्खल, उद्धत, मर्यादाहीन, विनयन-अनुशासनहीन हो गये हैं और होते जाते हैं। क्यों न हों? उन को उपयोगी शिक्षा ही नहीं दी गई। 'मूलं नास्ति, कुतः शाखा'? 'आचार्य' शब्द की पुरानी परिभाषा है, 'आचिनोति च शास्त्रार्थान् धर्म्यान्, आचारयति अपि शिष्यान्, स्वयं चाचरति, तस्माद् आचार्य उच्यते। आचरणेन शिक्षयति, तस्माद् आचार्यः'। जो अपने सदाचार के निदर्शन से शिष्यों को सदाचार सिखावे वही सच्चा आचार्य। Example teaches better than precept, जो सदाचार का केवल उपदेश ही करता है, स्वयं तदनुरूप आचरण नहीं करता, उस की बात का विश्वास कोई नहीं करता, प्रत्युत उस के हीन आचरण का ही अनुकरण करता है। आजकाल युनिवर्सिटियों और कालेजों मे, तुच्छ स्वार्थों के लिये अध्यापकों मे दलबंदियाँ होती हैं, संघर्ष होता है, छात्रों मे भी वैसा ही। अभी

६ नवम्बर को उत्तर प्रदेश की विधान परिषत् मे, आगरा युनिवर्सिटी सम्बन्धी एक विधेय का प्रस्ताव करते हुए शिक्षामंत्री ने कहा, "The universities of Agra and Allahabad and the Board of High School and Intermediate Examination had become hotbeds of caucuses, corruption, nepotism, and shameless loot. He told how it (Agra University) had been in the clutches of unscrupulous cliques since 1938. He quoted the findings of the Acharya Narendra Deva Committee which was set up at the time. (He said his bill) ended once and for ever, the mischievous system of election in educational institutions, which was responsible for the new class of teacher politicians". अर्थात् 'आगरा और इलाहाबाद के विश्वविद्यालय और हाई स्कूल व इण्टरमीडियेट परीक्षा के बोर्ड, गुटबन्दियों, दुराचारों, पक्षपातों और निर्लज्ज लूट के केन्द्र हो गये हैं। आचार्य नरेन्द्र देव की कमेटी की रिपोर्ट मे से उन्होंने उद्धरण सुनाये, और कहा कि जिस विधेय का मै प्रस्ताव कर रहा हूँ उस से शिक्षा संस्थाओं मे, विविध स्थानों के लिए अब तक जो बहुत हानिकर दोषकर निर्वाचन प्रथा चल रही है वह सदा के लिये बन्द हो जायगी, जिस प्रथा से ऐसे अध्यापकों का निर्वाचन होता रहा है पालिटिशन अर्थात् चालबाज होते रहे हैं।' किन्तु इसी निर्वाचन रीति से स्वयं शिक्षा मन्त्री तथा अन्य सभी मन्त्री और विधान विधाता 'पालिटिशन' सदस्य भी चुने गये हैं, और इन मे भी वैसी ही दलबन्दियाँ और संघर्ष होते हैं। तथ्य यह है कि निर्वाचन-पद्धति मे स्वतः दोष नहीं है। बुद्ध देव के समय से, और उस के भी सहस्रों वर्ष पहिले से, पंचायतों के सरपंच, पुर, और जनपद के निगम, श्रेणी, ग्राम, और सार्थ आदि के प्रमुख, यहाँ तक कि समय-समय पर राजा भी, चुने जाते थे। दोष है निर्वाचकों मे अशिक्षित, कुशिक्षित, स्वार्थांध, सद्धर्मरहित, सद्बुद्धिहीन

ही प्रायः होते हैं, अतः उन के निर्वाचित भी बहुधा ऐसे होते हैं। इस हेतु से यह सब दुर्दशा, न केवल शिक्षा संस्थाओं की, अपितु समग्र देश की हो रही है। सभी अध्यापक, किसी भी शास्त्र के पढ़ाने वाले, 'कर्मणा ब्राह्मण' हैं, उन मे ब्राह्मणोचित गुण, जो स्मृतियो मे, गीता मे, इतिहास मे, कहे हैं; वे होने चाहिये। आजकाल के शब्दों मे missionary spirit, धार्मिक बुद्धि, न कि mercenary spirit, धनलोभी बुद्धि। इस प्रकार के संघर्ष उस 'स्पिरिट्', उस भाव, के विपरीत हैं। स्मरण रहे कि अंग्रेज़ों ने भारत मे तो 'सेक्युलर' नीति बर्ती, किन्तु ब्रिटेन मे जितनी भी प्रतिष्ठित और सौ वर्ष से पूर्व की शिक्षा संस्थाएँ हैं, उन सब मे 'आंग्लिकन चर्च' के अनुकूल 'स्टेट-रिलिजन' की शिक्षा दी जाती है, अध्यापकों और छात्रों को रविवार के दिन 'चर्च' और 'चापेल' मे जाकर, ईशवंदना, प्रार्थना और भजन मे, सम्मिलित होना पड़ता है; और जो मुख्य-मुख्य स्कूल हैं यथा 'ईटन', 'हारो', 'विंचेस्टर' आदि, उनके प्रधान, 'प्रिन्सिपल' वा 'हेडमास्टर', 'बिशप' की पदवी के अधिकारी पादरी-ब्राह्मण ही होते हैं, और 'बिशप' के तुल्य उनका गौरव माना जाता है। भारत मे भी अंग्रेज़ी सर्कार ने, कई कोटि रुपये प्रतिवर्ष के व्यय से एक 'इक्लीज़िपास्टिकल डिपार्टमेंट' चला रक्खा था, 'सिविलियन' और 'मिलिटरी' अंग्रेज़ों तथा अन्य ईसाईयों के लिये। सभी अध्यापकों में ऐसा सद्ब्राह्मणोचित 'मिशनरी' भाव होना चाहिये।

'तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परं', 'यस्मिन् तपश्च विद्या च, स एव ब्राह्मणः स्मृतः'। जिसमे तपस्या भी, विद्या भी, दोनों हैं, वही सद्ब्राह्मण है, वही छात्रों को शिक्षा देने का अधिकारी है।

हिन्दू कालेज और हिंदू गर्ल्स स्कूल मे प्रायः बारह वर्ष तक ऐसे अध्यापक अध्यापिकाएँ रहीं। डाक्टर रिचर्डसन् का नाम पहिले कहा। इंग्लैंड मे, ब्रिस्टल कालेज मे, केमिस्ट्री के प्रोफेसर रहे। किसी कारण से, उस काम और स्थान से बैराग्य हुआ; श्रीमती बेसेन्ट के कुछ व्याख्यान सुने; भारत आये। सन् १८९७-९८ मे बंबई और उस के आसपास प्लेग

महामारी का कोप हुआ; रोगियों की सेवा सहायता करने यहाँ गये। जब हिंदू कालेज की स्थापना हुई, तब श्रीमती बेसेंट के कहने से यहाँ आये; अवैतनिक प्रिंसिपल हुए। कुछ थोड़ी सी सम्पत्ति थी, जिस से प्राय: १००) महीने की आय थी। उसी से अपना निर्वाह करते थे। हम लोगों ने कितना कहा, पर संस्था से एक पैसा भी निजी काम आराम के लिए नहीं लिया। गर्मी बरसात मे श्वेत अवसीय (धोती) और कुर्ते, हिन्दुओं के से पहिनते थे। जाड़ों मे यहीं के बाजार (आपण) से प्रतिवर्ष एक जोड़ कम्बल, भेड़ के बाल के खरीद लाते थे, एक बिछाते थे एक ओढ़ते थे; जाड़ा बीतने पर किसी को दे डालते थे। उसी सौ मे से कुछ न कुछ बचाकर, वित्तहीन विद्यार्थियों को दे दिया करते थे। वेद की आज्ञा है "य: आवृणोति अवितथेन ब्रह्मणा शिष्यस्य श्रोत्रं, अमृतं संप्रयच्छन् , तं जानीयात् पितरं मातरं च तं न द्रुह्येत् कतमच्चनास"। शिष्य को जो सनातन अमर तथ्य दिखाता है, उस से कभी द्रोह नहीं, करना, उस को माता पिता ही समझना। विद्यार्थी उन को ऐसा ही मानते भी थे, पर, छात्रों से इतना स्नेह करते हुए भी, विनयन 'डसिप्लिन्' मे शिथिलता नहीं आने देते थे। संस्था के दुर्भाग्य से, और प्राय: दिन-रात योग्याशाला, 'लाबोरेटरी,' मे काम करते रहने से (क्योंकि अन्य उनको कोई मनबहलाव नहीं था) पक्षाघात, 'पेरालिसिस', हो गया। तीन वर्ष पड़े रहे। जो भी सम्भव था उनकी सेवा शुश्रूषा का प्रबंध कर दिया गया। जून १९१२ में देहान्त हुआ। बहुत पहले लिख दिया था कि शरीर का अंत्य संस्कार अग्नि से हो। गर्मियों का अनध्याय था, अत: संस्था के अध्यापक और छात्र जो काशी से बाहर दूर दूर के नगरों के रहने वाले थे, अपने अपने घरों को चले गये थे, पर यहाँ नगर मे कहला दिया था। शरीर को हिन्दू ही, हम सब उनकी चारपाई पर रख कर, राजघाट के पुल के नीचे ले गये। सैकड़ों प्रतिष्ठित नागरिक वहाँ एकत्र हुये। मैने पहिले उनको अग्नि दिया, चिता की परिक्रमा करके, गीता के श्लोक और ईशोपनिषद् के मंत्र पढ़ते हुए,

ॐ, अग्ने ! नय सुपथा राये एतान् , विश्वानि, देव !, वयुनानि विद्वान् , युयोधि एषाम् जुहुराणं एनः, भूयिष्ठां ने नमः उक्तिं विधेम । हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यऽपिहितं मुखं, तत्त्वं, पूषन् !, अपावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये ।"

कुछ दिन पीछे कालेज मे पंडितों की सभा हुई, महामहोपाध्याय पंडित आदित्य राम भट्टाचार्य जी के सभापतित्व मे । काशी के प्रायः सवा सौ गण्य मान्य पंडित आये । उन्होंने डाक्टर रिचर्डसन् के और संस्था के कार्य का आदर किया, दक्षिणा स्वीकार की, आशीर्वाद दिया । काशीनरेश के सभा पंडित आये; सभा के विसर्जन के पश्चात् , उन्होंने मुझ से कहा, 'महाराज कहते थे, भगवान् दास ने ऐसा अनुचित काम क्यों किया, अंग्रेज के शरीर को अग्नि दिया ।' मैने दूसरे दिन तीन चार श्लोक बनाकर महाराज के पास भेजा; उनमे से केवल पहिला याद है, वह आप को सुना देता हूँ,

"गृध्रं ददाह भगवान् रघुवंशवीरः,
कर्मौर्ध्वदैहिकमथास्य चकार मंत्रैः,
जानन् कृतं च, सुकृतं च, परावरज्ञः ;
कस्माद् भवेम मनुजेऽपि वयं कृतघ्नाः ।"

"भगवान् रामचंद्र ने गृध्र जटायु की अंत्येष्टि अग्नि से की । गोदावरी के जल मे खड़े होकर विधिवत् वैदिक मंत्रों से तिलांजलि दी । हम लोग ऐसा भारी उपकार करने वाले मनुष्य की ओर कैसे कृतघ्न हों ?" महाराज ने समझा, माना, कहला भेजा, अनुचित नहीं किया उचित किया ।

डाक्टर रिचर्डसन् की रुग्णावस्था मे, महामहोपाध्याय पं० आदित्य राम जी अवैतनिक वाइस् प्रिंसिपल रहे; तथा उन के पुत्र श्री सत्यव्रत भट्टाचार्य एम. ए., एल. एल. बी., भी वैसे ही, 'ईकोनोमिक्स' के प्रोफ़ेसर रहे । तथा श्री इन्द्र नारायण सिंह एम. ए., मिस आरंडेल, उनके पुत्र डाक्टर आरंडेल, श्री पंढरिनाथ काशीनाथ

तेलंग, मिस लिलियन एड्गर, मिस पामर, प्रोफ़ेसर जमशेदजी उनवाला, मिस हेरिङ्टन, पं० छेदीलाल जी, मिस विल्सन, प्रोफ़ेसर वुडहाउस, मिसेस लोइड, डाक्टर इकबाल नारायण गुर्टू तथा अन्य सज्जन, शिक्षा विभाग वा 'आफ़िस' कोष आदि के कार्यालय मे। अब उस मंडली मे से केवल गुर्टू जी और श्री ज्ञानेन्दुनाथ वसु जी (जो अब कलकत्ता ही मे रहते हैं, और प्रायः मेरे ही इतने वृद्ध हैं) रह गये हैं। तथा मेरे छोटे भाई श्री सीताराम साह जो बहुत वर्षों तक सेंट्रल हिन्दू कालेज की प्रबंधक समिति के असिस्टेंट सेक्रेटरी और बालिका पाठशाला की समिति के सदस्य रहे। प्रोफ़ेसर श्यामा चरण दे जी ने भी इस संस्था की बहुत बड़ी सेवा सहायता की है, और अपना सर्वस्व इसको दान दे दिया है; संस्था के सौभाग्य से अब तक शरीर धारण किये हैं यद्यपि अभी अभी बहुत रुग्ण हो गये थे और बहुत दुर्बल हो रहे हैं; ये कुछ पीछे यहाँ आये, १९१३ मे।

प्रोफ़ेसर तेलंग केवल अवैतनिक अध्यापक ही नहीं थे, अपितु अपने पिता, बम्बई हाईकोर्ट के जस्टिस श्री काशीनाथ त्र्यंबक तेलंग का बहुमूल्य संचय, प्रायः छः सहस्र उत्तम पुस्तकों का, इस संस्था को उन्हों ने दे दिया। जो सज्जन स्वतः सम्पन्न न होने के कारण, पुरस्कार लेते थे वे भी प्रायः निर्वाह मात्र भर।

ऐसे मिशनरी भाव के ब्राह्मणों की छाया में रहकर जिन्हों ने शिक्षा पाई, उनके ऊपर जहाँ तक मुझे विदित है, इस संस्था की छाप आज तक है और जिस-जिस काम में लगे हैं उसमें प्रायः नेक नाम हैं। कई हाईकोर्ट के जज हैं, कई केंद्र में, तथा उत्तर प्रदेश मे, मंत्री हैं, इत्यादि।

संस्था के आरम्भिक आदर्शों के वर्णन मे उक्त सज्जनों का कीर्तन आवश्यक अंग है। उन्हीं के सद्भाव और परिश्रम से उन आदर्शों की पूर्ति यथाकथंचित् होती रही, इसलिये कुछ विस्तार से कहा। जब हिन्दू कालेज विश्वविद्यालय में मिल गया, उसके बाद यहाँ भी दलबंदियाँ आरम्भ हुई। पहिले तो संस्कृत विभाग के अध्यापकों मे और सिंडिकेट,

सिनेट, कौंसिल, कोर्ट, तथा अन्य अवांतर समितियों ने एक-एक दल के पक्षपातियों समर्थकों में, फिर प्रत्येक विभाग के अध्यापकों मे, परस्पर स्पर्धा संघर्ष चला; क्रमशः बढ़ता गया। एक दो प्रोफेसर पंडित, उनके अनाचार सिद्ध होने पर, हटाये गये; कई स्वयं छोड़कर दूसरे विद्यालयों मे चले गये। छात्रों में भी प्रान्तीयता बढ़ी, अनाचर, कुकृत्य, अनुशासन-भंग, औद्धत्य, साइनेमा का अत्यंत शौक, तत्संबद्ध सर्वविदित दुराचार भी वढ़े; आपस में मारा मारी की नौबत आई। ऐसे ही कारणों से, भारत के प्रेसिडेंट डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी ने आचार्य नरेन्द्रदेवजी की यहाँ भेजा। जब तक ये लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति रहे वहाँ बहुत कुछ शान्ति थी। कारण, वही त्याग, तपस्या, विद्या, सादी रहन सहन, छात्रों पर स्नेह, छात्रों का हितचिन्तन। इनके आने पर लखनऊ के छात्रों ने बहुत दुःख माना, यहाँ के छात्रों को हर्ष हुआ। यहाँ की भी हवा बदल रही है, और आशा है कि दिनों दिन अच्छी होती जायगी।

आप के कुलपति जी मेरे बहुत प्रीतिपात्र हैं; मेरे साथ काशी विद्यापीठ में इन्होंने कई बर्ष काम किया है। पर इनमे एक बड़ा दोष है, जिससे मेरी प्रीति कभी-कभी कुछ थोड़ी देर के लिए कम हो जाती है। समाजवाद, साम्यवाद, आदि के झमेले मे पड़ गये हैं। इससे यहाँ के अध्यापकों और छात्रों मे इन नये प्रकार की दलबंदियों के उठ खड़े होने का भय है; और, अन्यथा भी, यहाँ के काम मे विघ्न होता है। मैंने इनको कई बार समझाने का यत्न किया कि सत्य वर्णाश्रम धर्म के रूप को स्वयं समझिये और इस संस्था मे तथा बाहर भी उसके प्रचार का यत्न कीजिये; उससे और उसी से, जितने भी 'इज़म्', 'वाद', हैं, (सोशलिज़्म, कम्युनिज़म, मिलिटरिज़म, इम्पीरियलिज़म, प्रोलिटेरियनिज़म, इक्वालिटेरियनिज़म इंडिविडयुअलिज़म, आदि) जो मानवमात्र को घोर भ्रम, विवादविरोध, विनाशकारी संग्राम में डाल चुके, और डाल रहे हैं, उन सबका समन्वय सम्वाद केवल एक 'इज़म',

extremism, को, आत्यंतिकता को, छोड़ देने से हो जायगा; सब वादों का जो लक्ष्य है, वह न्याययुक्त उचित मात्रा मे सबको मिल जायगा; अर्थात् अधिकांश सुख और अल्पांश दुःख। पर उन्होंने इस ओर ध्यान नहीं दिया; यहाँ अध्यापकों और अध्यापिकाओं से और इनसे भी पुनः प्रार्थना करता हूँ कि, आप सब लोग इस बात पर गम्भीर विचार करें। कई वर्ष हुए श्री नरेन्द्रदेव जी ने मुझको एक अंग्रेजी पुस्तक पढ़ने को दी; उसकी सूची से यह विदित हुआ कि समाजवाद 'सोशलिज्म' के बावन भेद उसमें वर्णित हैं। पढ़ने लगा; कठिनाई से आधी पुस्तक पढ़ी; उन भेदों के सूक्ष्म-सूक्ष्म लक्षण समझ मे नहीं आते थे; मस्तिष्क चक्कर खाने लगा; पुस्तक मैने इनको लौटा दी। विपरीत इसके, वर्णाश्रम धर्म में कोई अवांतर भेद नहीं हैं, सीधे सादे सिद्धान्त हैं, और मानव जीवन की सब ग्रंथियों को सुलझा देते हैं, यदि उदार बुद्धि और विवेक से उनसे काम लिया जाय। "उत्तमं जन्मकर्मभ्यां, कर्मणैव तु मध्यमं, जन्मनैव तु मिथ्यैव,,वर्णवत्त्वं स्मृतं बुधैः"। "ब्रह्मचारी, गृहस्थश्च, वानप्रस्थो, यतिस्तथा, एते गृहस्थप्रभवाः, चत्वारः पृथग् आश्रमाः। सर्वेषां, अपि चैतेषां, वेद-श्रुतिविधानतः गृहस्थः उच्यते श्रेष्ठः, सः त्रीन् अन्यान् बिभर्ति हि। यस्मात् त्रयोऽन्याश्रमिणः, ज्ञानेनऽन्नेन चऽन्वहं, गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही"। इन मूल वाक्यों की विस्तीर्ण व्याख्या का यहाँ अवसर नहीं, अन्यत्र मैने की है।

एक और बात भी मैने श्री नरेन्द्र देव जी से कही है; और उन्होंने ध्यान देने को कहा भी है; अर्थात् टेक्स्ट बुक्स औफ़ सनातन धर्म का विश्वविद्यालय मे, तथा उसके अधीन सब संस्थाओं मे उपयोग। ऐसा हो जाने से भी बहुत काम निकलेगा।

एक अन्य मंत्री ने एक विद्यार्थी सभा मे थोड़े दिन हुए, दक्षिण के एक बड़े नगर मे कहा था कि विद्यार्थियों को सरकारी नौकरी ही लक्ष्य नहीं बनाना चाहिये। बहुत ठीक; पर यह भी तो बताइये कि क्या-

क्या लक्ष्य बनाने चाहियें, और उनकी साधने वाली शिक्षा भी दीजिये। पुरानी कहावत है,

कला बहत्तर पुरुष की, वा, मे दो सर्दार,
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार।

विदुर नीति मे 'अर्थकरी विद्या' की प्रशंसा की है। ऐसी विद्या, 'वोकेशनल ट्रेनिङ्' प्रत्येक विद्यार्थी की स्वाभाविक रुचि के अनुसार परमावश्यक है। हिन्दू कालेज की प्रबंध समिति ने इस बारे मे ध्यान दिया था। 'स्लाइड' अर्थात् बढ़ई, वर्धकि, का काम, 'क्ले-माडेलिङ्ग', मिट्टी के खिलौने बनाना, 'रिलिफ़ मैप', काठ के फलक पर, मिट्टी के भारत वा अन्य देश के, उभरे हुए मान चित्र बनाना, जैसा श्री शिव प्रसाद गुप्त जी के बनवाये भारत माता मंदिर मे, भारत का, मर्मर से, बना है। ऐसी शिक्षा से विशेष जीविका की आशा तो क्या हो सकती थी, पर उसका आशय यह था कि हाथों की कारीगरी और परिश्रम का अभ्यास छात्रों को हो जाय। एक संगीताध्यापक भी रक्खे गये थे। अब इस विश्वविद्यालय मे प्रायः १२५ भिन्न-भिन्न विषय सिखाये जाते हैं, उद्देश्य सब का यही है कि जीविका की उपयोगी यह सब शिक्षा हों, पर जहाँ तक मुझे पता है अधिकांश छात्रों को, शिक्षा समाप्त करने के बाद, किसी प्रकार की नौकरी ही की खोज होती है; कई कारणों से। अच्छा हो यदि यहाँ से शिक्षा पाये छात्रों का रजिस्टर रक्खा जाय और उनको अंतिम शिक्षा यह दी जाय कि जिस व्यापार मे लगो, उसकी सूचना रजिस्ट्रार को भेज दो। ऐसे रजिस्टर से, आगे चल कर, उपयोगी बातें निकलेंगी। हिन्दू कालेज मे, पहिले ऐसा एक 'ओल्ड बायज़ रजिस्टर' रक्खा जाता था। जीविकासाधनोचित शिक्षा के लिये तो कैरियर-मास्टर्स की आवश्यकता है, जैसे ब्रिटेन की सब शिक्षा संस्थाओं मे रक्खे जाते हैं। प्राचीन काल मे यह कार्य कुलपति और शिक्षक आचार्य करते थे। सब प्रान्तों और राज्यों से सहायता ली गई थी और संस्था सब हिन्दुओं के उपकार के लिये बनी थी, इसलिये आरम्भ से ही

यह यत्न किया गया था कि अध्यापक भी सब प्रान्तों से लिये जाँय और छात्र भी; और सब छात्र एक साथ छात्रावासों मे रहें, और एक साथ निरामिष भोजन करें। इस प्रकार से भी प्रान्तीयता भाव की कमी और भारतीय भाव की वृद्धि, की आशा थी। अनुषंगतः हिन्दी भाषा का ज्ञान भी सब प्रान्त के छात्रों को हो जाता था। स्कूल मे प्रतिदिन संस्कृत के वा अन्य अध्यापकों के साथ सब छात्र हार्गी हाल मे एकत्र होकर ईश्वरवंदना के स्तोत्र के कुछ श्लोकों का गान करते थे, फिर वह अध्यापक, धर्म और सदाचार विषयक छोटा सा प्रवचन करते थे, फिर अपने-अपने वर्गों मे जाकर पढ़ते थे, कालेज विभाग मे सप्ताह मे दो दिन सब छात्र, 'प्रभुनारायण हाल' मे पहिले घंटे मे एकत्र होते थे और उनको सनातन धर्म विषयक शिक्षा दी जाती थी, और शंकाओं का समाधान किया जाता था, यह कार्य मेरे जिम्मे था। आजकाल का अंग्रेजी पढ़ने वाला विद्यार्थी 'पोथी मे लिखा है, इसलिये मान लो', इतने से संतुष्ट नहीं होता, उसको वैज्ञानिक हेतुओं से समझाना चाहिये, 'reasons for the law', बताना चाहिये, स्वयं ऋषियों का आदेश है, 'हेतुभिर्धर्ममन्विच्छेत् , न लोकं विरसं चरेत्'। सच बोलो, चोरी मत करो; क्यों ? झूठ बोलने से, चोरी करने से ऐसे-ऐसे दोष, यह-यह हानि अपने जीवन मे भी, और सामाजिक जीवन मे भी, उत्पन्न होती है। श्री मालवीय जी स्वयं कभी-कभी गीता पर भाषण दिया करते थे और कुछ समय तक एक धर्मोपदेशक भी रक्खे गये थे। पर जहाँ तक मुझे विदित हुआ है, छात्रों को उन व्याख्यानो और उपदेशों मे रस कम था। स्कूल विभाग मे तो स्यात् ऐसा भी प्रबंध नहीं था, यद्यपि वहाँ अधिक प्रयोजन था; 'यन्नवे भाजने लग्नः (सः) संस्कारो नऽन्यथा भवेत्'।

और भी कई बातें हिन्दू कालेज मे आरम्भ की गईं। जहाँ तक मुझे विदित है, भारत मे 'बाय स्काउटस', 'गर्ल गाइडज', 'कैडेट कोर' का आरम्भ, श्रीमती बेसेंट के उपदेश से, डाक्टर ऐरंडेल ने और मिस् ऐरंडेल ने इस संस्था मे आज से पैंतालिस वर्ष पहिले किया। दो-दो सौ

छात्रों को, एक सा वस्त्र, 'यूनिफ़ार्म', पहिनाकर सैनिक 'ड्रिल', कराई जाती थी। 'नाइट स्कूल' छात्रों द्वारा, आरम्भ किये गये, आस पास के लड़कों को, जो अपने पिता माता के साथ दिन मे किसी मिहनत मज़दूरी मे लगे रहने के कारण, स्कूल मे नहीं पढ़ सकते थे, साक्षर बनाने का यत्न किया गया। सन् १९०३ मे 'गर्ल्स स्कूल' खोला गया; उस समय काशी मे स्यात् दो-तीन अन्य बालिका पाठशाला हों। 'हिन्दू गर्ल्स स्कूल' मे, आरम्भ मे, २५–३० लड़कियाँ थीं अब प्रायः सात आठ सौ हैं; दूर-दूर के नगरों से आती हैं; छात्रावास मे सैकड़ों रहती हैं, स्कूल से सम्बद्ध अब विमेन्स कौलेज भी विश्वविद्यालय के उपनगर मे बन गया है। उसकी देखा देखी बालिकाओं की शिक्षा की चाह नगर मे बढ़ी; म्युनिसिपल गर्ल्स स्कूल बहुत हो गये हैं, जिनमे स्यात् कई सहस्र कन्या शिक्षा पाती हैं। मुसल्मान घरों की भी, जहाँ पर्दा बहुत था।

पं० छेदा लाल जी छात्रावास के अवैतनिक अध्यक्ष थे, उनके प्रबंध से छात्रावासी विद्यार्थियों मे, खान-पान मे परस्पर अस्पृश्यता का भाव बहुत कुछ दूर हो गया। अंग्रेज़ी पढ़ों मे, काल के प्रवाह से, समग्र देश मे बहुत कम हो गया है, और असवर्ण कहलाने वाले विवाह भी सहस्रों हो गये और होते जाते हैं; जो स्यात् सदा विवेक-पूर्ण नहीं होते। गुण के साथ दोष लगा ही रहता है।

बाल-विवाह रोकने के लिये, प्रबंध समिति ने नियम बना दिया था कि विवाहित लड़का स्कूल विभाग मे लिया ही न जाय, और कालेज मे दूनी फ़ीस दे तो भरती हो। अब तो देश की दशा मे इतना परिवर्तन हो गया है, कि कालेज और विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद भी कई-कई वर्ष तक, आर्थिक कारणों से, विवाह नहीं होता; तथा कन्याएँ कुमारी ही वृद्ध होने लगी हैं।

एक अन्य मंत्री ने अभी थोड़े दिन हुए, उत्तर प्रदेश के एक नगर मे छात्रों की सभा मे कहा कि विद्यार्थियों को 'पालिटिक्स' मे नहीं

पड़ना चाहिए। ठीक है; विद्यार्थियों को राज-शास्त्र का अध्ययन करना, और अपनी कृत्रिम पार्लियामेंट मे, नियम संयम से, बिना क्षोभ और क्रोध के, वाद-विवाद का अभ्यास करना चाहिये। याद रहे कि ऐसी कृत्रिम पार्लियामेंट का भी आरम्भ, भारत मे, इसी हिन्दू कालेज मे, श्रीमती बेसेंट ने कराया, इसी उद्देश्य से कि आगे चलकर, स्वराज की विधान सभाओं मे काम करने योग्य हों। उन्होंने 'होमरूल' का शब्द महात्मा गांधी से कई साल पहिले, देश को सुनाया, और इसके कारण, कई महीना नीलगिरि पर्वत पर नजरबंद रक्खी गईं।

बहुत सी बातों मे साम्प्रत शासकों की दृष्टि और प्रयत्न अच्छे हैं, और आर्थिक और शैक्षिक उन्नति के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ भी उन्होंने बनाई हैं। पर कहाँ तक सफल होंगी इसमे बहुत संदेह होता है। आयोजनों को कार्यान्वित करने वालों के आचरण संदिग्ध होने के कारण; अभी थोड़े दिन हुए पंजाब मे सवा सौ करोर रुपये के व्यय के अनुमान से भाकरा बांध का आरम्भ हुआ; उसके विषय मे समाचार पत्रों मे और स्यात् केन्द्रीय विधान सभा मे भी, अपव्यय और चोरियों की शिकायत की गई थी। मुझे आक्रोश यही है कि हमारे शासकों और बहुतेरे प्रतिनिधियों की नीति, दूरदर्शिनी और संग्राहक, सब गुण दोषों को विचारने वाली, नहीं है। धर्मात्मता, विधिविधाता, को बहुज्ञ बहुश्रुत होना चाहिये।

पौराणिक शिक्षाप्रद कथानक है कि ऋषियों ने सर्व मानव वंश के आदि पितामह मनु से प्रार्थना की, कि मनुष्यों के हितकारी धर्म हमको सिखाइये, क्योंकि 'सर्वज्ञानमयो हि सः'; इस विधान से क्या सत्फल होंगे, दुष्फल निकलेंगे, तत्काल में और दूर चलकर भविष्य मे, वे इसको पहचानते थे। आजकाल, इसी देश के नहीं, प्रायः सभी देशों के विधान-कल्पक, 'तदात्वे' को देखते हैं, 'आयत्या' को नहीं; 'आयत्यां च, तदात्वे च' दोनों का अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये। 'परिणतिरवधार्या यत्नतः पंडितेन'।

छात्रों को, सक्रिय वास्तविक 'पालिटिक्स' से बचने का एक प्रकार अभी कहा; दूसरा इससे भी अच्छा है। यदि शास्ता और शासित राजा और प्रजा मे, शिक्षक और शिष्य मे, परस्पर स्नेह, मैत्री, विश्वास, हितैषिता, एक ओर दया दूसरी ओर आदर हो, तो इस प्रकार के संकट उत्पन्न ही न हों जिनमे संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन काल मे सम्राट् अशोक के समय मे, अर्वाचीन काल मे रानी दुर्गावती के गोंडवाना राज्य मे, रानी अहल्याबाई के इंदोर राज्य मे, रानी लक्ष्मीबाई के झाँसी राज्य मे, ऐसा ही था। और भी राजा और रानी भारत मे निश्चयेन ऐसे हुए होंगे; पर उनका इतिहास लुप्त हो गया है। पुराने हिन्दू कालेज मे अध्यापकों अध्येताओं मे परस्पर भाव ऐसे ही थे। ऐसों से शिक्षा पाना विद्यार्थी अपना सौभाग्य समझते थे; अब तो स्यात् कितने ही समझते होंगे कि हम फ़ीस देते हैं, अध्यापक वेतन पाते हैं, क्या हम मुफ़्त मे पढ़ते हैं ?

सब का निष्कर्ष यह है कि हिन्दू कालेज की स्थापना का आदर्श कहिये, लक्ष्य, उद्देश्य कहिये, एक मात्र सर्वसंग्राही, यह था कि औपनिषद् वेदान्त के सनातन तथ्यों पर प्रतिष्ठित सनातन धर्म, अर्थात् 'कर्मणा वर्णः' और 'वयसा आश्रमः' के अनुसार वर्णाश्रम धर्म का प्रचार और प्रसार किया जाय, और जीर्ण-शीर्ण हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज का जीर्णोद्धार किया जाय। इसी से भारत का सब प्रकार का कल्याण होगा और स्वराज्य सच्चा बनेगा। इसी धर्म का अपनी स्मृति मे प्रतिपादन करते हुये आदि धर्मात्मता, आदि प्रजापति, भगवान् मनु ने कहा,

"धर्म एव हतो हंति, धर्मो रक्षति रक्षितः,
तस्माद्धर्मो न हंतव्यो, मा नो धर्मो हतो वधीत्।"

इसी धर्म के पुनः-पुनः संस्थापन के लिये, कृष्ण ने कहा, "संभवामि युगे युगे।" इसी के लिये कौरव पांडवों को अन्योऽन्य विनाश करने से

रोकने के लिये वेदव्यास ने कहा, "धर्माद् अर्थश्च, कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते ।" इसी के लिये रामचंद्र ने कहा--

दुःखेनऽयं निर्मितो धर्मसेतुः, यत्नेनैवं रक्षणीयो भवद्भिः ;
नत्वा सर्वान् भाविनो भूमिपालान् , भूयो भूयो याचते रामभद्रः।

इसी के लिये बुद्ध देव ने, जिनको सब हिन्दू विष्णु का अवतार मानते हैं, कहा—"प्रसारय धर्मध्वजं, प्रपूरय धर्मशंखं, प्रताड़य धर्मदुंदुभिं, धर्मं कुरु, धर्मं कुरु, धर्मं कुरु ।"

भीष्म

"भीष्मपितामह के दोष पहिले मैने दिखाये—फिर भा उनके लिये मन मे आदर बना ही है—कारण यह कि उनका हृदय बहुत कोमल था—और अट्ठावन दिन रात शरशय्या पर पड़े रह कर उन्होंने प्रायश्चित्त किया, उस अपराध का, जो उन्होंने लाखों मनुष्यों को मार कर किया था—यद्यपि यह क्षत्रिय का धर्म है कि जो शत्रु के रूप मे सामने, युद्ध करने आवै, उसे मारना ही चाहिये, तौ भी मनुष्य की हत्या तो हुई ही—इसलिये प्रायश्चित्त करना उचित जाना—जब भीष्म ने कहा कि बहुत पीड़ा हो रही है, तब दुर्योधनादि दौड़ कर शल्य-चिकित्सा-कुशल वैद्यों को बुला लाये, पर भीष्म जी ने नहीं कर दिया—फिर कहा कि 'शिरो मे लम्बते', सिर मेरा लटकता है, इससे पीड़ा होती है—पुन: दुर्योधनादि दौड़ कर रेशमी कौशेयवेष्टित मृदुतूलादि (रूई) भरे उपधान (तकिया) लाये—पुनः नहीं कर दिया 'अर्जुन उपाय करैगा'—अर्जुन ने ऐसी कुशलता से पृथ्वी मे तीन बाण मारे कि सिर ऊँचा हो गया—पुन: कहा, "मुह सूख रहा है, प्यास लगी है—पुन: दुर्योधन-पक्षीय लोग दौड़े और शीतल सुगंध पानी, सोने की झारियों मे, भर लाये—'नहीं, अर्जुन ही पिलावैगा', अर्जुन ने पुन: एक बाण पृथ्वी मे ऐसी कुशलता से मारा, कि शीतल जल की धारा ठीक भीष्म के खुले मुख मे पड़ी—इस रीति से, अन्यत्र, दिन भर पांडव और कौरव युद्ध करते रहे—संध्या समय भीष्म के पास आते थे—भीष्म के चारो ओर प्रहरी खड़े कर दिये थे; कि उनके पास कोई न आवे—जब युद्ध समाप्त हो गया' सब कौरव मार डाले गये, तब सब पांडव उनके पास आये—भीष्म ने कृष्ण का स्मरण किया—उनको विदित हुआ कि 'भीष्म मेरा स्मरण कर रहा है'—गये—भीष्म से पहिले 'राजधर्म' कहलाया, युधि-

ष्ठिर के प्रश्नों के उत्तर रूप मे, पुन: 'मोक्ष धर्म' का—यही 'शांति पर्व' भारत का सार है—मनुष्य के व्यावाहारिक तथा नै:श्रेयसिक जीवन की उपयोगी सब उत्तमोत्तम बातें लिखी हैं—यद्यपि कृष्ण स्वयं इनका उपदेश भीष्म से बहुत अच्छा कर सकते थे, यत: सर्वज्ञ थे, जो भीष्म नहीं थे, पर उनको भीष्म को यश दिलाना था, अत: उनके मुख से कहलाया—एवं 'अष्टपंचाशतं रात्र्य: मम वर्षसमा: गता:'—अट्ठावन रात मुझे एक वर्ष के तुल्य जान पड़ती है'—तत्पश्चात् कृष्ण से अनुमति ले कर, योग से प्राणों को ब्रह्मरंध्र की ओर चढ़ाया—ज्यों ज्यों ऊपर चढ़े त्यों त्यों बाण स्वयं निकल कर गिर जाते थे—अंत मे एक ज्योति शरीर से निकली, सूर्य मे मिल गई—पुन: वसुओं मे जा कर अष्टम वसु हो गई ।

---

२. 'घृतात्परं मंडमिवामि सूक्ष्मं'

एक उपनिषत् मे ऊपर लिखा वाक्य मिलता है—कई कोषों मे देखा—सर् मोनियर् विलियम के बृहत्तम कोष मे देखा—यही मिला कि—घी को देर तक उबालने से 'स्कम्' (Scum) उतराता है। स्कम् का अर्थ 'काई' भी है (जैसी, गन्दे तालाबों के पानी पर हरी-हरी भर जाती है) और फाँफी भी है—इससे संतोष नहीं हुआ; संतोष, नव्वाब वाजिद अली शाह के बावर्ची के द्वारा मिला। सभी जानते हैं कि जब नवाब साहब लखनऊ के तख्त से उतार कर कलकत्ते मे नज़रबंद किये गये, तब उनको बारह लाख रुपये प्रति वर्ष पिंशन् दी जाने लगी। इतने से क्या होता ? सात सौ 'महल' अर्थात् बेगमै आप के साथ गयी थीं। ख़र्च नहीं चलता था। गवर्नर जनरल को, जो पास ही कलकत्ते मे रहते थे, लिखवा भेजा, कि या तो पिंशन बढ़ाइये या कोई ऐसा मोतबर आदमी भेजिये जो मेरे ख़र्च मे मुनासिब तख़फ़ीफ़ करै—राय बहादुर बल्देव बख्श, पिंशनयाफ्त: डिप्टी कलक्टर, प्रसिद्ध ईमान्दार सज्जन थे, भेजे गये। सब चीजों के प्रमुखों को बुला कर पूछा। प्रधान बावर्ची ने कहा, "सवा मन घी रोज़ लगता है, नवाब साहब के लिये चार पाँच पूरियां उतारने के लिये"—बल्देवबख़्शजी घबराये, "यह क्या ? चार पाँच पूरियों के लिये तो छटाँक डेढ़ छटाँक घी बहुत है; ख़ैर पाँच सेर लिया करो," "बहुत अच्छा"। दूसरे दिन रायबहादुर की नव्वाब साहब के सामने फिर तलबी हुई—"क्यों जनाब, आपने ख़र्च मे कमी करने का यही तरीक़ा सोचा कि मेरे खाने पर ही हाथ साफ़ किया ?" "हुज़ूर मैने क्या क़ुसूर किया ?"—बावर्ची से जो बात हुई थी सुना गये। वाजिद अली बोले "आप को क्या मालूम ? जब सवा मन घी दो तीन घंटे खूब उबाला जाता है, तब उसमे घी की

रूह, छटाँक डेढ़ छटाक ऊपर उतराती है, उसमे चार पाँच पूरियाँ उतारी जाती हैं, उनमें जो खुशबू और ज़ायक़ा रहता है, वह मामूली घी मे उतारी पूरियों मे नहीं रहता।" "तो हुज़ूर मेरा इस्तेफ़ा, मै और कोई दूसरा तरीक़ा तख़फ़ीफ़ का नहीं सोच सकता हूँ"। बल्देव बख्शजी काशी वापस आये। मेरे पिताजी और उनसे बहुत मित्रता थी—वाराणसी के अन्य सैकड़ों भले आदमियों से भी, यतः बड़े सज्जन थे। इस प्रकार से मुझे 'घृतात्परं मंडं' का ठीक अर्थ जान पड़ा।

कालिदास

"कालिदास, कालिदास, कालिदास" का डिंडिम पंडित मण्डली मे बहुत है—पश्चिम के यूरोपीय विद्वानो मे भी—"ऐसा कवि तो, न भूतो न भविष्यति"—इतनी अधिक प्रशंसा के योग्य कालिदास जी नहीं। इनके समान, दो-चार इनसे भी अच्छे, कवियों के ग्रंथ मैं ने कई-कई बार पढ़ा है, यथा अमरचन्द्र का रचा 'बालभारतं'। 'उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवं, नैषधे पदलालित्यं, माघे संति त्रयो गुणा:'। सो, माघ, के 'शिशुपाल वध' पहिले दो सर्गों मे, भारवि के 'किरातार्जुनीय' के पहिले पाँच सर्गों मे ही है, आगे तो अश्लीलता भरी है, और चित्रकाव्य भी, जो नितान्त व्यर्थ है। यह ठीक है कि कालिदास की कविता मे अश्लीलता बहुत कम है, किन्तु कहीं-कहीं है ही, यथा मेघदूत मे, "ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः", तथा रघुवंश के आठवें सर्ग मे, अज-विलाप मे, 'सुरतश्रमसंभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते'; भार्या का शव गोद मे पड़ा है, और सुरत का स्मरण अज को होता है, और श्रम क्यों ? क्या 'पुरुषायित' कराया था ? यह सब बीभत्स कर दिया है। ऐसे ही नैषध के अन्तिम अध्यायों मे, "नल का वक्षस्थल इतना विशाल था कि दमयंती की भुजा उसके चारो ओर नहीं जा सकती थी, एवं दमयंती के स्तन भी इतने विशाल थे कि नल के बाहु दमयंती को भुजाओं के भीतर नहीं ला सकते थे—यह सब अतिरञ्जन के दोष हैं।

और भी कई दोष हैं—महाभारत मे, जो मूल कथा, दुष्यन्त और शकुन्तला की है, उसका तो गंधमात्र भी कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलं' मे नहीं है। दुर्वासा का शाप और अंगुलीयक के खो जाने की बात, तथा मेनका का शकुन्तला को स्वर्ग मे ले जाना और मरीचि ऋषि को

सौंपना, उनका बालक सर्वदमन को, रक्षार्थ गंडा पहिना देना, यह सब महाभारत में कुछ नहीं है। और भी, मरीचि महोदय ने गंडे को यह शक्ति दे दी थी कि भरत के पिता को छोड़ कोई दूसरा पुरुष इसको उठावै, तो यह साँप होकर उसे काट ले। वह पुरुष तो उपकार कर रहा था, उसको साँप से कटवा कर मार डालना अद्‌भुत घोर कृतघ्नता है। उसका पाप तो महर्षि महोदय के ही सिर पर चढ़ैगा, न ?

यह सब दोष-दर्शन, जगत्सम्मानित व्यक्तियों का क्यों ? तो, जैसे पहिले कहा, 'हिन्दूदास' की अन्धश्रद्धा, मूढ़ग्राह, को कम करने के लिये, और स्वतन्त्र विचार के उद्बोधन के लिये।

कुछ असंभाव्य बातें

यों तो लिखने को बहुत है, कहाँतक लिखा जाय, महाभारत मे सर्वथा असंभाव्य बातें बहुत लिखी हैं, कथानक रोचक बनाने के लिये; उन सबका समाधान व्यासजी ने स्वयं कर दिया है, 'मनसा काल्पितेन च', इन शब्दों से, अर्थात् , इस विशाल-काय ग्रंथ मे ऐतिहासिक तथ्य तो थोड़ा है, काल्पनिक मिथ्या बहुत है। तौ भी, दो बातें ऐसी हैं जिनके विषय मे लिखना उचित जान पड़ता है। (१) एक तो अक्षय्य इषुधी-संबंधी। स्पष्ट कहा है कि केवल अर्जुन के पास थे; किंतु युद्ध मे दोनों पक्ष के महारथ अर्जुन सरीखे ही सौ-सौ और पाँच-पाँचसौ और सहस्र-सहस्र बाण, विशेषकर कर्ण, एक साथ छोड़ते थे। केवल एक बार यह लिखा है कि कर्ण ऐसा नहीं कर सके, अर्थात् , जब अंतिम युद्ध कर्ण और अर्जुन का हुआ तब, कर्ण ने शल्य से कहा कि मेरे पास अक्षय्य इषुधी नहीं हैं, सो, तुम ऐसा प्रबंध कर दो कि आठ शकट (छकड़े) बाण भरकर मेरे साथ चलें। शल्य ने ऐसा ही प्रबंध कर दिया। (२) दूसरी बात इसी कर्ण और अर्जुन के अंतिम युद्ध से संबद्ध है। परशुराम ने कर्ण को शाप दिया था कि जब तुम्हारा अंत समय आवैगा तब मेरी सिखाई अस्त्र-विद्या तुम सब भूल जाओगे, केवल शस्त्रों से काम ले सकोगे, यथा धनुः और बाण, असि, भाला, आदि, क्योंकि क्षत्रिय होते हुए तुमने अपने को ब्राह्मण मुझे बताया था। ऐसा ही हुआ; अब नितांत अद्भुत, परमाश्चारक बात यह है, कि, जब कर्ण धनुर्बाण से युद्ध करने लगा, उसी समय, पृथ्वी फटी और उसमे कर्ण के रथ का एक चक्र धँस गया, पुनः पृथ्वी जुट गई, और चक्र फँसा रहा। कर्ण ने बहुतेरा बल लगाया उसको निकालने का; जब नहीं निकला तब उसको बलपूर्वक पकड़कर आकाश मे उछला, और "स-सागर-वना च उर्वी हि उत्क्षिप्ता

चतुरंगुलं ।" सब पृथ्वी, सागर, वन, सब पर्वतों सहित, चार अंगुल ऊँची उठ गयी ! इस नितांत असंभाव्य बात का कुछ रहस्य अर्थ होना चाहिये, और है ! विष्णुभागवत मे ध्रुव के उपाख्यान मे कहा है कि छः वर्ष के बालक ध्रुव की उग्र तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने उसे वर दिया, "छत्तीस सहस्र वर्ष तुम उत्तरी ध्रुव पर राज करोगे, फिर दक्षिणी ध्रुव पर राज करनेवाला जीव यहाँ आवैगा, तुम्हारा मोक्ष हो जावैगा" । पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी निर्णय किया है, कि छत्तीस हज़ार वर्ष मे उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के बीच का अक्ष (अंग्रेज़ी 'ऐक्सिस्') प्रायः चार इन्च अपने दक्षिण की ओर हटता है, तब पृथ्वी पर बड़े उथल पुथल होते हैं, जैसा अभी हमारी आंखों के सामने हुआ; प्रायः पच्चीस वर्ष हुए, क्वेटा मे पाँच सौ फुट ऊँचा पर्वत भूमि मे धँस गया, फिर निकलकर जैसा था वैसा हो गया; सन् १९३५ मे भागलपुर और उसके आस-पास, तथा नेपाल मे भारी भूकम्प हुआ, प्रायः तेरह चौदह सहस्र मनुष्य मरे, पुनः सन् १९३५ मे बड़ा भूकम्प हुआ, पुनः आसाम मे, इत्यादि; सन् १९३५ के भूकम्प मे दरभंगा प्रांत की सब नदियाँ सूख गईं, उनके स्थान मे बालुकामय मरुस्थल हो गया; शव जलाने को लकड़ी नहीं, तब श्रोत्रिय मैथिल ब्राह्मणो ने भी शवों को मरुस्थल मे गाड़ देना आरंभ किया; अब धीरे-धीरे पुनः नदियाँ बहने लगीं । ऐसा उथल-पुथल प्रशांत महासागर मे अक्सर हुआ करता है; नये टापू निकल आते हैं, पुराने ग़ायब हो जाते हैं ।

निश्चयेन ऐसा ही भूकम्प कर्ण के मृत्यु के समय हुआ; पृथ्वी फटी, उसमे रथ का चक्र फँस गया, कर्ण ने बहुत ज़ोर लगाया, नहीं निकला; तब वह आकाश मे उछला; क्या होता है ? चक्र फँसा ही रहा । शल्य ने कर्ण को चेतावनी दी । "तुम्हारा शर, अर्जुन की ग्रीवा को नहीं पावैगा, कर्ण ने दर्प से कहा "कर्णो द्विर्नैव संधत्ते", कर्ण दो बार निशाना नहीं साधता; बात दोनो की ठीक ही थी; कृष्ण ने, कुशलता से, दोनो

पैर बड़े बल से रथ के उपस्थ पर पटके, रथ के अगले पहिले दस-बारह अंगुल पृथ्वी मे धँस गये, घोड़े घुटनो के बल भूमि पर गिर पड़े, कर्ण का बाण, अर्जुन का किरीटमात्र लेकर चला गया, अर्जुन के बाण ने कर्ण की ग्रीवा काटकर सिर को धड़ से अलग कर दिया।

अश्वत्थामा, कृप और कृतवर्मा, की कथा पहिले कह चुके हैं; तथा भीष्म पितामह के युधिष्ठिर के प्रश्नो के उत्तरों से राजधर्म और मोक्ष-धर्म के आदेश उपदेश, जोही बृहत् महाभारत ग्रंथ के सार हैं।

ॐ। इति; ग्रन्थ समाप्त हुआ। ॐ

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु। ॐ